16.4

गीतायोग

(महाभारत, भीष्मपर्व, २३-४० [श्रीमदभगवद्गीता] की व्याख्या)

विद्यानन्द 'विदेह'

वेद - संस्थान,
अजमेर

रु बारह

॥ ओ३म् ॥

श्रीमती सरला तथा श्री जगदेव चौधरी

के आत्मज्

चिरंजीव योगेश

एवम्

आयुष्मती स्मिता

(सुपुत्री श्रीमतो शारदा एब श्री एम.एल. मेहता)

के

पाणिग्रहण

(10-11-89)

की पावन बेला पर

चौधरी परिवार की सप्रेम भेंट

संस्थानप्रकाशन-संख्या : ६०

गीतायोग

(महाभारत, भीष्मपर्व, २३-४० [श्रीमद्भगवद्गीता] की व्याख्या)

स्वामी विद्यानन्द 'विदेह'

वेद-संस्थान,
अजमेर (भारत)

द्वितीय संस्करण : ज्येष्ठ, २०३५ वि : जून, १९७८ ई
(अब तक कुल ४,००० प्रतियां मुद्रित)

卐

बारह रुपए

प्रकाशक : वेद-संस्थान, बाबू मोहल्ला, ब्यावर रोड, अजमेर—३०५ ००१
मुद्रक : प्रिण्ट हाउस, अजमेर

प्राक्कथन

गीता नाम के ग्रन्थ अनेक हैं। किन्तु उन सबमें *श्रीमद्भगवद्गीता* की इतनी अधिक प्रतिष्ठा है कि जनता 'गीता' नाम से साधारणतया उसे ही *गीता* समझती है। *गीतायोग* में भी पाठक *गीता* शब्द से *श्रीमद्भगवद्गीता* ही समझें।

बाइबिल के बाद *गीता* ही एक ऐसा ग्रन्थ है जिसका संसार की सर्वाधिक भाषाओं में अनुवाद हुआ है। संसार की सबसे अधिक भाषाओं में पढ़ा और समझा जाने वाला ग्रन्थ, निस्सन्देह, *बाइबिल* है किन्तु समस्त भाषाओं में उसका अनुवाद स्वयं ईसाइयों द्वारा और स्वयं ईसाइयों के व्यय पर ही किया गया है। केवल *गीता* को यह गौरव प्राप्त है कि संस्कृत और हिन्दी के अतिरिक्त अन्य समस्त विदेशी विद्वानों ने उसका अनुवाद अपनी अपनी भाषा में स्वयं अपने अपने श्रम और अपने अपने व्यय से किया है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि *गीता* का सन्देश और *गीता* की प्रेरणा नैसर्गिक है और वास्तविक अर्थों में *गीता* ही सर्वाधिक भाषाओं में समादृत ग्रन्थ है।

स्वयं भारत में, हिन्दी, संस्कृत और अंगरेज़ी भाषाओं के अतिरिक्त अनपवादतः, समस्त भारतीय भाषाओं में अनेक टीकाकारों ने *गीता* की टीकाएं की हैं। विशेषता यह है कि जहां प्रत्येक भारतीय भाषा में उस पर असंख्य विद्वानों ने अपनी अपनी व्याख्याएं प्रकाशित की हैं वहां अब भी विद्वान् और विचारक उस पर लिखते चले जा रहे हैं। संसार के पुस्तकालय में जितना साहित्य आज अकेली *गीता* पर उपलब्ध है उतना अन्य किसी पुस्तक पर संभवतः उपलब्ध नहीं है। अभी और कितना साहित्य *गीता* पर प्रकाशित होना है, यह भविष्यवाणी कर सकना नितान्त असम्भव है। *गीता* एक सर्वमान्य ग्रन्थ है।

गीता के विषय में एक अद्भुत बात यह है कि प्रत्येक सम्प्रदाय के विशिष्ट व्यक्तियों ने स्वतः आत्मप्रेरणा से *गीता* का अनुवाद अपनी अपनी भाषा में किया है और सबने उसे अपने अपने सम्प्रदाय का न विरोधी पाया है, न अविरोधी। ईश्वर और धर्म से सम्बन्ध न रखने वाले विचारकों तक ने गीता का मान किया है और उस पर बोला और लिखा है। भारत का तो कोई ही प्रसिद्ध विद्वान् विचारक ऐसा होगा जिसने *गीता* पर लेखनी न उठाई हो।

फिर मैंने क्यों इस पर अपनी लेखनी उठाई है? प्रथम कारण तो मेरे प्रेमियों का आग्रह है। दूसरा कारण है मेरी अपनी भी यह धारणा कि

जिस ग्रन्थरत्न पर लिखकर इतनों ने अपनी लेखनी को सुधन्य किया है उस पर लिखकर मुझे भी अपनी लेखनी को कृतकृत्य करना चाहिए। तीसरा और सर्वप्रमुख कारण, जो मुझे यह ग्रन्थ लिखने के लिए प्रेरणा कर रहा था, था मेरा यह विश्वास कि यदि अपनी लेखनी द्वारा सरल और स्पष्ट रीति से *गीता* के वास्तविक आशय का दिग्दर्शन जनता को कराने में मैं सफल होगया तो वह वेद की बड़ी भारी सेवा होगी। भारत की कोटि-कोटि जनता *गीता* पढ़ती और सुनती है। *गीता* प्रकारान्तर से वैदिक दर्शन का भाष्य है। उसे उसके सही रूप में प्रस्तुत करके मैं *गीता* के द्वारा वैदिक दर्शन का प्रचार और प्रसार कर रहा होऊंगा।

अपने *गीता* के भाष्य में वेदों के विद्वान्, श्री आर्यमुनि ने यह सिद्ध करने में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है कि *गीता* एक विशुद्ध वैदिक ग्रन्थ है। उनके मत में *गीता* में केवल परमात्मा के चतुर्भुज रूप की कल्पना अवैदिक है, शेष सब वेदानुकूल है। श्री आर्यमुनि अब इस भूतल पर नहीं हैं। यदि होते तो मैं उनसे निवेदन करता कि वेद के *यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू* (ऋग्वेद १०.१२१.४) शब्द इस एक शङ्का का भी निवारण कर देते हैं। चारों दिशाओं में व्यापक होने से चारों दिशाएं प्रभु की बाहुरूप हैं।

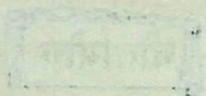
जिन्होंने चारों वेदों का अध्ययन वा अनुशीलन तो दूर, उनका पारायण तक नहीं किया है, उनका यह कहना है कि *गीता* वेदविरुद्ध है, कुछ अर्थ नहीं रखता। जब वेदों का एक विद्वान् यह स्वीकार करता है कि *गीता* वेदानुकूल है तो वह पूरा अर्थ रखता है।

अन्य ग्रन्थों के समान *गीता* के साथ भी बहुत खींचा-तानी की गई है। मैंने यहां *गीता* पर जो कुछ लिखा है वह सब *गीता* के शब्दों में है और *गीता* के आशयानुसार है। मेरी यही नीति वेद के सम्बन्ध में रही है। जिस शब्द से जो स्वाभाविक ध्वनि निकलती है उसी ध्वनि में बोलना और लिखना मेरा स्वभाव है। किसी भी ग्रन्थ के किसी भी शब्द की स्वाभाविक ध्वनि से तनिक भी इधर उधर होना मैं जघन्य पाप और भयङ्कर अनाचार समझता हूं।

विद्यानन्द 'विदेह'

विषय-क्रम


गीतायोग



गीतायोग

गीता के अधिकांश भाष्यकारों ने *गीता* के पात्रों के नामों के यौगिक अर्थ करके *गीता* का अर्थ अपनी अपनी मान्यता के अनुसार किया है। संस्कृत में प्रत्येक नाम का यौगिक अर्थ किया जा सकता है। यदि इस परम्परा को रोका न गया तो भारतीय इतिहास का मूल ही नष्ट हो जाएगा। *महाभारत* एक ऐतिहासिक ग्रन्थ है और उसके पात्र ऐतिहासिक पुरुष हैं। *गीता* महाभारत का अङ्ग है। *गीता* में उल्लिखित पात्र *महाभारत* के ऐतिहासिक पुरुष हैं। *गीता* नितान्त सरल और सुस्पष्ट ग्रन्थ है।

पहला अध्याय

धृतराष्ट्र उवाच

१ धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ।१

धृतराष्ट्र ने पूछा, '(सम्-जय) संजय ! (धर्म-क्षेत्रे कुरु-क्षेत्रे) धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में (सम्-अव-इताः) एकत्र हुए (युयुत्सवः) युद्धाभिलाषी (मामकाः) मेरे पुत्रों ने (च एव) अपि च (पाण्डवाः) पाण्डु के पुत्रों ने (किं) क्या (अकुर्वत) किया ?'

धृतराष्ट्र का प्रश्न और उसमें निहित जिज्ञासा स्वाभाविक है। धृतराष्ट्र और पाण्डु के पुत्रों में युद्ध होने जा रहा है। दोनों ओर की सेनाएं युद्धक्षेत्र में एक दूसरे के अभिमुख सुसज्ज खड़ी हुई हैं। पिता के हृदय में अपने पुत्रों की विजय और उनके योगक्षेम की आकांक्षा होती ही है। दोनों ही पक्ष युद्धाभिलाष से युक्त होकर रणक्षेत्र में प्रविष्ट हुए हैं। धृतराष्ट्र युद्ध में अपने पुत्रों की स्थिति जानना चाहते हैं। अन्ध धृतराष्ट्र सनेत्र संजय से आंखों-देखा वर्णन सुनना चाहते हैं। वे बोले, 'संजय, मुझे बताओ, युद्ध की इच्छा से धर्मक्षेत्र कुत्रक्षेत्र में एकत्र हुए, मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या क्या किया ?'

कुरु का अर्थ है कर, और क्षेत्र का अर्थ है मैदान। जिसमें कुरु, कर, युद्ध कर, *विजय* कर, ऐसी भावना से जाते हैं उसे कुरुक्षेत्र कहते हैं। जिस क्षेत्र में प्रविष्ट होकर कुरु, कर, युद्ध कर, *विजय* कर, कर वा मर, ऐसी भावनाएं उत्पन्न होती हैं उसे कुरुक्षेत्र कहते हैं। उभय पक्षों ने इसी भावना से उस क्षेत्र को युद्धार्थ चुना था, इसी लिए उन्होंने उस क्षेत्र का नाम कुरुक्षेत्र ठीक रखा

था। किन्तु धृतराष्ट्र उस क्षेत्र को धर्मक्षेत्र बता रहा है, यह कैसी विलक्षण बात है ! जिस रणक्षेत्र में धर्मयुद्ध लड़ा जाता है वह धर्मक्षेत्र होता है। कुरुक्षेत्र का विशेषण *धर्मक्षेत्र* प्रयुक्त करके धृतराष्ट्र अपने पुत्रों के पक्ष को धर्म्य और उनके युद्ध को धर्मयुद्ध सिद्ध कर रहा है। २.३३ में

अथ चेत् त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि।

अर्जुन से यह कहकर उधर कृष्ण पाण्डुपुत्रों के पक्ष को धर्म्य और उनके युद्ध को धर्मयुद्ध बता रहे हैं।

दोनों ही अपने अपने पक्ष को धर्म्य और उस युद्ध को धर्मयुद्ध कह रहे हैं। दोनों पक्ष धर्म्य नहीं हो सकते और न दोनों का युद्ध धर्मयुद्ध हो सकता है। *महाभारत* में ही दोनों पक्ष अपने अपने पक्ष को धर्म्य और युद्ध को धर्मयुद्ध बता रहे हों, ऐसी बात नहीं है। संसार में सदा से ही ऐसा चला आ रहा है कि युद्धरत दोनों ही पक्ष अपने अपने पक्ष को धर्म्य तथा न्याय्य सिद्ध करने का यत्न करते हैं। संसार के सम्पूर्ण इतिहास में एक भी उदाहरण ऐसा न मिलेगा जिसमें कभी किसी पक्ष ने अपने को अधर्म्य और अन्याय्य स्वीकार किया हो। वेद ने इस शाश्वत सत्य को बड़ी सुन्दरता के साथ व्यक्त किया है,

त्वां जना ममसत्येष्विन्द्र संतस्थाना वि ह्वयन्ते समीके।
अत्रा युजं कृणुते यो हविष्मान् नासुन्वता सख्यं वष्टि शूरः।

ऋग्वेद १०.४२.४, अथर्ववेद २०.८९.४

(इन्द्र) प्रभो ! (जनाः) लोग (मम-सत्येषु) मम-सत्यों में [अपने अपने पक्षों को सत्य बताते हुए] (सम्-ईके) संग्राम में (सम्-तस्थानाः) संस्थित होकर (त्वाम्) तुझे (वि ह्वयन्ते) पुकारते हैं। प्रभु (अत्र) यहां [उसी को] (युजम्) युक्त (कृणुते) करता है (यः) जो (हविष्मान्) हविःमान् है, स्वाहाकारी है, बलिदान की भावना से युक्त है। (शूरः) शूर (अ-सुन्वता) कायर के साथ (सख्यम्) मित्रता [करना] (न वष्टि) नहीं चाहता है।

युद्ध में प्रत्येक पक्ष अपने को निर्दोष और दूसरे को दोषी बताता हुआ विजयार्थ प्रभु की सहायता मांगता है। प्रभु किसकी सहायता करे ? जो हविःमान् है उसकी, जिसकी जीवनहवि शुद्ध है उसकी, जो वास्तव में धर्म पर है और धर्म की स्थापनार्थ अपना सर्वस्व स्वाहा करता है उसकी। अपने पक्ष को सत्य सिद्ध करने में मानवसमाज को धोखा दिया जा सकता है किन्तु अन्तर्यामी प्रभु तो अन्तरतम की वस्तुस्थिति को जानते होते हैं।

संजय उवाच

२ दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ।२

संजय बोला, '[जब दोनों ओर की सेनाएं रणक्षेत्र में युद्धार्थ संस्थित होगईं] (तदा तु) तब तो (राजा दुः-योधनः) राजा दुर्योधन ने (वि-ऊढम् पाण्डव-अनीकम्) व्यूहरचनामय, पाण्डवों की सेना को (दृष्ट्वा) देखकर (आ-चार्यम् उप-सम्-गम्य) आचार्य [द्रोण] के समीप जाकर (वचनम् अब्रवीत्) निवेदन किया ।'

३ 'पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ।३

(आ-चार्य) आचार्य ! (तव) तेरे (धी-मता शिष्येण द्रुपद-पुत्रेण) बुद्धिमान् शिष्य, द्रुपदपुत्र [धृष्टद्युम्न] द्वारा (वि-ऊढाम्) व्यूहस्थ (पाण्डु-पुत्राणाम्) पाण्डुपुत्रों की (एताम् महतीम् चमूम्) इस बड़ी सेना को (पश्य) देखो ।

४ 'अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ।४

'(अत्र) यहां (युधि) युद्ध में (महा-इषु-आसाः) विशाल धनुषोंवाले (भीम-अर्जुन-समाः) भीम-अर्जुन जैसे (शूराः) शूर [हैं, यथा,] (युयुधानः) सात्यकि (च) और (विराटः) विराट (च) तथा (महा-रथः द्रुपदः) महारथ द्रुपद ।

५ 'धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित् कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ।५

'(धृष्ट-केतुः) धृष्टकेतु, (चेकितानः) चेकितान (च) और (वीर्य-वान् काशि-राजः) पराक्रमी काशिराज; (पुरु-जित्) पुरुजित् (च) और (कुन्ति-भोजः) कुन्तिभोज (च) तथा (नर-पुम्-गवः शैब्यः) मनुष्यों में श्रेष्ठ शैब्य ।

६ 'युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ।६

'(वि-क्रान्तः युधा-मन्युः) महावीर युधामन्यु (च) और (वीर्य-वान् उत्तम-ओजाः) पराक्रमी उत्तमौजा (च) और (सौ-भद्रः) सुभद्रा का पुत्र [अभिमन्यु] (च) तथा (द्रौपदेयाः) द्रौपदी के पांच पुत्र [जो कि] (सर्वे एव) सभी (महा-रथाः) महारथ [हैं] ।

७ 'अस्माकं तु विशिष्टा ये तान् निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ।७

'(द्विज-उत्-तम्) द्विजश्रेष्ठ [आचार्य] ! (अस्माकम् तु) हमारे तो (ये) जो (वि-शिष्टाः) विशिष्ट [वीर हैं] (तान्) उनको (नि-बोध) जानो । (ते) तेरी

(सम्-ज्ञा-अर्थम्) जानकारी के लिए, (मम) मेरी (सैन्यस्य) सेना के [जो] (नायकाः) नायक [हैं] मैं (तान्) उन्हें (ब्रवीमि) बताता हूं।

८ 'भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ।८

'(भवान्) आप (च) और (भीष्मः) भीष्म (च) और (कर्णः) कर्ण (च) और (सम्-इतिम्-जयः कृपः) संग्रामजेता कृपा (च) और (तथा एव) वैसे ही (अश्व-त्थामा) अश्वत्थामा, (वि-कर्णः) विकर्ण (च) और (सौम-दत्तिः) सोमदत्त का पुत्र [भूरिश्रवाः]।

९ 'अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्ध विशारदाः ।९

'(च) और (बहवः अन्ये) बहुत से अन्य (शूराः) शूर [हैं जो] (मत्-अर्थे) मेरे लिए (त्यक्त-जीविताः) जीवनोत्सर्ग करनेवाले, जीवन न्योछावर करने वाले [हैं, जो] (नाना-शस्त्र-प्र-हरणाः) विविध शस्त्रों के चलाने वाले हैं [और जो] (सर्वे) सब (युद्ध-वि-शारदाः) युद्ध-कुशल [हैं]।

१० 'अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ।१०

'(भीष्म-अभि-रक्षितम्) भीष्म द्वारा रक्षित (अस्माकम्) हमारा (तत्) वह (बलम्) बल (अ-परि-आप्तम्) अ-पर्याप्त [है]। (भीम-अभि-रक्षितम्) भीम द्वारा रक्षित (एतेषाम्) इन [पाण्डवों] का (तु) तो (इदम्) यह (बलम्) बल (परि-आप्तम्) पर्याप्त [है]।

जिन्होंने *महाभारत* का अनुशीलन किया है वे जानते हैं कि कौरवों की ओर के महारथों और उनकी सेनाओं का योगबल पाण्डवों की ओर के महारथों और उनकी सेनाओं के योगबल की अपेक्षा कहीं अधिक था। इस दृष्टि से कौरवों का बल पर्याप्त, और पाण्डवों का बल अपर्याप्त होना चाहिए। पर यहां फिर भी दुर्योधन अपना बल अपर्याप्त, और पाण्डवों का बल पर्याप्त बता रहा है। यह विचारणीय है।

एक बार एक मोहल्ले के कुमार ने दूसरे मोहल्ले के एक कुमार से कबड्डी का मैच निश्चय कर लिया। यह तय पाया कि दोनों पार्टियां अपने अपने मोहल्ले के दस दस खिलाड़ी लाएंगी। नियत दिन, नियत समय पर जब मैच आरम्भ हुआ तो लोगों ने देखा कि एक ओर केवल पांच खिलाड़ी हैं और दूसरी ओर दस। पांच खिलाड़ी दूसरी पार्टी के दस खिलाड़ियों की अपेक्षा डील-डौल में कुछ हलके ही थे। बड़ी पार्टी के कैप्टेन, किशोर ने कहा, 'तुम पांच ही हो, पांच खिलाड़ी और बुलाओ।' छोटी पार्टी के कैप्टेन, धीर ने कहा, 'हम पांच ही

काफ़ी [पर्याप्त] हैं।' एक घण्टे कबड्डी का मैच हुआ। धीर की पार्टी तीन पालों [गोलों] से विजयी हुई। तब लोगों की समझ में आया कि पांच खिलाड़ी दस खिलाड़ियों के लिए क्यों पर्याप्त थे। धीर की पार्टी में शेष चार खिलाड़ी धीर के छोटे सहोदर भाई थे। चारों धीर के संकेतों और आदेशों का तत्परता के साथ पालन करते थे। धीर की पार्टी अनुशासित थी। किशोर की पार्टी अनुशासनविहीन थी। अतः संख्या में अधिक होने पर भी वह अपर्याप्त सिद्ध हुई।

महाभारत के पढ़नेवाले जानते हैं कि कौरव-पक्ष के महारथों में न परस्पर सौहार्द था, न मतैक्य। प्रत्येक अपने को श्रेष्ठ और दूसरे को तुच्छ समझता था। उनमें आपस में ईर्ष्या-द्वेष था। प्रत्येक महारथ दुर्योधन के दुर्व्यवहार और उसकी अशालीनता से खिन्न था। दूसरी ओर था परस्पर पूर्ण सौहार्द, मतैक्य, मर्यादापालन, अनुशासन, शालीनता और भद्र व्यवहार। उधर न धृतराष्ट्र के नेतृत्व का आदर था, न भीष्म पितामह का सत्कार था, न गुरु द्रोण का मान था। इधर थे सब एक, अनन्य नेता के नेतृत्व से आत्मना सम्बद्ध। दुर्योधन इस बात को अच्छी तरह जानता था। इसी लिए वह अपने बल को अपर्याप्त, और पाण्डवों के बल को पर्याप्त बता रहा था।

११ 'अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि।'११

'(च) अतः (भवन्तः सर्वे एव हि) आप सबके सब (सर्वेषु अयनेषु) समस्त मोर्चों पर (यथा-भागम् अव-स्थिताः) यथाभाग अवस्थित होकर (भीष्मम् एव) भीष्म को/की अवश्यमेव (अभि-रक्षन्तु) सर्वतः रक्षा करें।'

यहां युद्धारम्भ होने से पूर्व ही दुर्योधन भीष्म की सुरक्षा के विषय में चिन्तित प्रतीत होता है। भीष्म अपने समय के अद्वितीय, वृद्ध, अनुभवी, वीर योद्धा थे। दोनों दलों में उनके जोड़ का अन्य कोई न था। सब जानते थे कि भीष्म को युद्ध में परास्त वा हनन करने वाला उस समय कोई जन्मा न था। फिर दुर्योधन को भीष्म की चिन्ता क्यों हुई, यह प्रश्न यहां उपस्थित होता है।

वास्तव में भीष्म का शरीर धृतराष्ट्र के पक्ष में स्थित था, पर हृदय पाण्डवों के साथ था। इस बात को दुर्योधन अच्छी प्रकार जानता था। ऐसी ही कुछ स्थिति स्वयं द्रोणाचार्य की थी। कौरव और पाण्डव, दोनों ही द्रोणाचार्य के शिष्य थे। किन्तु आचार्य को अर्जुन पर सर्वाधिक गर्व था। वे अपने समस्त शिष्यों में अर्जुन को सर्वोत्कृष्ट मानते थे और उसी को सबसे अधिक प्यार करते थे। द्रोण का भी आत्मा पाण्डवों के योगक्षेम में सन्निहित था, यद्यपि उनका शरीर धृतराष्ट्र की अधीनता में था।

कारण स्पष्ट है। भीष्म और द्रोण, दोनों ही धर्मज्ञ और सुवीर थे। किन्तु वे एक सुदीर्घ काल से धृतराष्ट्र के अन्नभोजी थे। दोनों ही जानते थे कि दुर्योधन ने पाण्डवों के साथ बड़े अन्याय-अत्याचार किए थे। अतः वे दुर्योधन को आततायी समझते थे और उससे घृणा करते थे। दुर्योधन का साथ देना अधर्म था। दूसरी ओर धर्मसंकट था उस युग के एक युगधर्म का। शान्तिकाल में भीष्म और द्रोण, दोनों सदा छायावत् धृतराष्ट्र के साथ रहे थे। युद्ध का प्रसंग आने पर वे युधिष्ठिर की ओर जाकर कैसे खड़े हों, यह एक विकट धर्मसंकट था।

अपने ऐसे भाव भीष्म और द्रोण ने अवसर अवसर पर व्यक्त भी किए थे। दुर्योधन इस शिथिल अवस्था को पहचानता था। पर वह भीष्म और द्रोण को शत्रुपक्ष में जाने देने में अपना हित न देखता था। दुर्योधन के दल में सर्वोपरि चार महारथ थे, भीष्म, द्रोण, अश्वत्थामा, कर्ण। भीष्म और द्रोण की उपर्युक्त स्थिति थी। अश्वत्थामा पर द्रोण का प्रभाव स्वाभाविक था। दुर्योधन को पूरा भरोसा केवल कर्ण पर था। निस्सन्देह, कर्ण अर्जुन की अपेक्षा युद्धविद्या में कहीं अधिक निपुण था। इसी लिए दुर्योधन ने महाभारत में कर्ण को प्रारम्भ में ही युद्ध में नहीं झोंका, अपि तु उसे पीछे के लिए सुरक्षित रख छोड़ा था।

ये परिस्थितियां थीं जिनके कारण दुर्योधन सशंक होकर आचार्य से भीष्म की सुरक्षार्थ निवेदन कर रहा था। इन्हीं कारणों से संख्या की दृष्टि से उसका सैन्य बल अपेक्षाकृत कहीं अधिक होने पर भी पूर्व-श्लोक में दुर्योधन ने अपने बल को *अपर्याप्त* बताया था। दुर्योधन की चिन्ता स्वाभाविक थी। इस पर भी, ईर्ष्या-द्वेष और हठ-दुराग्रह के वशीभूत तथा बलवती आशा से चिपटा हुआ, दुर्योधन युद्ध का परित्याग नहीं कर सकता था। दुर्योधन की दृष्टि में परिणाम की भयंकरताएं नाच रही थीं। फिर भी परवश-सा वह विनाश की ओर बढ़ा चला जा रहा था। अनीति के अन्धकार में उसे दिखाई देते हुये भी दिखाई नहीं दे रहा था।

१२ तस्य सञ्जयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ।१२

(कुरु-वृद्धः प्र-ताप-वान् पिता-महः) कुरुवृद्ध, प्रतापी पितामह [भीष्म] ने (तस्य) उस [दुर्योधन] के (हर्षम्) हर्ष को (सम्-जनयन्) उत्पन्न करते हुए, (उच्चैः) उच्च घोष से (वि-नद्य) गर्जकर, (सिंह-नादम् शंखम्) सिंहनाद नामक शंख को (दध्मौ) बजाया।

१३ ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलो ऽभवत् ।१३

(ततः) तत्पश्चात् (शंखाः) शंख (च) और (भेर्यः) नक्कारे (च) और पणव-आनक-गोमुखाः) ढोल-मृदंग-नृसिंहे (सहसा) एका-एक, एक साथ (एव) ही (अभि-अहन्यन्त) बजने लगे । (सः) वह (तुमुलः) बहुत भयंकर (शब्दः) शोर (अभवत्) हुआ ।

१४ ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ।१४

(ततः) तदनन्तर (श्वेतैः हयैः युक्ते) श्वेत अश्वों से युक्त, (महति स्यन्दने) विशाल रथ में (स्थितौ, माधवः च पाण्डवः) स्थित, कृष्ण और अर्जुन ने (एव) भी (दिव्यौ शंखौ) दिव्य शंख (प्र-दध्मतुः) बजाए ।

मधु दानव का वधकर्त्ता होने से कृष्ण को *माधव* कहा है, और पाण्डु का पुत्र होने से अर्जुन को *पाण्डव* ।

१५ पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ।१५

(हृषीक-ईशः) कृष्ण ने (पाञ्च-जन्यम्) पांचजन्य [नामक शंख], (धनम्-जयः) अर्जुन ने (देव-दत्तम्) देवदत्त [नामक शंख], (भीम-कर्मा वृक-उदरः) भीमकर्मा भीम ने (पौण्ड्रम् महा-शंखम्) पौड्र [नामक] महाशंख (दध्मौ) बजाया ।

यहां कृष्ण का एक गुणवाचक नाम *हृषिकेश* आया है । हृषिकेश = हृषीक-ईश = इन्द्रिय-स्वामी = जितेन्द्रिय ।

अर्जुन के लिए *धनञ्जय* का प्रयोग हुआ है । धन नाम ऐश्वर्य और संग्राम का है । अतः *धनञ्जय* का अर्थ है ऐश्वर्यों का सम्पादन करनेवाला, संग्रामों को विजय करनेवाला । संग्रामों में विजय सम्पादन करने से ही धनैश्वर्यों की प्राप्ति होती है ।

'वृक' का अर्थ है भेड़िया और कौआ । दोनों प्राणी बहुभक्षी और तीव्र पाचनशक्ति से युक्त होते हैं । भीम बहुभक्षी था और उसका उदर भी तीव्र पाचनशक्ति से युक्त था । अतः भीम को वृकोदर कहा गया है ।

१६ अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ।१६

(कुन्ती-पुत्रः राजा युधि-स्थिरः) कुन्तीपुत्र, राजा युधिष्ठिर ने (अन्-अन्त-वि-जयम्) अनन्तविजय [नामक] शंख बजाया [और] (नकुलः च सह-देवः) नकुल और सहदेव ने (सु-घोष-मणि-पुष्पकौ) सुघोष और मणिपुष्पक [नाम के शंख बजाए] ।

१७ काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ।१७

(परम इषु-श्रासः काश्यः) परम धनुर्धर, काशिराज ने (च) श्रौर (महा-रथः शिखण्डी) महारथ शिखण्डी ने (च) श्रौर (धृष्ट-द्युम्नः) धृष्टद्युम्न ने (च) श्रौर (वि-राटः) विराट ने (च) श्रौर (श्र-परा-जितः सात्यकिः) श्रपराजित सात्यकि ने,

१८ द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान् दध्मुः पृथक् पृथक् ।१८

(पृथिवी-पते) राजन् ! (द्रुपदः) द्रुपद ने (च) श्रौर (द्रौपदेयाः) द्रौपदी के पुत्रों ने (च) श्रौर (महा-बाहुः सौ-भद्रः) महाबाहु, श्रभिमन्यु ने (सर्वशः) श्रपने श्रपने स्थान पर श्रवस्थित होकर इन सबने (शंखान्) शंखों को (पृथक् पृथक्) श्रलग श्रलग (दध्मुः) बजाया ।

१९ स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ।१९

(नभः च पृथिवीं च एव) श्राकाश श्रौर भूमि को (वि-श्रनु-नादयन्) गुञ्जाते हुए[शंखों के](सः तुमुलः घोषः) उस तुमुल घोष ने (धार्त-राष्ट्राणाम्) धृतराष्ट्र के पुत्रों के (हृदयानि) हृदयों को (वि-श्रदारयत्) विदीर्ण कर दिया ।

२० अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ।२०

(श्रथ) तदनन्तर (शस्त्र-सम्-पाते प्र-वृत्ते) शस्त्र-संचालन के ठीक श्रवसर पर (धार्त-राष्ट्रान्) धृतराष्ट्र के पुत्रों को (वि-श्रव-स्थितान्) व्यवस्थित (दृष्ट्वा) देखकर (कपि-ध्वजः पाण्डवः) कपिध्वज श्रर्जुन ने [श्रपने] (धनुः) धनुष को (उत्-यम्य) उठाकर,

२१ हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।
'सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मे ऽच्युत ।२१

(मही-पते) राजन् ! (तदा) तब (हृषीक-ईशम्) इन्द्रियेश—जितेन्द्रिय[कृष्ण] के प्रति (इदम् वाक्यम्) यह वाक्य (श्राह) कहा, '(श्र-च्युत) श्र-च्युत ! (मे रथम्) मेरे रथ को (उभयोः सेनयोः मध्ये) दोनों सेनाश्रों के मध्य में (स्थापय) स्थापन—खड़ा कर ।

२२ 'यावदेतान्निरीक्षे ऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ।२२

'(यावत्) ताकि (श्रहम्)मैं (एतान् श्रव-स्थितान् योद्धु-कामान्) इन व्यवस्थित युद्धाभिलाषियों को (निः-ईक्षे) देखलूं [कि] (श्रस्मिन् रण-सम्-उत्-यमे) इस

रण-समुद्यम में (मया) मुझे (कैः सह) किनके साथ (योद्धव्यम्) युद्ध करणीय [है]।

२३ 'योत्स्यमानानवेक्षे ऽहं य एते ऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः।'२३

'(अहं) मैं (अव-ईक्षे) देखूंगा उन (योत्स्यमानान्) योद्धाओं को (ये एते) जो ये (दुः-बुद्धेः धार्त-राष्ट्रस्य प्रिय-चिकीर्षवः) दुर्बुद्धि दुर्योधन का प्रिय चाहनेवाले (अत्र युद्धे) यहां युद्ध में (सम्-आ-गताः) आए हैं।'

२४ एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्।२४

(भारत) भरतवंशी—धृतराष्ट्र! (गुडाका-ईशेन) निद्रेश—जितनिद्र—अर्जुन द्वारा (एवम् उक्तः) इस प्रकार निवेदित (हृषीक-ईशः) कृष्ण ने (उभयोः सेनयोः मध्ये) दोनों सेनाओं के मध्य में (रथ-उत्-तमम्) उत्तम रथ को (स्थापयित्वा) स्थापित—खड़ा करके,

२५ भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच, 'पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनि'ति।२५

(भीष्म-द्रोण-प्र-मुखतः) भीष्म और द्रोण के अभिमुख (च) तथा (सर्वेषाम्-मही-क्षिताम्) सब राजाओं के अभिमुख (इति उवाच) ऐसा कहा, '(पार्थ) अर्जुन! (एतान् सम-वेतान् कुरून्) इन एकत्र कौरवों को (पश्य) देख।'

२६ तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान् मातुलान् भ्रातॄन् पुत्रान् पौत्रान् सखींस्तथा।२६

२७ श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।
तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान्।२७

२८ कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।
'दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्।२८

(अथ) अब (पार्थः) अर्जुन ने (उभयोः अपि सेनयोः) दोनों ही सेनाओं में (तत्र स्थितान्) वहां स्थित (पितॄन्) पिताओं को, (पिता-महान्) दादाओं को, (आ-चार्यान्) गुरुओं को, (मातुलान्) मामाओं को, (भ्रातॄन्) भ्राताओं को, (पुत्रान्) पुत्रों को, (पौत्रान्) पोतों को (तथा) तथा (सखीन्) सखाओं को, (श्वशुरान्) ससुरों को (च) और (सु-हृदः) मित्रों को (एव) भी (अपश्यत्) देखा। (तान् सर्वान् बन्धून्) उन सब बन्धुओं को (अव-स्थितान्) अवस्थित (सम्-ईक्ष्य) देखकर (सः कौन्तेयः) वह अर्जुन (परया कृपया) अतिशय मोह से (आ-विष्टः) मोहित होकर (वि-षीदन्) वेदना अनुभव करता

हुआ (इदम् अब्रवीत्) यह बोला, '(कृष्ण) कृष्ण ! (इमम् युयुत्सुम् सम्-उप-स्थितम् स्व-जनम्) इस युद्धाभिलाषी, सुस्थित स्वजनसमूह को (दृष्ट्वा) देख कर,

२९ 'सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ।२९

'(मम गात्राणि) मेरे अंग (सीदन्ति) शिथिल होरहे हैं (च) और (मुखम्) मुख (परि-शुष्यति) सूख रहा है । (च) और (मे शरीरे) मेरे शरीर में (वेपथुः च रोम-हर्षः) कम्प और रोमाञ्च (जायते) होरहा है ।

३० 'गाण्डीवं संस्रते हस्तात् त्वक् चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ।३०

'(गाण्डीवम्) गाण्डीव (हस्तात्) हाथ से (संस्रते) खिसक रहा है (च) और (त्वक्) त्वचा (परि-दह्यते एव) जल-सी रही है । (च अव-स्थातुम् न शक्नोमि) और मैं स्थित होने को असमर्थ होरहा हूं । (च) और (मे मनः) मेरा मन (भ्रमति-इव) घूम-सा रहा है ।

३१ 'निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयो ऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ।३१

'(च) और, (केशव) केशव ! मैं (नि-मित्तानि) लक्षणों को (वि-परि-इतानि) विपरीत (पश्यामि) देख रहा हूं । (च) और (आ-हवे) संग्राम में (स्व-जनम्) स्वजनसमूह को (हत्वा) मारकर (श्रेयः न अनु-पश्यामि) कल्याण नहीं देख रहा हूं ।

३२ 'न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ?३२

'(कृष्ण) कृष्ण ! मैं (न वि-जयम् कांक्षे) न विजय को चाहता हूं, (न च राज्यम् सुखानि च) और न राज्य और सुखों को । (गो-विन्द) गोविन्द ! (नः) हमें (राज्येन किम्) राज्य से क्या, (भोगैः वा जीवितेन किम्) भोगों वा जीवन से क्या ?

गो नाम है पृथिवी का, गौ का, वाणी का, वेद का, इन्द्रियों का । समस्त भूमण्डल का त्राणकर्ता, गौओं का पालक, सुभाषी, वेदविद् तथा जितेन्द्रिय होने से कृष्ण को गोविन्द कहते हैं ।

३३ 'येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमे ऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ।३३

'(येषाम् अर्थे) जिनके लिए (नः) हमें (राज्यम्) राज्य, (भोगाः) भोग (च) और (सुखानि) सुख (कांक्षितम्) कांक्षित [है] (ते इमे) वे ये (धनानि च प्राणान्) धनों और प्राणों को (त्यक्त्वा) त्यागकर (युद्धे) युद्ध में (अव-स्थिताः) स्थित हैं—

३४ 'आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ।३४

'(आ-चार्याः) गुरु, (पितरः) पिता, (पुत्राः) पुत्र (च) और (तथा एव) वैसे ही (पिता-महाः) दादा, (मातुलाः) मामा, (श्वशुराः) ससुर, (पौत्राः) पोते, (श्यालाः) साले (तथा) तथा (सम्बन्धिनः) सम्बन्धी जन ।

३५ 'एतान् न हन्तुमिच्छामि घ्नतोपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ।३५

'(मधु-सूदन) मधु [दानव] को मारने वाले ! (घ्नतः अपि) मारने पर भी, यदि ये हमें मारें तो भी, मैं (एतान्) इन्हें (त्रै-लोक्य-राज्यस्य हेतोः अपि) तीनों लोकों के राज्य के हेतु से भी (हन्तुम्) मारना (न इच्छामि) नहीं चाहता, (मही-कृते) पृथिवी के राज्य के लिए (नु) तो (किं) क्या !

३६ 'निहत्य धार्तराष्ट्रान् नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ?
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ।३६

'(जन-अर्दन) जनार्दन ! (धार्त-राष्ट्रान्) धृतराष्ट्र के पुत्रों को (नि-हत्य) मारकर (नः) हमें (का प्रीतिः) क्या प्रीति (स्यात्) हो ? (एतान् आ-तत-अयिनः) इन अत्याचारियों को (हत्वा) मारकर (अस्मान्) हमें (पापम् एव) पाप ही (आ-श्रयेत्) लगेगा ।

३७ 'तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ?३७

'(तस्मात्) अतः (वयम्)हम(स्व-बान्धवान् धार्त-राष्ट्रान्) स्वबान्धव, धृतराष्ट्रपुत्रों को (हन्तुम्) हननार्थ (न अर्हाः) योग्य नहीं [हैं] । (माधव) माधव ! हम (स्व-जनम् हत्वा) स्वजन को मारकर, (हि) भला, (कथम्) कैसे (सुखिनः) सुखी (स्याम) हों ?

३८ 'यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ।३८

'(यदि-अपि) यद्यपि (एते लोभ-उप-हत-चेतसः) ये लोभ से विनष्ट बुद्धिवाले (कुल-क्षय-कृतम् दोषम्) कुलनाश से होनेवाले दोष को (च) तथा (मित्र-द्रोहे पातकम्) मित्रद्रोह में पाप को (न पश्यन्ति) नहीं देख रहे हैं,

३९ 'कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निर्वर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ।३९

'(जन-अर्दन) जनार्दन ! (कुल-क्षय-कृतम् दोषम् प्र-पश्यद्भिः अस्माभिः) कुलनाशकृत दोष को देखनेवाले, हम लोगों द्वारा (अस्मात् पापात्) इस पाप से (नि-वर्तितुम्) निवृत्त होने के लिए (कथम् न ज्ञेयम्) कैसे जानने योग्य नहीं है ?

४० 'कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ।४०

'(कुल-क्षये) कुल का नाश होजाने पर (सना-तनाः कुल-धर्माः) सनातन कुलधर्म (प्र-नश्यन्ति) विनष्ट होजाते हैं (उत) और (धर्मे नष्टे) धर्म के नष्ट होने पर (कृत्स्नम् कुलम्) समस्त कुल को (अ-धर्मः)अधर्म (अभि-भवति) व्याप लेता है ।

४१ 'अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ।४१

'(वार्ष्णेय कृष्ण) वृष्णिवंशी कृष्ण ! (अ-धर्म-अभि-भवात्) अधर्म के व्यापने से (कुल-स्त्रियः) कुल की स्त्रियां (प्र-दुष्यन्ति) दूषित होजाती हैं। (दुष्टासु स्त्रीषु) स्त्रियों के दुष्ट हो जाने पर (वर्ण-सम्-करः) वर्णसंकर (जायते) उत्पन्न होता है ।

४२ 'संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ।४२

'(सम्-करः) संकर (कुल-घ्नानाम) कुलघातियों के (च) तथा (कुलस्य) कुल के (नरकाय एव) नरक के लिए ही[होता है] । (एषाम्) इनके (लुप्त-पिण्ड-उदक-क्रियाः) पिण्ड-उदकक्रिया-विहीन (पितरः) पिता, (हि) निश्चय से, (पतन्ति) गिर जाते हैं ।

४३ 'दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ।४३

'(एतैः वर्ण-सम्-कर-कारकैः दोषैः)इन वर्णसंकरकारक दोषों से(कुल-घ्नानाम्) कुलघातियों के (शाश्वताः जाति-धर्माः च कुल-धर्माः) शाश्वत जातिधर्म और कुलधर्म (उत्-साद्यन्ते) नष्ट होजाते हैं ।

४४ 'उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ।४४

'(जन-अर्दन) जनार्दन ! (उत्-सन्न-कुल-धर्माणाम् मनुष्याणाम्) नष्टकुलधर्म मनुष्यों का (नरके) नरक में (अ-नि-यतम् वासः) अनियत वास (भवति) होता है, हम (इति) ऐसा (अनु-शुश्रुम) सुनते आए हैं ।

४५ 'अहो बत महत् पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद् राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ।४५

'(अहो बत) ओह शोक ! (वयम्) हम (महत् पापम् कर्तुम्) महान् पाप करने को (वि-अव-सिताः) तत्पर [हैं], (यत्) जो (राज्य-सुख-लोभेन) राज्य और सुख के लोभ से (स्व-जनम्) स्वजन को (हन्तुम्) मारने को (उद्-यताः) उद्यत हैं ।

४६ 'यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ।' ४६

'(यदि) यदि (माम् अ-प्रती-कारम् अ-शस्त्रम्) मुझ, प्रतीकार न करनेवाले, निःशस्त्र को (शास्त्र-पाणयः धार्त-राष्ट्राः) धृतराष्ट्र के शस्त्रहस्त पुत्र (रणे) रण में (हन्युः) मार डालें [तो] (तत्) वह (मे) मेरे लिए (क्षेम-तरम्) क्षेमतर (भवेत्) होवे ।'

४७ एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः । ४७

(एवम् उक्त्वा) ऐसा कहकर (शोक-सम्-विग्न-मानसः अर्जुनः) शोक से आतुर-मन अर्जुन (सम्-ख्ये) युद्धक्षेत्र में (स-शरम् चापम्) सशर धनुष को (वि-सृज्य) छोड़कर (रथ-उप-स्थे) रथ के पृष्ठभाग में (उप-अविशत्) बैठ गया ।

दोनों सेनाओं के मध्य में स्थिर होकर अर्जुन देखता है कि दोनों ही ओर की सेनाओं के प्रमुख महारथ उसके अपने ही गुरु जन तथा सगे-सम्बन्धी हैं । इस दृश्य को देख कर अर्जुन पर जिन भावनाओं का प्रभाव पड़ा और उसे जिन विचारों ने मोहित किया उसका चित्रण प्रथम अध्याय के श्लोक २६-४७ में किया गया है । ये सब ही श्लोक अतिशय सरल और स्पष्ट हैं । उन श्लोकों में जो विशेष विचारणीय स्थल हैं, यहां उन पर ही प्रकाश डाला जाएगा ।

२६-३७ श्लोकों में अर्जुन की भावना यह है कि अपने गुरु जनों तथा सगे-सम्वन्धियों को मारकर जो विजय और राज्यश्री प्राप्त होगी वह सुख-दायिनी न होगी ।

३८-४७ श्लोकों में अर्जुन ने जो चिन्ता व्यक्त की है वह, निस्सन्देह, गहन और चिन्तनीय है । अर्जुन का कहना है,

१ यह युद्ध कुलक्षयकृत् सिद्ध होगा । वीरों के मारे जाने से कुल के कुल नरों से विहीन और पुरुषशून्य हो जाएंगे ।
२ नरों के नष्ट होजाने पर कुलधर्म [वंशपरम्पराएं, कुलाचार] नष्ट हो जाएंगे ।
३ वंशपरम्पराओं के नष्ट होने से वंश अधार्मिक [अनैतिक—दुराचारी] बन जाएंगे ।
४ वंशों के दुराचारी होने पर कुलनारियां दूषित [दुश्चरित्रा, व्यभि-चारिणी] हो जाएंगी ।
५ दूषित नारियों से जो पुत्र उत्पन्न होंगे वे वर्णसंकर होंगे ।

६ वर्णसंकर पुत्र कुल के नरक का कारण होंगे ।

७ वर्णसंकर पुत्र पिण्ड-उदकक्रियां का त्याग करेंगे और, परिणामस्वरूप, उनके पिता गिर जाएंगे ।

साधारण युद्धों में सामान्यतया और महाभारत जैसे विश्वयुद्ध में विशेषतया नरों [युवा पुरुषों] का संहार होता है। नरों के संहार से युवति नारियां बहुत अधिक संख्या में विधवा हो जाती हैं । युद्ध में अविवाहित कुमार युवकों के मारे जाने से कुमारी युवतियों के लिए युवा वरों [पतियों] का प्राप्त होना दुष्कर हो जाता है । कुलीन, शालीन कन्याओं के लिए कुलीन, शालीन कुमारों का मिलना दुर्लभ हो जाता है । अनमेल विवाह होने लगते हैं । परपुरुषगमन और परस्त्रीगमन होने लगता है । *स्वेन पत्या तन्वं सं स्पृशस्व*, अपने पति से ही शारीरिक सम्पर्क कर, और *स्वेन पत्न्या तन्वं सं स्पृशस्व*, अपनी पत्नी से ही अपने शरीर को सम्पृक्त कर, ये वैदिक मर्यादाएं भंग होने लगती हैं । परम्परागत कुलमर्यादाओं और वंशानुगत कुलसंस्कारों का लोप होने लगता है । परिणामस्वरूप, सारे समाज में व्यभिचार और भ्रष्टाचार व्याप जाता है । नारियां शृंगार, अश्लीलता और निर्लज्जता की ओर प्रवृत्त होने लगती हैं । पुरुष कामी और असंयमी हो जाते हैं । इस भ्रष्ट वातावरण में जो सन्तान उत्पन्न होती है वह भ्रष्ट, विषयी और लम्पट होती है । पुत्रियां खुलकर व्यवहार करती हैं और पुत्र वर्णसंकर होते हैं । व्यभिचार, असंयम और अमर्यादा से जो पुत्र उत्पन्न होते हैं उन्हें *वर्णसंकर* कहते हैं ।

यहां यह विचारणीय है कि केवल पुत्र ही क्यों वर्णसंकर होते हैं, पुत्रियां वर्णसंकरा क्यों नहीं होती हैं । यद्यपि फल में भूमि का अंश पूर्णतया होता है किन्तु फल में गुण पूर्णतया बीज के ही होते हैं । *वर्ण* नाम विशेष गुणों का है । ब्राह्मण में जो ब्राह्मणत्व के गुण होते हैं वे ब्राह्मण पिता से ही प्राप्त होते हैं । क्षत्रिय में जो क्षात्रत्व के गुण होते हैं वे क्षत्रिय पिता से ही प्राप्त होते हैं । इस प्रकार, वर्णत्व पुरुष की निधि है और शरीरसम्पदा स्त्री की सम्पत्ति है । इसी कारण युद्ध के परिणामस्वरूप जो दुरवस्था व्यापती है उससे स्त्रियां अपतिव्रता [दुराचारिणी] हो जाती हैं और पुरुष वर्णसंकर हो जाते हैं ।

मुख्य वर्ण दो ही हैं, ब्रह्म और क्षत्र अथ वा ब्राह्मण और राजन्य । यजुर्वेद (२२. २२) में राष्ट्र के लिए ब्राह्मण और राजन्य [क्षत्रिय] की ही कामना की गई है । यजुर्वेद ३२.१६ में भी ब्रह्म और क्षत्र की ही प्रार्थना है । चारों वेदों में वैश्यत्व और शूद्रत्व के लिए न कहीं कामना की गई है, न प्रार्थना । ब्रह्म और क्षत्र उत्कर्षपरक हैं, जब कि वैश्यत्व तथा शूद्रत्व केवल

व्यवसायजनक हैं। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय, ये दो वर्ण राष्ट्र के गुण तथा उत्कर्ष के बढ़ानेवाले हैं। वैश्य तथा शूद्र, ये दो वर्ण राष्ट्र की अर्थव्यवस्था के माध्यम हैं। ब्रह्म और क्षत्र राष्ट्र में धर्म की रक्षा करते हैं। वैश्य और शूद्र राष्ट्र के अर्थ की वृद्धि करते हैं। ब्रह्म और क्षत्र ऊर्ध्व वर्ण हैं। वैश्य और शूद्र निम्न वर्ण हैं।

युद्ध में विशेषतया ब्रह्म और क्षत्र का ह्रास होता है। ब्रह्म और क्षत्र के ह्रास से जातिजन विषयासक्त और अर्थलोलुप होजाते हैं, जिससे कुलललनाओं में अनाचार और कुललालों में वर्णसंकरता [ब्रह्मक्षत्रविहीनता, अमर्यादा] व्याप जाती है। चारों वर्णों में वर्णत्व मुख्यतया पुरुष का ही है। इसलिए शर्मा की पत्नी किसी भी वर्ण-कुल की हो, वह 'श्रीमती शर्मा' कहलाएगी। वर्मा की पत्नी किसी भी वर्ग की क्यों न हो, 'श्रीमती वर्मा' ही पुकारी जाएगी।

अब रहा वर्णसंकर पुत्र का कुल के नरक का कारण होना और पिण्ड-उदकक्रिया के लोप से पिताओं का गिरना। नरक का अर्थ है दुःख। वर्णसंकर पुत्र कुलपोषक न होकर कुलघातक होता है, वर्णसंकर पुत्र सुखदायी न होकर दुःखदायी होता है, यह प्रत्यक्ष ही है।

पिण्ड का अर्थ है अन्न, भोजन और उदक नाम है जल का। *पितृ* का अर्थ है पालन-पोषण करनेवाला, पिता, जनक। *पितृ* का बहुवचन है *पितरः*, जिसके अर्थ हैं पिता, माता, दादा, दादी, आदि, पालन-पोषण करनेवाले गुरु जन। *पितृयज्ञ* (माता, पिता, आदि का भोजन और जल से आतिथ्य करना) उपलक्षण से सेवा का भाव रखता है। पिताओं [माता, पिता, आदि, गुरु जनों] की सेवा करना मर्यादापालक पुत्रों का पुनीत कर्तव्य माना गया है। वर्णसंकर पुत्र न तो पिताओं की सेवा करते हैं, न उनका सत्कार करते हैं और न उनकी आज्ञा का पालन करते हैं। पिताओं का जो सम्मानास्पद पद है, पिता उस पद से गिर जाते हैं। *स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु*, हमारे माता, पिता के लिए सुख सत्कार हो, इस वैदिक मर्यादा के विपरीत माता, पिता तिरस्कृत और दुःखी रहने लगते हैं।

जो अर्जुन इतने उत्साह के साथ एक सुदीर्घ काल से युद्ध की तयारी तथा प्रतीक्षा करता आरहा था वही अर्जुन ठीक युद्धारम्भ में विषाद [दुःख, त्रास, संमोह] को क्यों प्राप्त होगया? जो शस्त्रहस्त अर्जुन शस्त्रों की झंकार से प्रहर्षित होता था वही अर्जुन शास्त्रियों की सी बातें क्यों करने लगा? वीर अर्जुन दार्शनिकों की सी बातें क्यों बनाने लगा? मोटी दृष्टि से, अर्जुन का उपर्युक्त कथन युक्तिसंगत प्रतीत होता है पर इस कथन की सारहीनता दूसरे अध्याय की व्याख्या में प्रकट होगी।

अर्जुन के विषाद का वर्णन होने से इस अध्याय का नाम *विषादयोग* है। *विषाद* योग की प्रथम सीढ़ी है अथ वा पृष्ठभूमि है। विषाद से ही योग का अंकुर अंकुरित होता है। विषाद योग का बीज है। वट के छोटे-से बीज से एक छोटा-सा अंकुर प्रस्फुटित होता है और वही अंकुर कालान्तर में सुविशाल वटवृक्ष बन जाता है। इसी प्रकार, विषादबीज से योग का जो सूक्ष्म अंकुर प्रस्फुटित होता है वही आरोहण करता हुआ सुविशाल योगवृक्ष बनता है। जब तक विषाद नहीं होता तब तक मनुष्य योगारूढ़ नहीं होता। जिसे जितना गहन विषाद होता है उतनी ही तीव्र गति से वह योग में प्रवृत्त होता है और उतनी ही शीघ्र वह योग में सिद्धि प्राप्त करता है। बीज के बिना वृक्ष नहीं होता। वैसे ही, विषाद के बिना योग नहीं होता। इसी लिए गीता-योग का आरम्भ विषादयोग से हुआ है। प्रत्येक योगी के योग का आरम्भ विषाद से ही हुआ है और होगा।

दूसरा अध्याय

सञ्जय उवाच

४८ तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ।१

संजय ने धृतराष्ट्र से कहा, '(तथा) उस प्रकार (कृपया आ-विष्टम्) करुणा से आप्लावित (अश्रु-पूर्ण-आ-कुल-ईक्षणम्) अश्रुपूर्ण-व्याकुल-नेत्र, (वि-सीदन्तम्) विषादयुक्त (तम्) उस [अर्जुन] के प्रति (मधु-सूदनः) मधु [दैत्य]को मारने वाले, कृष्ण ने (इदम् वाक्यम्) यह वाक्य (उवाच) कहा।'

श्रीभगवानुवाच

४९ 'कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ?२

भगवान् [कृष्ण] ने [अर्जुन से] कहा, 'अर्जुन ! (इदम् अन्-आर्य-जुष्टम् अ-स्वर्ग्यम् अ-कीर्ति-करम् कश्मलम्) यह अनार्यसेवित, नारकीय, अकीर्तिकर मोह (वि-समे) विषम स्थान में, विकट अवसर पर (त्वा) तुझे (कुतः) कहां से (सम्-उप-स्थितम्) आ उपस्थित हुआ ?

धन, ऐश्वर्य, धर्म, मेधा, यश, सौन्दर्य, वैराग्य, विवेक, संयम, योग और मोक्ष को सम्प्राप्त को *भगवान्* कहते हैं। इन सब गुणों से युक्त होने के कारण

कृष्ण को भगवान् कहा जाता है। ऐश्वर्यशाली, धर्मात्मा, मेधावी, यशस्वी, सुन्दर, वैराग्यवान्, विवेकी, संयमी, परम योगी तथा जीवन्मुक्त होने से कृष्ण को 'भगवान् कृष्ण' कहना सर्वथा युक्त है। इन सब गुणों से युक्त होने के कारण ही राम को भी 'भगवान् राम' कहते हैं।

अर्जुन को विषादयुक्त देखकर कृष्ण कहते हैं, 'अर्जुन ! अब जब कि युद्धार्थ दोनों ओर की सेनाएं आमने-सामने एक दूसरे पर आक्रमण करने के लिए सन्नद्ध खड़ी हैं, तू युद्ध करने से इन्कार करता है। तेरा यह व्यवहार न आर्योचित है, न सुखद है, न कीर्तिकर है।'

सचमुच, वह बड़ी विकट परिस्थिति थी। प्रत्यक्षतः, अर्जुन का वह व्यवहार अनार्य, दुःखद और अकीर्तिकर था। और इस पर कृष्ण ने प्रश्न किया, 'अर्जुन ! इस विषमावसर पर यह अनार्य, दुःखद और अकीर्तिकर मोह तुझे आ कहां-से गया ?' इस प्रश्न का उत्तर अर्जुन ने *गीता* में कहीं नहीं दिया है।

जो अर्जुन इस युद्ध के लिए चिर काल से प्रतीक्षा कर रहा था, जो अर्जुन सशस्त्र, सन्नद्ध होकर कृष्ण के सारथित्व तथा नेतृत्व में बड़े उत्साह के साथ युद्धक्षेत्र में उतरा था वही अर्जुन सहसा साहस छोड़कर कहता है, 'कृष्ण ! मैं युद्ध नहीं करूंगा।' मोह का वह एक नाटकीय दृश्य था। तभी तो कृष्ण सहसा अर्जुन से यह प्रश्न कर बैठते हैं, *कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्*, इस विषम परिस्थिति में तुझे यह मोह कहां से प्राप्त होगया ? अर्जुन ने इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया, न सही। हमें इस प्रश्न का उत्तर देना चाहिए।

अर्जुन कोरा वीर न था। वह धार्मिक वृत्ति का सरल, सहृदय और भावुक वीर था। जिन्होंने *महाभारत* का अनुशीलन किया है उन्हें पता है कि अर्जुन की भावुकता और सहृदयता से लाभ उठाने के लिए धृतराष्ट्र ने संजय को अर्जुन से एकान्त में मिलने के लिए भेजा था। संजय ने मनोविज्ञान से काम लिया। प्रथम उसने अर्जुन से दुर्योधन की भरपेट निन्दा की। संजय ने दुर्योधन को महामूढ़, अदूरदर्शी, कुलघाती, अविवेकी, अधर्मात्मा और अन्यायी कथन किया। तत्पश्चात् संजय ने अर्जुन की श्लाघा करते हुए कहा, 'अर्जुन ! तू तो विचारशील, विवेकी, दूरदर्शी, ज्ञानी और धर्मात्मा है। दुर्योधन हित-अहित को नहीं विचार सकता तो तू तो विचार सकता है।' अर्जुन संजय के प्रति प्रीतिमान् और प्रभावित होगया। जादू शिर पर चढ़ गया। तब संजय ने अर्जुन को वैराग्य और विवेक से भरा हुआ उपदेश दिया। अपने उस उपदेश में संजय ने अर्जुन से जो जो और जिस प्रकार की बातें

कही थीं ठीक वह वह और उसी प्रकार की सब बातें अक्षरशः अर्जुन ने युद्धावसर पर दोनों सेनाओं के मध्य में कृष्ण से कह डालीं। उन सब बातों का उल्लेख अर्जुन द्वारा *गीता* के प्रथम अध्याय में किया जा चुका है और इस दूसरे अध्याय में आगे किया जाएगा।

संजय का वह उपदेश कर्तव्यबोध कराने की भावना से नहीं, अर्जुन को विमोहित करके उसे कर्तव्यच्युत कराने और युद्ध से हटाने की भावना से दिया गया था। अर्जुन के मन पर उसका अभीष्ट प्रभाव पड़ा। अर्जुन ने उत्तर दिया, 'संजय ! तेरी सब बातें मुझे बहुत युक्तियुक्त और बड़ी प्रिय लगी हैं। पर अब तो परिस्थिति अतिविलंबित है।' तिस पर भी संजय के शब्दों का प्रभाव अर्जुन के मन में बराबर बना रहा। उसी प्रभाव के फलस्वरूप अर्जुन ने दोनों सेनाओं के मध्य में अपना रथ स्थित कराया और उसने सब ओर अपनी दृष्टि को घुमाया।

अर्जुन ने दोनों ओर की सेनाओं में अपने सगे-संबंधियों तथा गुरु जनों को देखा। संजय के शब्द और विचार सहसा अर्जुन के मानस में उभर आए। न्याय और कर्तव्य का विवेक विलुप्त होगया। विमोह से मूर्छित होने पर वीर अर्जुन कायर बन गया। उसके हाथों में से गांडीव नीचे खिसकने लगा। उसके सबल बाहु शस्त्रों को संभालने में सर्वथा असमर्थ होगए। अर्जुन के मन में युद्ध के लिए जो उत्साह था वह नष्ट होगया। मन के उत्साह के अभाव में वीर कायर बन गया। मन के उत्साह के बिना बलवान् शरीर भी महानिर्बल-सा प्रतीत होने लगा, भुजबल बेकार होगया।

युद्ध से पूर्व कृष्ण शांति के दूत बनकर धृतराष्ट्र के दरबार में गए थे। भरे दरबार में स्वयं कृष्ण ने सन्धि का प्रस्ताव रखकर और सब ऊंच-नीच समझाकर युद्ध को टालने का प्रयत्न किया था। उसका अभीष्ट परिणाम न निकला। दुर्योधन बिना युद्ध किए निपटारा करने को सहमत न हुआ। जिस कार्य को स्वयं कृष्ण न कर पाए थे उस कार्य में संजय सफल होता दिखाई दे रहा था। अर्जुन अब बिना शर्त, बिना पांच ग्राम भी मांगे, युद्ध से हटने को समुद्यत हो रहा है।

कृष्ण ने देखा, विमोह के कारण अर्जुन का मन भ्रमित होगया है। अर्जुन के मन ने उसका साथ छोड़ दिया है। अर्जुन का मन चला गया है, चलायमान होगया है। अर्जुन का उत्साह नष्ट होगया है। अर्जुन के भ्रमित मन को स्थिर करने के लिए, अर्जुन के गए मन को पुनः वापिस लाने के लिए, अर्जुन के हत उत्साह को पुनः जीवित करने के लिए कृष्ण ने अर्जुन को जो बोधप्रद प्रेरणाएं कीं उन्हीं का चित्रण *गीता* के इस दूसरे अध्याय में किया गया है।

जब मन चला जाता है तो कर्तृत्व और बल भी चला जाता है और जीवन सत्त्वहीन होजाता है। जब मन पुनः आजाता है, साथ देता है तो कर्तृत्व, बल और जीवनसत्त्व पुनः संचारित हो जाते हैं। इस शाश्वत सत्य का वर्णन ऋग्वेद में निम्न प्रकार किया गया है,

आ त एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे। ज्योक् च सूर्यं दृशे।

ऋग्वेद १०.५७.४

(क्रत्वे दक्षाय जीवसे) कर्तृत्व, बल और जीवन के लिए (च) तथा (ज्योक् सूर्यं दृशे) चिर काल सूर्य को देखने के लिए (ते मनः पुनः आ एतु) तेरा मन पुनः आजाए। मन के चले जाने पर मनुष्य की कार्यक्षमता [कर्तृत्व], बल, जीवनसौख्य और सौर प्रखरता [ज्ञान-विवेक], सब क्षीण होजाते हैं। जब मन आजाता है तब मनुष्य में पुनः कर्तृत्व, दक्षता, जीवनसौख्य तथा विवेक आजाता है। वही अर्जुन के विषय में हुआ।

संजय के प्रभाव में उसके शब्दों को दोहराते हुए अर्जुन ने कुलक्षय, कुलधर्मनाश, कुलस्त्रियों की दूषितता, वर्णसंकरता, कुलनारकीयता तथा पितरों के पतन की जो बातें कही थीं वे नितान्त निरर्थक थीं। महाभारत-युद्ध से पूर्व ही ये सारी बातें देश में फैल चुकी थीं। कंस ने अपने पिता को बन्दी बना दिया था। जरासन्ध, आदि अनेक राजाओं ने सहस्रों कुलकन्याओं का अपहरण करके बलात् अपने यहां रखा हुआ था। सारा भारत मांस, मदिरा, मैथुन, व्यभिचार, परस्त्रीगमन, द्यूत, मर्यादाविहीनता, वर्णसंकरता, आदि में डूबा हुआ था। सारे देश में *जिसकी लाठी उसकी भैंस* कहावत चरितार्थ हो रही थी। महाभारत-युद्ध से पहले ही कृष्ण अपनी नीतिमत्ता से कंस, जरासन्ध, आदि समस्त अत्याचारी राजाओं का वध करके वा कराके उनके स्थान पर धार्मिक राजाओं को सिंहासनारूढ करा चुके थे। केवल धृतराष्ट्र के अत्याचारी पुत्र और कुछ इने-गिने दुर्योधन के अनाचारी मित्र शेष थे, जिनका सफ़ाया महाभारत-युद्ध से हुआ। महाभारत-युद्ध के परिणामस्वरूप ढाई सहस्र वर्षों तक भारत में अक्षुण्ण धर्म और शान्ति का राज रहा। इस प्रकार, इस युद्ध से साधुओं का परित्राण तथा दुष्कृतों का विनाश हुआ, और अधर्म का क्षय तथा धर्म की स्थापना हुई।

कार्य के परिणाम को देखकर ही उसके औचित्य के विषय में निश्चित निर्णय किया जा सकता है।

इस सम्बन्ध में एक शंका यह भी उठाई जाती है कि कृष्ण युद्ध को टालना चाहते तो ऐसा करने के लिए यह एक उपयुक्त अवसर था। अर्जुन कह रहा था कि मैं किसी भी लाभ के लिए युद्ध नहीं करना चाहता। कृष्ण

अर्जुन को युद्धार्थ प्रबल प्रेरणा न करते तो वह युद्ध न करता और युद्ध टल जाता।

निस्सन्देह, कृष्ण चाहते थे कि युद्ध न हो और इसी निमित्त वे युधिष्ठिर के दूत बनकर धृतराष्ट्र के दरबार में गए थे। पर दुर्योधन के दुराग्रह के कारण उन्हें सफलता न मिली। स्मरण रहे कि कृष्ण युद्ध टालना चाहते थे; भाई-भाई में सुलह—संधि चाहते थे, शान्ति चाहते थे किन्तु साथ ही वे धर्म और न्याय भी चाहते थे। धर्म और न्याय के मूल्य पर न वे सन्धि करना चाहते थे न करनी चाहिए थी। पाण्डवों के समूचे राज्य के बदले पांच ग्राम देना भी जिन्हें अस्वीकार्य था उनके सामने से अर्जुन को इस प्रकार हट जाने देते तो कृष्ण साधु जनों का विनाश और अधर्म का उत्थान करने वाले सिद्ध होते। साधु जनों का परित्राता और धर्म का संस्थापक कृष्ण ऐसा अनर्थ किस प्रकार कर सकता था। ऐसा करने से तो बड़ा अनर्थ होजाता और पापी जनों को पाप कर्मों के लिए प्रोत्साहन मिलता। इससे तो एक बड़ी ही निन्दनीय और अवाञ्छनीय मिसाल स्थापित होजाती।

५० 'क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ ! नैतत् त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप।'३

'(पार्थ) पृथापुत्र ! (क्लैब्यम्) नपुंसकता को (मा स्म गमः) प्राप्त न हो। (त्वयि) तुझमें (एतत्) यह (न उप-पद्यते) योग्य नहीं है। (परम्-तप) परम-तपस्विन् ! (क्षुद्रम् हृदय-दौर्बल्यम्) क्षुद्र हृदयदौर्बल्य को (त्यक्त्वा) त्यागकर (उत्-तिष्ठ) खड़ा हो।'

अर्जुन के गए हुए मन को पुनः लौटा लाने के लिए कृष्ण प्रेरणा करते हैं, 'अर्जुन ! मोहवश कायर न बन। तेरे जैसे धर्मात्मा मनस्वी वीर के लिए यह अशोभनीय है। तेजस्विन् ! क्षुद्राशयता को त्यागकर युद्धार्थ सन्नद्ध हो।'

किसी के भी मुख से निकले हुए कैसे भी शब्द में बुरा-भला, निर्बल-प्रबल, अनुकूल-प्रतिकूल, रोचक-अरोचक प्रभाव होता ही है। किन्तु यहां ये शब्द किसी साधारण व्यक्ति के मुख से नहीं, स्वयं योगेश्वर कृष्ण के मुख से निकले हैं। फिर भी, जैसा कि अगले श्लोकों से प्रकट होगा, वे शब्द वाञ्छित प्रभाव डालने में सफल न हो सके। संजय के छलपूर्ण उपदेश ने अर्जुन के सरल अन्तःकरण में मोह के जिन संस्कारों का बीजारोपण किया था वे संस्कार इस समय प्रबल होकर उभरे हुए हैं।

सचमुच, मोह की माया बड़ी प्रबल है। मोह के पाशों से मुक्त होना सरल कार्य नहीं है। बड़े बड़े विद्वान्, ज्ञानी, प्राज्ञ, बहुज्ञ, बहुश्रुत, धीर, वीर, त्यागी, तपस्वी, ऋषि, मुनि, विवेकी, वैरागी तथा मनीषी स्त्री-पुरुष भी समय

आने पर मोह को प्राप्त होजाते हैं। जब आत्मज्ञान से प्रज्ञा की ध्रुव स्थिति सिद्ध होती है और विवेक तथा वैराग्य का पूर्ण परिपाक होता है तभी मोह पर पूर्ण विजय प्राप्त होती है। किन्तु आत्मज्ञान द्वारा प्रज्ञा की ध्रुव स्थिति तथा विवेक और वैराग्य के परिपाक के लिए भी अनेक साधनाएं करनी पड़ती हैं। तब जाकर कहीं मोह का शमन अथ वा उन्मूलन होता है।

गीता के अठारह अध्यायों में से प्रथम अध्याय को छोड़कर शेष सत्रह अध्यायों में जो सत्रह प्रकार के योगों का वर्णन किया गया है उन सबमें मोह के उन्मूलन के ही साधनोपाय बताए गए हैं। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि मोह का उन्मूलन कितनी कठिन साधना है। पर मोह का उन्मूलन जितना कठिन है उतना ही उसका सुफल और माहात्म्य भी है। मोह का उन्मूलन होने पर फिर स्खलन नहीं होता, मनुष्य 'अच्युत' बन जाता है। मोह के नष्ट होजाने पर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विजयश्री चरणचुम्बन करती है। मोह के मिटने पर पराजय नाम की कोई वस्तु रहती ही नहीं है। उस अवस्था में पराजय में भी विजय निहित होती है। तब हर्ष-शोक, जय-अजय, लाभ-अलाभ, सब समान होजाते हैं। वह परम विजय की स्थिति होती है। उसमें समता, शान्ति, सन्तोष, उत्कर्ष और आनन्द ठाठें मारता है।

तभी तो, जब कृष्णोपदेश [गीतोपदेश] से अर्जुन का मोह नष्ट होगया तो अर्जुन बोल उठा था, '*नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत। स्थितो ऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव* (गीता १८.७३), अच्युत कृष्ण! तेरी कृपा से स्मृति [आत्मस्मृति, आत्मचेतना, आत्मज्ञान] प्राप्त करके मेरा मोह नष्ट होगया है। मैं स्थित [मोहरहित] होगया हूं। मेरा सन्देह जाता रहा है। मैं तेरे आदेश का पालन करूंगा।' मोहरहित अर्जुन ने कृष्ण के वचन का पालन किया। वह अनासक्त होकर लड़ा। उसने विजय भी सम्पादन की और शान्ति भी लाभ की।

मोह, निस्सन्देह, कातरता और कायरता का जनक है। मोह के नष्ट होने पर सत्य चेतना का संचार होता है और मानव में अतुल वीर्य और पराक्रम की स्थापना होती है।

अर्जुन उवाच

५१ 'कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ?४

दारुण मोहपाश में बद्ध अर्जुन बोला, '(मधु-सूदन) मधु दैत्य का वध करनेवाले [कृष्ण]! (अरि-सूदन) अरियों—शत्रुओं का हनन करनेवाले [कृष्ण]! (अहम्)

मैं (पूजा-अर्हौ भीष्मम् च द्रोणम् प्रति) पूज्य भीष्म और द्रोण से (सम्-ख्ये) संग्राम में (इषुभिः) बाणों से (कथम्) कैसे (योत्स्यामि) युद्ध करूंगा ?

५२ 'गुरूनहत्वा हि महानुभावाञ्छ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ।५

'(हि) निश्चय से, (इह लोके) यहां, लोक में (महा-अनु-भावान् गुरून्) महानुभाव गुरु जनों को (अ-हत्वा) न मारकर (भैक्ष्यम् भोक्तुम् अपि) भिक्षान्न भोगना भी (श्रेयः) श्रेष्ठ [होगा], (तु एव) इसकी अपेक्षा कि (अर्थ-कामान् गुरून् हत्वा) अर्थों और कामनाओं की पूर्ति करानेवाले गुरु जनों को मारकर (इह) यहां (रुधिर-प्र-दिग्धान् भोगान्) रुधिर से सिक्त भोगों को (भुञ्जीय) भोगूं।

५३ 'न चैतद् विद्मः कतरन्नो गरीयो यद् वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्ते ऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः।६

'हम (एतत् च) यह भी [तो] (न विद्मः) नहीं जानते कि [युद्ध करना वा न करना, दोनों में से] (कतरत्) कौन-सा [विकल्प] (नः) हमारे लिए (गरीयः) अधिक श्रेष्ठ [है]। (यत् वा) चाहे [हम उन्हें] (जयेम) जीतें, (यदि वा) चाहे [वे] (नः) हमें (जयेयुः) जीतें [,किसी भी अवस्था में मुझे युद्ध श्रेयस्कर प्रतीत नहीं होता। यह कैसी स्थिति है] ! (यान् हत्वा) जिन्हें मारकर (न जिजीविषामः) हम जीना नहीं चाहते (ते एव) वे ही (धार्तराष्ट्राः) धृतराष्ट्र के पुत्र (प्र-मुखे) सामने (अव-स्थिताः) अवस्थित [हैं]।

५४ 'कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्ते ऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।७

'(कार्पण्य-दोष-उप-हत-स्व-भावः धर्म-सम्-मूढ-चेताः) कायरता[रूप] दोष से उप-हत स्व-भाववाला, धर्म-सं-मोहित-चित्तवाला [धर्मसंशय के कारण कायरता के दोष से पीड़ित] मैं (त्वाम् पृच्छामि) तुझे पूछता हूं। (यत्) जो (निः-चितम् श्रेयः स्यात्) निश्चयपूर्वक श्रेयस्कर हो (तत्) वह (मे) मेरे प्रति (ब्रूहि) कह। (अहम्) मैं (ते शिष्यः) तेरा शिष्य [हूं]। (त्वाम् प्र-पन्नम् माम्) तुझे-समर्पित [शरणागत] मुझे (शाधि) शिक्षा कर [मैं तेरी शरण में हूं। मेरा पथप्रदर्शन कर]।

५५ 'न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्।'८

'(हि) क्योंकि (भूमौ) भूमि पर (अ-सपत्नम् ऋद्धम् राज्यम्) शत्रु-रहित, समृद्ध राज्य को (च) तथा (सुराणाम् आधि-पत्यम्) देवताओं के स्वामित्व को (अव-आप्य अपि) प्राप्त करके भी [मैं] (तत् न प्र-पश्यामि) उस [वस्तु]

को नहीं देख पारहा हूं (यत्) जो (मम इन्द्रियाणाम्) मेरी इन्द्रियों के (उत्-शोषणम् शोकम्) शोषक शोक को (अप-नुद्यात्) दूर करे।'

संजय उवाच

५६ एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप।
'न योत्स्य' इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह।९

संजय बोला, (परम्-तप) परं-तप! [धृतराष्ट्र!] (गुडाका-ईशः) जित-निद्र [अर्जुन] (हृषीक-ईशम्) जितेन्द्रिय [कृष्ण] के प्रति (एवम् उक्त्वा) इस प्रकार कहकर, '(न योत्स्ये) युद्ध नहीं करूंगा,' [पुनः] (गोविन्दम्) गोविन्द के प्रति (इति ह उक्त्वा) इतना कहकर (तूष्णीम् बभूव) चुप होगया।

५७ तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः।१०

(भारत) भरतवंशी! [धृतराष्ट्र!] (उभयोः सेनयोः मध्ये) दोनों सेनाओं के मध्य में (तम् वि-सीदन्तम्) उस वि-षादयुक्त [अर्जुन] के प्रति (हृषीक-ईशः) जितेन्द्रिय [कृष्ण] ने (प्र-हसन्-इव) हंसते हुए-से [हंसकर] (इदम् वचः) यह वचन (उवाच) कहा।

श्रीभगवानुवाच

५८ 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।११

'(त्वम्) तूने (अ-शोच्यान् अनु-अशोचः) अशोच्यों के प्रति [अच्छा] शोक किया! (च) और [तू] (प्रज्ञा-वादान्) प्रज्ञा-वादों [ज्ञानवचनों] को (भाषसे) बोल रहा है। (पण्डिताः) ज्ञानी जन (गत-असून् च अ-गत-असून् न अनु-शोचन्ति) गतों और अ-गतों को नहीं शोचते हैं, मृतों और जीवितों के विषय में चिन्ता नहीं किया करते हैं।

मोह से उत्साह नष्ट होता है। उत्साह के नष्ट होने पर मनुष्य कर्तव्यच्युत होता है। कर्तव्यच्युत होने पर कायरता आती है। कायरता से शोक उत्पन्न होता है। शोक से आत्मग्लानि होती है। आत्मग्लानि से त्राण पाने के लिए उसे आत्मतुष्टि की आवश्यकता होती है। आत्मतुष्टि के लिए वह ज्ञानियों की सी बातें कहता है और दार्शनिकों की सी उक्तियां प्रस्तुत करता है। श्लोक की प्रथम पंक्ति में कृष्ण ने अर्जुन की इसी स्थिति का उद्घाटन किया है। 'अर्जुन! तू मोहवश अशोचनीयों के लिए शोक कर रहा है और अपनी मोहावस्था के समर्थन में तू ज्ञानियों की सी बातें बना रहा है, दार्शनिकों की सी उक्तियां बोल रहा है।' श्लोक की दूसरी पंक्ति से तत्त्व समझाना आरम्भ करते हैं, 'अर्जुन! ज्ञानी जन मृतों और अ-मृतों के लिए शोक नहीं किया करते हैं।'

५६ 'न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ।१२

'(न तु एव) न तो ऐसा [है कि] (अहम् जातु न आसम्) मैं वर्तमान नहीं था, [वा] (त्वम् न) तू नहीं [था], वा (इमे जन-अधि-पाः न) ये राजे नहीं [थे]। (च न एव) और न ऐसा [ही है कि] (वयम् सर्वे) हम सब (अतः परम्) इससे परे [देह त्यागने के पश्चात्] (न भविष्यामः) न रहेंगे ।

६० 'देहिनो ऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ।१३

'(यथा) जिस प्रकार (देहिनः) देही [आत्मा] के (अस्मिन् देहे) इस देह में (कौमारम्, यौवनम्, जरा) कुमारावस्था, युवावस्था [और] जरावस्था (तथा) वैसे [ही] (देह-अन्तर-प्र-आप्तिः) देहान्तर-प्राप्ति। (धीरः) धीर, बुद्धिमान् (तत्र) वहां (न मुह्यति) मोहित नहीं होता है।

आत्मा के शरीर में निवास करते हुए भी शरीर की अवस्थान्तर-मृत्यु होती रहती है। शैशव की मृत्यु पर कुमारावस्था का जन्म होता है। कुमारावस्था की मृत्यु पर युवावस्था का जन्म होता है। युवावस्था की मृत्यु पर वृद्धावस्था का जन्म होता है। उसी प्रकार, एक देह की मृत्यु पर दूसरी देह का जन्म होता है। प्रत्येक अवस्था में अजर, अमर आत्मा एकरूप रहता है। अवस्थाभेदरूप मृत्यु अथ वा देहान्तरप्राप्तिरूप मृत्यु केवल देह की होती है, आत्मा की नहीं। धीर इस तथ्य को समझता हुआ मोह, शोक को प्राप्त नहीं होता है। जिस प्रकार आत्मा को शरीर की अवस्थान्तरप्राप्ति पर शोक नहीं होता है उसी प्रकार शरीरान्तरप्राप्ति पर भी शोक नहीं होना चाहिए।

६१ 'मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनो ऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ।१४

'(कौन्तेय) कुन्तीपुत्र [अर्जुन] ! (मात्रा-स्पर्शाः) मात्राओं के स्पर्श (तु) तो (शीत-उष्ण-सुख-दुःख-दाः) सरदी-गरमी-सुख-दुःख देनेवाले, (आ-गम-अप-अयिनः) आने-जानेवाले [तथा] (अ-नित्याः) अस्थिर [हैं]। (भारत) भरतवंशी [अर्जुन] ! (तान् तितिक्षस्व) उन्हें सहन कर।

मात्रा का प्रयोग यहां पंच तत्त्वों के स्पर्शात्मक प्रभाव के अर्थ में हुआ है। पंच तत्त्वों की मात्राओं के प्रभाव से ऋतुओं में परिवर्तन होते हैं। अग्नि की मात्रा बढ़ती है तो ग्रीष्म ऋतु आती है; गरमी पड़ने लगती है। ग्रीम ऋतु विदा होती है। वर्षा ऋतु आजाती है। जल की मात्रा के प्रभाव से नमी [सील] रहती है, उमस रहती है। फिर शीत की मात्रा बढ़ती है। वर्षा

ऋतु विदा होती है। सरदी पड़ने लगती है। जब तक जिस ऋतु का समय है तब तक उस ऋतुविशेष का प्रभाव रहेगा ही। कोई ऋतु स्थायी नहीं है। प्राकृत क्रम और नियम से प्रत्येक ऋतु आती है और जाती है। ऋतु को हटाने का प्रयास व्यर्थ है। बुद्धिमान् अपने को ऋतु के अनुकूल बनाकर, ऋत्वनुसार व्यवहार करते हुए, प्रत्येक ऋतु का सदुपयोग करते हैं।

रज, वीर्य, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, आदि धातुओं की मात्रा के परिणाम और परिमाण से मानवजीवन में भी शैशव, बाल्य, कौमार्य, यौवन, जरा, आदि ऋतुएं आती-जाती रहती हैं। इन्हें रोका नहीं जा सकता। बुद्धिमानी इसी में है कि मनुष्य प्रत्येक अवस्था में सहनशीलता के साथ अवस्थानुसार साधना करता रहे।

सुख, दुःख भी दो ऋतुएं हैं, जो मात्राभेद से सदा घटती-बढ़ती और आती-जाती रहती हैं। ऋतुओं के समान, सुख-दुःख भी आने-जानेवाले और अस्थिर हैं। ऋतुचक्र के अनुसार, सुख-दुःख के चक्र को भी रोका नहीं जा सकता। सुख-दुःख का चक्र चलता ही रहेगा। उपाय एक ही है—सहनशीलता के साथ, प्रसन्नता के साथ, प्रत्येक अवस्था में समुचित व्यवहार करना। यही तितिक्षा है, यही तत्त्व है। *तितिक्षस्व*, सहन कर और अपना काम कर, सह और रह, सहता रह और डटा रह।

६२ 'यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।१५

'(पुरुष-ऋषभ) पुरुषोदार[अर्जुन]! (सम-दुःख-सुखम् यम् धीरम् पुरुषम्) दुःख, सुख को समान समझनेवाले, जिस धीर पुरुष को (एते) ये दोनों [दुःख और सुख, अवस्थान्तरप्राप्ति और देहान्तरप्राप्ति] (न व्यथयन्ति) व्यथित नहीं करते (सः हि) वह ही (अ-मृतत्वाय) आनन्द [सुख, दुःख से ऊपर की अवस्था] के लिए (कल्पते) समर्थ होता है।

६३ 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।१६

'(न) न तो (अ-सतः) अ-भाव का (भावः) भाव (विद्यते) होता है, (न) न (सतः) भाव का (अ-भावः) अ-भाव (विद्यते) होता है। (अनयोः उभयोः अपि) इन दोनों का भी (अन्तः) भेद, रहस्य (तु) तो (तत्-त्व-दर्शिभिः) तत्त्व-दर्शियों द्वारा (दृष्टः) देखा गया [है]।

जो है वह, किसी न किसी रूप में, सदा था और सदा रहेगा। जो नहीं है वह न कभी था न होगा। यह विज्ञानसिद्ध सिद्धान्त है। भाव का अभाव कभी हो ही नहीं सकता। न ही अभाव का भाव कभी हो सकता है। सत्

[भाव] का रूपान्तर तो हो सकता है किन्तु उसका अनस्तित्व नहीं हो सकता। एवमेव असत् का भी अस्तित्व नहीं हो सकता।

६४ **'अविनाशि तु तद् विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।**
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति ।१७

'(तु) तो (तत्) उसे, उस [सत्ता] को (अ-वि-नाशि) नाश-रहित (विद्धि) जान (येन) जिससे (इदम् सर्वम्) यह सब, यह सम्पूर्ण [चराचर जगत्] (ततम्) विस्तार को प्राप्त [है]। (अस्य अ-वि-अयस्य) इस अ-वि-नाशी का (वि-नाशम् कर्तुम्) वि-नाश करने को (कः चित्) कोई भी (न अर्हति) योग्य—समर्थ नहीं है।

जिस ब्रह्म से इस सकल ब्रह्माण्ड का विस्तार होता है और इस विस्तार-युक्त ब्रह्माण्ड में जो ब्रह्म व्याप रहा है वह नाशरहित है। उसका अस्तित्व सदा से है और सदा रहेगा। उसका न कभी रूपान्तर होता है, न उसके अपने रूप में कभी कोई परिवर्तन होता है। वह विभु और कूटस्थ है। न वह स्वयं नष्ट होता है, न अन्य कोई उसका नाश कर सकता है।

६५ **'अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।**
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत ।१८

'(नित्यस्य अ-नाशिनः अ-प्र-मेयस्य शरीरिणः) नित्य, नाश-रहित, अ-ज्ञेय शरीर-धारी के (इमे देहाः) ये देह (अन्तवन्तः) अन्तवाले (उक्ताः) कहे गए [हैं]। (तस्मात्) उस [कारण] से, अतः, (भारत) भरतवंशी [अर्जुन]! (युध्यस्व) युद्ध कर।

शरीरधारी आत्मा भी नित्य है, नाशरहित है, अज्ञेय है। उसका भी न आदि है, न अन्त है। आत्मा की सत्ता अनादि, अनन्त है। जिसका आदि नहीं उसका अन्त नहीं। जिसका अन्त नहीं उसका आदि नहीं। आदि-अन्तवाले तो आत्मा के देह हैं। देहों का ही आदि-अन्त है, देही का नहीं।

६६ **'य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।**
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ।१९

'(यः) जो (एनम्) इस [आत्मा] को (हन्तारम्) हनन करनेवाला (वेत्ति) जानता है (च) और (यः) जो (एनम्) इसको (हतम्) मरा (मन्यते) मानता है (तौ उभौ) वे दोनों (न वि-जानीतः) नहीं जानते। (अयम्) यह [आत्मा] (न हन्ति) न मारता है, (न हन्यते) न मारा जाता है।

जो ऐसा मानता है कि आत्मा आत्मा को मारता है और जो यह समझता है कि आत्मा से आत्मा मारा जाता है वह अज्ञानी है। वास्तव में, जो मरता है वा मारा जाता है वह देह ही है।

६७ **'न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।**
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।२०

'(अयम्) यह [आत्मा] (न कदा चित्) न कभी (जायते) उत्पन्न होता है, (वा) या (म्रियते) मरता है, (वा) अथ वा (न 'भूत्वा भूयः न भविता'[१]) न [यह] 'होकर पुनः न होनेवाला' है। (इसका पुनः पुनः भाव, अभाव नहीं होता है।) (अयम्) यह (अ-जः नित्यः शाश्वतः पुराणः) अनुत्पन्न, नित्य, सदासत्तावान् सनातन [है और] (शरीरे हन्यमाने) शरीर के मर जाने पर (न हन्यते) मरता नहीं है।

६८ 'वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ?२१

'(पार्थ) पृथा के पुत्र [अर्जुन] ! (यः) जो (एनम्) इस [आत्मा] को (अ-वि-नाशिनम् नित्यम् अजम् अ-वि-अयम्) अ-वि-नाशी, नित्य, अजर, अ-मर (वेद) जानता है (सः पुरुषः) वह पुरुष (कथम्) कैसे (कम् घातयति) किसको है, (कम् हन्ति) किसको मारता है ?

६९ 'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।२२

'(यथा) जिस प्रकार (नरः) मनुष्य (जीर्णानि वासांसि) पुराने कपड़ों को (वि-हाय) त्यागकर (अ-पराणि नवानि) अन्य—दूसरे नये [वस्त्रों] को (गृह्णाति) ग्रहण करता, पहिन लेता है (तथा) उसी प्रकार (देही) देहनिवासी—आत्मा (जीर्णानि शरीराणि) पुराने शरीरों को (वि-हाय) त्यागकर (अन्यानि नवानि) अन्य—दूसरे नये [शरीरों] को (सम्-याति) सम्प्राप्त कर लेता है।

७० 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।२३

'(न) न [तो] (एनम्) इस [आत्मा] को (शस्त्राणि) शस्त्र (छिन्दन्ति) छेदते हैं, (न) न (एनम्) इसे (पावकः) अग्नि (दहति) जलाता है (च) और (न) न (एनम्) इसे (आपः) जल (क्लेदयन्ति) गलाते हैं, (न) न (मारुतः) पवन (शोषयति) सुखाता है।

७१ 'अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।२४

'(एव) निस्सन्देह, (अयम्) यह [आत्मा] (अ-छेद्यः) अ-काट्य [है], (अयम्) यह (अ-दाह्यः) जलने के अयोग्य, (अ-क्लेद्यः) अ-गलनीय (च) और (अ-शोष्यः) अ-सोखनीय [है], (अयम्) यह (नित्यः) सदासत्तावान् (सर्व-गतः) सर्वगामी, सब योनियों और लोकों में विचरनेवाला [है और आत्मरूप से] (स्थाणुः) स्थिर, (अ-चलः) अ-चल, (सना-तनः) सना-तन [है]।

१. शंकर ने 'ऽभविता' पाठ माना है।

७२ 'अव्यक्तो ऽयमचिन्त्यो ऽयमविकार्यो ऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि।२५

'(अयम्) यह [आत्मा] (अ-वि-अक्तः) अ-प्रकट, सूक्ष्म, अदृष्ट, (अयम्) यह (अ-चिन्त्यः) अ-चिन्त्य, (अयम्) यह (अ-वि-कार्यः)[स्व स्वरूप से] विकार-रहित (उच्यते) कहा जाता है। (तस्मात्) उस [कारण] से, अतः (एनम्) इसको (एवम्) इस प्रकार (विदित्वा) जानकर (अनु-शोचितुम् न अर्हसि) तू शोक करने को योग्य नहीं है, तुझे शोक नहीं करना चाहिए।

७३ 'अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि।२६

'(अथ) और (च) यदि [तू] (एनम्) इस [आत्मा] को (नित्य-जातम्) नित्य-जन्मनेवाला (वा) अथ वा (नित्यम् मृतम्) नित्य मरनेवाला (मन्यसे) मानता है, (महा-बाहो) वीर ! (तथा अपि) तो भी (त्वम्) तू (एवम्) इस प्रकार (शोचितुम्) शोक करने को (न अर्हसि) योग्य नहीं है।

७४ 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।२७

'(हि) क्योंकि (जातस्य) जन्मनेवाले की (मृत्युः) मृत्यु (ध्रुवः) निश्चित [है] (च) और (मृतस्य) मरनेवाले का (जन्म) जन्म (ध्रुवम्) निश्चित [है], (तस्मात्) उस [कारण] से, अतः (अ-परि-हार्ये अर्थे) अनुपाय—अ-निवार्य विषय में (त्वम्) तू (शोचितुम्) शोक करने को (न अर्हसि) योग्य नहीं है।

श्लोक २६ और २७ में अर्जुन को समझाते हुए कृष्ण ने एक बहुत ही सुन्दर और सरल समाधान उपस्थित किया है।

'अर्जुन ! तत्त्वतः तो यह आत्मा अजर, अमर है। न यह जन्मता [उत्पन्न होता] है; न मरता है। फिर भी यदि तू मानता है कि यह आत्मा जन्मता [उत्पन्न होता] है और मरता है, तो भी व्यामोह को प्राप्त होकर शोक करना तुझे उचित नहीं क्यों कि जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु होनी भी अवश्यम्भावी है और मृत्यु के पश्चात् पुनर्जन्म भी अनिवार्य है। यदि तूने इन्हें न भी मारा, तो भी तेरे ये स्व जन रोग-भोग से तो एक एक करके मरेंगे ही और मरकर फिर जन्म लेंगे ही। आवागमन के इस चक्र में सब आ, जा रहे हैं। जो आया है वह जाएगा ही। फिर तू स्व जनों के मरण के विचार से उद्विग्न और विचलित क्यों होता है?'

७५ 'अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।२८

'(भारत) भरतवंशी !(भूतानि) प्राणी (अ-वि-अक्त-आदीनि) आदि में अ-प्रकट—

शरीर-रहित [होते हैं], (वि-अक्त-मध्यानि) मध्य में प्रकट—सशरीर [होते हैं], (अ-वि-अक्त-नि-धनानि एव) निधन—मरण के पश्चात् अ-प्रकट—शरीर-रहित ही [होते हैं]। (तत्र) वहां, उस [विषय] में (परि-देवना का) चिन्ता क्या ?

शरीर को त्यागकर आत्मा देहरहित होजाता है। देहरहित होकर पुनः जन्म लेकर देहसहित होता है। इस प्रकार, यह अदेह, सदेह और विदेह होता रहता है। यह आत्मा स्व रूप से देहरहित [अदेह] है। शरीर धारण करके सदेह वनता है। देह त्यागकर विदेह बनता है। यह अदेह कभी सदेह वनता है कभी विदेह वनता है। आदि में अदेह, मध्य में सदेह, अन्त में विदेह। विदेह से पुनः सदेह, सदेह से पुनः अदेह। अदेहता और विदेहता के मध्य में सदेहता है। सदेहता के आदि में अदेहता है और अन्त में विदेहता है। अदेहता और विदेहता के मध्य में सदेहता के व्यवधान पर चिन्ता क्या, शोक कैसा और व्यासंग क्यों ?

७६ 'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ।२६

'(आश्चर्य-वत् एनम्) आश्चर्यवत् [आश्चर्यमय] इस [आत्मा] को (कः चित्) कोई [विरला] ही (पश्यति) देखता, साक्षात् करता है। (च) और (तथा एव) वैसे ही (आश्चर्य-वत्) आश्चर्यवत् [इस आत्मा] को (अन्यः) कोई [ही] (वदति) कहता—उपदेशता है। (च) और (आश्चर्य-वत् एनम्) आश्चर्यवत् इस [आत्मा] को (अन्यः) कोई [ही] (शृणोति) सुनता—समझता है। (च) और (श्रुत्वा अपि) सुनकर भी (कः चित्) कोई भी (एनम्) इस [आत्मा] को (न एव) न ही, नहीं (वेद) पाता है।

इस आश्चर्यमय आत्मा को कोई ही देख पाता है। कोई विरला ही इस आत्मा का उपदेश करता है। विरला ही आत्मा के विषय में श्रवण करता है। सुननेवालों में से सब कोई ही इस आत्मा को नहीं जान पाते हैं। कोई विरला ही इस आत्मा के रहस्य को समझ पाता है। समझनेवालों में से विरला ही इसे प्राप्त [साक्षात्] कर पाता है।

७७ 'देही नित्यमवध्यो ऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ।३०

'(भारत) भरतवंशी ! (सर्वस्य देहे) सबके देह में (अयम्) यह (देही) देहभृत्, देहधारी [आत्मा] (नित्यम्) नित्य ही (अ-वध्यः) अ-हन्य, अ-हननीय [है]। (तस्मात्) उस [कारण] से (त्वम्) तू (सर्वाणि भूतानि) समस्त प्राणियों को/केलिए (शोचितुम्) शोक करने को (न अर्हसि) योग्य नहीं है।

देह ही आदि- और अन्त-वाला है। देह ही उत्पन्न होता है और देह ही मरता है। देहधारी आत्मा न उत्पन्न होता है, न समाप्त होता है। देही तो

अजर और अमर है। न वह जन्मता [उत्पन्न होता] है, न मरता है। अतः प्राणियों के मरण [देहविसर्जन] के विचार से तुझे शोकाकुल न होना चाहिए।

७८ 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ।३१

'(च) और (स्व-धर्मम्) स्व-कर्तव्य को (अव-ईक्ष्य अपि) देखकर भी [तू] (वि-कम्पितुम्) वि-चलित होने को (न अर्हसि) योग्य नहीं है (हि) क्यों कि (धर्म्यात् युद्धात्) धर्म्य युद्ध से (अन्यत्) अन्य (क्षत्रियस्य) क्षत्रिय का (श्रेयः) शुभतर कर्म (न विद्यते) नहीं होता है।

सम्पूर्ण *गीता* में *धर्म* शब्द का प्रयोग मत, पन्थ, मजहब वा सम्प्रदाय अर्थ में कहीं नहीं हुआ है। न ही चारों वेदों में यह शब्द इन अर्थों में कहीं भी प्रयुक्त हुआ है। *धर्म* का धात्वर्थ है धारण करने वाला। जैसा कि आगे चलकर विदित होगा, *गीता* में *धर्म* शब्द का प्रयोग सर्वत्र 'स्वाभाविक स्व कर्तव्य कर्म' अथ वा 'न्याय' अर्थ में ही किया गया है। इस श्लोक में प्रयुक्त *धर्म्यात् युद्धात्* से तात्पर्य 'न्याय की रक्षार्थ युद्ध' से है।

७९ 'यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ।३२

'(पार्थ) अर्जुन ! (यदृच्छया उप-पन्नम्) अनायास प्राप्त (च) तथा (स्वः-ग-द्वारम् अप-आ-वृतम्) स्वर्ग-द्वार-खुले (ईदृशम् युद्धम्) ऐसे युद्ध को (क्षत्रियाः) क्षत्रिय (सुखिनः) सुप्रसन्न होकर (लभन्ते) लाभ—स्वीकार करते हैं।

यदृच्छा का अर्थ है स्वातन्त्र्य, स्वैरता, स्वयमेव, निष्प्रयास, अनायास। महाभारत का युद्ध पाण्डवों के लिए अनायास प्राप्त हुआ था और कौरवों के लिए सायास। कृष्ण और पाण्डव युद्ध नहीं चाहते थे, न्याय चाहते थे। कृष्ण ने वहुत प्रयास किया कि युद्ध न हो। कृष्ण ने कौरवों को बहुत समझाया कि वे पाण्डवों को ससम्मान राजोचित जीवन निर्वाहने दें। किन्तु दुर्योधन का एक ही उत्तर था, 'बिना युद्ध मैं सुई की नोक के बराबर भी भूमि नहीं दूंगा।' *स्वर्ग* नाम सुखस्थान का है। यहां इस शब्द का प्रयोग सुखकर, सुखप्रद अर्थ में हुआ है।

८० 'अथ चेत् त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ।३३

'(अथ) और (चेत्) यदि (त्वम्) तू (इमम् धर्म्यम् सम्-ग्रामम्) इस न्याय्य सं-ग्राम को (न करिष्यसि) न करेगा (ततः) तो (स्व-धर्मम् च कीर्तिम्) स्व-कर्तव्य और कीर्ति को (हित्वा) गंवाकर (पापम्) पाप को (अव-आप्स्यसि) प्राप्त करेगा।

८१ 'अकीर्ति चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ।३४

'(च अपि) और [यह] भी [है कि] (भूतानि) मानवप्राणी, सर्व जन (ते अ-वि-अयाम् अ-कीर्तिम्) तेरी अ-मिट अ-कीर्ति को (कथयिष्यन्ति) कहेंगे । (च) और (सम्-भावितस्य अ-कीर्तिः) सं-भावित की अ-कीर्ति (मरणात् अति-रिच्यते) मरण से अधिक होती है ।

कीर्ति की भावना को जागरित करते हुए कृष्ण अर्जुन के अन्तस्तल को स्पर्श करते हैं । 'अर्जुन ! यदि तूने अब युद्ध न किया तो अमर कीर्ति के स्थान पर तुझे अमिट अकीर्ति प्राप्त होगी । लोक में वंशानुवंश लोग अकीर्ति के साथ तेरी चर्चा किया करेंगे । और संभावित [प्रतिष्ठावान्] के लिए अकीर्ति मृत्यु से भी बुरी होती है ।'

कीर्ति [यश] की भावना उत्कर्ष की प्रेरिका और पुरुषार्थ की सुसम्पादिका होती है । कीर्तिकामी जन बड़े से बड़ा बलिदान करके भी स्वकीर्ति की रक्षा करते हैं । जिनमें कीर्ति की भावना का अभाव होता है वे क्षुद्र जन जीते हुए भी मृतवत् होते हैं ।

यश की कामना सर्वथा वेदविहित है । इस सम्बन्ध में अथर्ववेद ६.३९.३ अवलोकनीय है,

यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत ।
यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः ॥

(इन्द्रः यशाः अजायत) सूर्य यशस्वी होगया है । (अग्निः यशाः अजायत) अग्नि यशस्वी होगया है । (सोमः यशाः अजायत) चन्द्रमा यशस्वी होगया है । (अहम्) मैं (विश्वस्य भूतस्य) सकल भूत [संसार] का (यशाः) यशस्वी, (यशस्तमः) अतिशय यशस्वी (अस्मि) हूं, होजाऊं ।

कीर्ति की कामना करनेवाला मनुष्य ही सदा उत्कृष्ट कर्म और महान् पुरुषार्थ करता है । अतः सभी वर्णों और सभी आश्रमों में मनुष्य को कीर्ति की अभिलाषा करनी ही चाहिए । इस प्रसंग में, यह संकेत करना प्रासंगिक होगा कि एषणा और कीर्ति में अन्तर है, महदन्तर है । संन्यासी के लिए जो त्याज्य है वह एषणा है, कीर्ति नहीं । *एषणा* का अर्थ है इच्छा, मोह, आसक्ति । संन्यासी के लिए जो त्याज्य है वह है पुत्रैषणा [सन्तान अथ वा कुटुम्ब का मोह], वित्तैषणा [धन की आसक्ति] और लोकैषणा [लोक—समाजविशेष का मोह] । संन्यासी के लिए प्राणिमात्र आत्मवत् प्रिय होता है । संन्यासी प्राणिमात्र को अपना समझता है । संन्यासी प्राणिमात्र को अपना लेता है । उसकी अपनी सन्तान और उसका अपना समाज भी प्राणिमात्र की परिधि में

समा जाता है। संन्यासी के लिए प्राणिमात्र में से कोई भी त्याज्य नहीं है। फिर सन्तान वा लोक कैसे त्याज्य हो सकता है? सन्तान, लोक और धन त्याज्य नहीं है, धन, सन्तान और लोक की आसक्ति संन्यासी के लिए त्याज्य है।

८२ 'भयाद् रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ।३५

'(महा-रथाः) महा-रथ (त्वाम्) तुझे (भयात्) भय के कारण (रणात्) रण से (उप-रतम्) हटा हुआ (मंस्यन्ते) समझेंगे, (येषाम् च) जिनके कि मध्य में (त्वम् बहु-मतः भूत्वा) तू बहु-मान्य होकर (लाघवम् यास्यसि) लघुता को प्राप्त होगा।

८३ 'अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ?३६

'(च) और (तव सामर्थ्यम् निन्दन्तः) तेरी सामर्थ्य को निन्दते हुए (तव अ-हिताः) तेरे अ-हितैषी (बहून् अ-वाच्य-वादान्) बहुत से न कहने योग्य वचनों को (वदिष्यन्ति) बोलेंगे। (नु) भला, (ततः दुःख-तरम्) उससे अधिक दुःखदायी (किम्) क्या [होसकता है] ?

८४ 'हतो वा प्राप्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ।३७

'तू (हतः वा) मारा गया तो (स्वः-गम् प्राप्स्यसि) कीर्ति को प्राप्त करेगा, (वा) या (जित्वा) जीतकर (महीम् भोक्ष्यसे) पृथिवी [के राज्य] को भोगेगा। (तस्मात्) अतः, (कौन्तेय) कुन्तीपुत्र [अर्जुन] ! (युद्धाय कृत-निः-चयः) युद्धार्थ कृत-संकल्प [होकर] (उत्-तिष्ठ) उठ।

८५ 'सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ।३८

'(सुख-दुःखे लाभ-अ-लाभौ जय-अ-जयौ) सुख-दुःख, लाभ-अ-लाभ, जय-अ-जय को (समे) समान (कृत्वा) करके (ततः) तत्पश्चात् (युद्धाय) युद्धार्थ (युज्यस्व) युक्त हो। तू (एवम्) इस प्रकार (पापम् न अव-आप्स्यसि) पाप को प्राप्त न होगा।

श्लोक ३१ में युद्ध को क्षत्रिय का स्वधर्म [स्वाभाविक कर्म] बताया गया है और, साथ ही, इस [महाभारत] युद्ध को धर्म्य युद्ध कहा गया है। श्लोक ३३ में कहा गया है कि धर्म्य युद्ध से उपरत होना पाप [स्वधर्म से गिरना] है।

इस श्लोक में एक अतीव सुन्दर संकेत है। न सुख धर्म है, न दुःख अधर्म है। न लाभ धर्म है, न हानि अधर्म है। न जय धर्म है, न पराजय

अधर्म है। स्वकर्तव्य का पालनमात्र धर्म है और स्वकर्तव्य का पालन न करना ही पाप [अधर्म] है। मनुष्य को चाहिए, अपने पवित्र कर्तव्य का निष्ठापूर्वक पालन करे। परिणाम में सुख प्राप्त होगा वा दुःख, लाभ होगा वा हानि, सफलता होगी वा विफलता—इसका विचार न करे। अर्जुन ! ऐसा निश्चय जानकर युद्धार्थ सन्नद्ध हो।

८६ 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि।३९

'(ते) तेरे प्रति (एषा बुद्धिः) यह बुद्धि (सांख्ये) सांख्य में (अभि-हिता) अभि-हित [वि-हित] [है]। (इमाम्) इसी [बुद्धि] को (तु) अब (योगे) योग में (शृणु) सुन, (पार्थ) अर्जुन ! (यया बुद्ध्या) जिस बुद्धि से (युक्तः) युक्त [होकर] [तू] (कर्म-बन्धम्) कर्म-बन्धन को (प्र-हास्यसि) काट देगा।

बुद्धि शब्द का प्रयोग यहां विचारधारा अर्थ में किया गया है।

सांख्य शब्द का प्रयोग यहां सांख्यशास्त्र अर्थ में नहीं हुआ है। जैसा कि आगे चलकर स्पष्ट होगा, *गीता* में सांख्य शब्द का प्रयोग सर्वत्र तत्त्वज्ञान अथ वा ज्ञानयोग अर्थ में किया गया है। सांख्य का अर्थ है संख्यानीय, गणना-योग्य, गणनीय तत्त्वज्ञान, विवेक।

योग शब्द का प्रयोग हुआ है यहां कर्मयोग अर्थ में जैसा कि आगे चलकर स्पष्ट होगा।

कृष्ण कहते हैं, 'अर्जुन ! यहां तक मैंने तुझे जो कुछ समझाया है वह ज्ञानयोग [तत्त्वज्ञान] की दृष्टि से समझाया है। अब मैं उसी विषय को तुझे कर्मयोग की दृष्टि से समझाता हूं। इसे ध्यानपूर्वक सुन। कर्मयोग की बुद्धि [विचारधारा] भी ज्ञानयोग की बुद्धि की सुपूरिका है। ज्ञानयोग और कर्मयोग का समन्वय करनेवाली बुद्धि से युक्त होकर तू कर्म के बन्धन से मुक्त होजाएगा।'

यहां यह विचारणीय है कि इस दूसरे अध्याय का विषय *सांख्ययोग* है। किन्तु उपर्युक्त श्लोक से यह स्पष्ट है कि इस अध्याय में कर्मयोग का भी दिग्दर्शन कराया गया है। वास्तव में, ज्ञान और कर्म अपृथक्य हैं। ज्ञान से कर्म को और कर्म से ज्ञान को पृथक् नहीं किया जा सकता। कर्म की सिद्धि ज्ञान से है और ज्ञान की सिद्धि कर्म से है। ज्ञान से कर्म का सम्पादन होता है और कर्म से ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञान और कर्म सदा साथ साथ चलते हैं। ज्ञान से कर्म का विकास होता है और कर्म से ज्ञान का विकास होता है। ज्ञान और कर्म के सहविकास से विवेक अथ वा निर्भ्रम ज्ञान का उदय होता है; उसी का नाम *सांख्य* है। सांख्यसिद्ध विवेक का ही

नाम है *स्थितप्रज्ञा*, जिसका वर्णन इसी अध्याय में होगा। और, सांख्यविवेक-सिद्ध व्यक्ति की ही संज्ञा है *स्थितप्रज्ञ* और *स्थितधी*, जिसका वर्णन आगे श्लोकों में होगा।

वास्तव में तो कर्म वह व्यापक सूत्र है जिस पर योगमाला के सारे मनके पिरोए हुए हैं। न केवल *गीता* में वर्णित योगों में ही, अपि तु अन्य समस्त योगों में भी कर्म का सूत्र सर्वत्र, सर्वथा अन्तर्निहित है। इसी लिए, *गीता* के प्रत्येक अध्याय में कर्म के लिए अथ वा युद्ध के लिए प्रेरणा की गयी है।

८७ 'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।४०

'(इह) यहां [कर्मयोग में] (न) न तो (अभि-क्रम-नाशः अस्ति) अभि-क्रम-नाश है, (न प्रति-अव-अयः विद्यते) न प्रत्यवाय होता है। (अस्य धर्मस्य) इस धर्म [कर्मयोग] का (सु-अल्पम् अपि) स्वल्प [अनुष्ठान, प्रयोग, अभ्यास] भी [महतः भयात् त्रायते] महान् भय से तारता है।

अभिक्रम का अर्थ है निश्चित क्रम और विधि-विधान। शास्त्रों में प्रत्येक कर्मकाण्ड की जो निश्चित विधियां तथा क्रम निर्धारित किए गए हैं उनके अनुष्ठान में भूल, त्रुटि अथ वा व्यतिक्रम होने से जो दोष वा पाप लगता है उसे *प्रत्यवाय* कहते हैं।

कर्मयोग में न कोई निश्चित विधि-विधान है, न विधि और क्रम के खण्डित होने का भय है, न पाप लगने की शंका है, न मात्रा का प्रश्न है। इसमें तो जिस समय, जो और जितना उचित होता है उसी समय, वह और उतना ही कर दिया जाता है। यथासमय समुचित कर्म के यथावत् कर देने मात्र से कर्ता और जनता की बड़े से बड़े भय से रक्षा होजाती है।

८८ 'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ।४१

'(कुरु-नन्दन) कुरु-वंशी! (इह) यहां, कर्मयोग में (वि-अव-साय-आत्मिका बुद्धिः) व्यवसायात्मिका मति (एका हि) एक ही [है]। (अ-वि-अव-सायिनाम्) अव्यवसायियों की (बुद्धयः) बुद्धियां (बहु-शाखाः) बहुत शाखाओं वाली (च) और (अन्-अन्ताः) अनन्त [हैं]।

'व्यवसायी' से तात्पर्य है कर्मव्यवसायी, कर्मयोगी, कर्तव्य-बुद्धि से यथावसर यथोचित कर्म करनेवाले, स्वार्थरहित होकर निष्ठापूर्वक कर्तव्य कर्म का सम्पादन करनेवाले, संगरहित और अनासक्त भाव से कर्तव्य कर्म का अनुष्ठान करनेवाले।

अव्यवसायी कहते हैं उन अकर्मण्य, प्रमाणवादी सिद्धान्तवादियों को जो

बात बात में वेद, शास्त्र की दुहाई देते हैं, हर प्रसंग पर वेद, शास्त्र के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं, क्रियाविशेष के करने से फलविशेष की प्राप्ति का प्रलोभन रखते हैं, यथावसर यथोचित कार्य करने में नितान्त अक्षम सिद्ध होते हैं।

कर्मक्षेत्र में व्यवसायियों की एक निश्चित मति होती है। वे प्रत्येक अवसर पर अपने कर्तव्य का स्पष्ट और सुनिश्चित निर्णय करके उसे क्रियान्वित करते हैं। अव्यवसायियों की मतियां बहुत भेदों वाली और बहुत प्रकार की होती हैं। व्यवसायी जन सब एकमत होते हैं। अव्यवसायी जन कभी एकमत नहीं होते; उनकी मतियां भिन्न भिन्न और अनेक होती हैं।

८९ 'यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ।४२
९० 'कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ।४३

'(पार्थ) अर्जुन ! (अ-विपश्चितः, वेद-वाद-रताः, 'न अन्यत् अस्ति' इति वादिनः) अ-ज्ञानी, वेद-वाद में रत, 'नहीं अन्य है' ऐसा कहने वाले, (काम-आत्मानः स्वः-ग-पराः) [अपने लिए फल की] इच्छा [से कर्म] करनेवाले, स्वर्ग को पर [परम प्राप्य] माननेवाले (याम् इमाम्) जिस इस (पुष्पिताम्) पुष्पित (जन्म-कर्म-फल-प्र-दाम्) जन्मरूप-कर्म-फल-दायिनी (क्रिया-वि-शेष-बहुलाम्) क्रिया-वि-शेष-बाहुल्यवाली, बहुत-कर्मकाण्डपरक (वाचम्) वाणी को (भोग-ऐश्वर्य-गतिम् प्रति) भोगैश्वर्य की प्राप्त्यर्थ (प्र-वदन्ति) बोलते हैं।

इन दो श्लोकों में अव्यवसायियों की अवस्था का दिग्दर्शन कराया गया है। अव्यवसायी जन (अ-विपश्चितः) अ-मेधावी, स्थूलमति होते हैं। वे (वेद-वाद-रताः) वेद-वाद में रत रहते हैं। वेद में ऐसा लिखा है, ऐसा कहा है, इस ऋचा में ऐसा विधान है, ऐसी दन्तकथा में ही अव्यवसायी अपना समय खोते हैं। ('न अन्यत् अस्ति' इति वादिनः) वेदानुसार हम जो व्यवस्था देते हैं वही ठीक है और सब ग़लत है, वे इस प्रकार की बातें कहते हैं। वे (काम-आत्मानः) अपने लिए काम्य [सकाम] कर्म करते हैं। वे (स्वः-ग-पराः) स्वर्गादि की प्राप्ति को ही परम लक्ष्य समझते हैं, लोकहित और शाश्वत मोक्ष का विचार ही नहीं करते। ऐसे व्यवसायी (याम् इमाम् वाचम् प्र-वदन्ति) जिस इस वाणी को उपदेशते हैं वह होती तो है पुष्पिता, बड़ी सुहावनी, बड़ी मोहक, बड़ी लुभावनी पर वह होती है (जन्म-कर्म-फल-प्र-दा) जन्म-मरण के रूप में फल देने वाली, अमोक्षदायिनी। वह होती है (क्रिया-वि-शेष-बहुला) बहुत विधि-विधानों से युक्त क्रियाओं वाली। वह होती है (भोग-ऐश्वर्य-गतिम् प्रति) भोगों और ऐश्वर्यों के प्रति वासनाओं को बढ़ानेवाली।

महाभारत-काल में वेदों का वास्तविक आशय लुप्त होगया था। वेद उस समय सत्य, विवेक, ज्ञान, विज्ञान और आत्मसाधना का विषय न रहकर कोरे कर्मकाण्ड और पाण्डित्य का विषय बन गए थे। उनका प्रयोजन यज्ञ-याग का अनुष्ठान, स्वर्ग-नरक की प्राप्ति, पाप-पुण्य की व्यवस्थामात्र रह गया था। जाति-पांति, ऊंच-नीच, छूत-अछूत, आदि असंख्य कुप्रथाएं प्रचलित होगई थीं—और सब वेद के नाम पर। स्वार्थपरता, अकर्मण्यता, भोगैश्वर्य, विषय-विलास व्याप रहे थे—सब वेद की साक्षी से। उस दुरवस्था का चित्रण इन दो श्लोकों में किया गया है।

९१ 'भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ।४४

'(तया) उस वाणी—उपदेश से, वेदों की उस असंगत व्याख्या से (अप-हृत-चेतसाम्) चेतना-अपहृत, विवेक-नष्ट, बुद्धिभ्रष्ट [उन] (भोग-ऐश्वर्य-प्र-सक्तानाम्) भोग-ऐश्वर्य में आ-सक्त जनों के (सम्-आ-धौ) चित्त में (वि-अव-साय-आत्मिका बुद्धिः) कर्तव्यात्मिका मति (न विधीयते) स्थित—समाहित नहीं होती है।

इस श्लोक में भी पूर्व के दो श्लोकों की ध्वनि ध्वनित हो रही है। जिन लोगों ने वेदों को भोगों और ऐश्वर्यों की प्राप्ति के लिए किए जानेवाले अनुष्ठानों का तथा कर्मकाण्डों का साधनमात्र समझा हुआ है उनके लिए वेद भोगैश्वर्य के प्रति आसक्ति उत्पन्न करनेवाले सिद्ध होते हैं। उनकी मति, उस वेदवाणी से चेतना और सत्य ज्ञान प्राप्त करने के बजाय, जड़ता को प्राप्त होती है। कर्तव्यात्मिका बुद्धि अथ वा अनासक्तकर्म-साधना की बात ऐसे मूढ़मतियों की समझ में ही नहीं आती। वे निष्काम कर्म के रहस्य को नहीं समझ पाते।

९२ 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।४५

'(वेदाः) वेद (त्रैगुण्य-वि-षयाः) त्रैगुण्य-विषय वाले हैं। (अर्जुन) अर्जुन! तू (निः-त्रैगुण्यः) त्रैगुण्य-रहित, (निः-द्वन्द्वः) द्वन्द्व-रहित, (नित्य-सत्त्व-स्थः) सदा-सत्त्व-स्थित, (निः-योग-क्षेमः) योग और क्षेम से रहित तथा (आत्म-वान्) आत्म-वान् (भव) हो।

प्रकृति त्रिगुणात्मक है। सब कुछ, जो प्रकृतिजन्य है, त्रैगुण्य है। आत्मा त्रिगुणातीत है। कृष्ण कहते हैं, 'अर्जुन! वेदों के विषय त्रैगुण्य हैं। तू वेदों से ऊपर उठ और त्रिगुणातीत बन। त्रैगुण्य संसार के सब विषय द्वन्द्वात्मक [सुख-दुःखमय] हैं, तू द्वन्द्व रहित होकर आनन्दमय, सदामुक्त स्थिति में स्थित

हो। त्रैगुण्य संसार सत्त्वविहीन है; तू सत्त्वस्थ रह। त्रैगुण्य संसार योग[अप्राप्त की प्राप्ति] और क्षेम [प्राप्त की रक्षा] का प्रपञ्च है; तू योग और क्षेम से मुक्त [अनासक्त, निर्लेप] रह। त्रैगुण्य संसार शरीर के भोग-विलास का साधन है; तू शरीर के भोग-विलास से अलिप्त रहता हुआ आत्मवान् बन, आत्म-अवस्थित रह।

६३ 'यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।४६

'(यावान् अर्थः) जितना प्रयोजन (उद-पाने) [छोटे] जलाशय में [अथ वा] (सर्वतः सम्-प्लुत-उदके) सर्वतः परिपूर्ण जलाशय में, (वि-जानतः ब्राह्मणस्य) विज्ञान-वान् ज्ञानी का (तावान्) उतना[ही प्रयोजन](सर्वेषु वेदेषु) सब वेदों में।

जलाशय छोटा हो वा बड़ा, मनुष्य अपनी प्यास के परिमाण में उसमें से जलपान करके, तृप्त होकर चला जाता है। सागर हो वा ताल, पंछी को चोंच-भर पानी ही पीना है। वेदों में असंख्य सत्य विद्याएं भरी पड़ी हैं। किन्तु वास्तव में तो वेद का लक्ष्य ब्रह्म की प्राप्ति और मोक्ष की उपलब्धि ही है।

४२-४६ श्लोकों के अर्थ पर विद्वानों ने पर्याप्त खींचातानी की है। इस खींचातानी का मुख्य कारण सिद्धान्तवाद है। किसी भी ग्रन्थ का अर्थ और उसकी व्याख्या करने में टीकाकार को अपनी मान्यताओं, अपने मन्तव्यों और अपने सिद्धान्तों को आगे नहीं रखना चाहिए, अपि तु ग्रन्थकार के आशय का ही उद्घाटन करना चाहिए। टीकाकार को किसी भी ग्रन्थ के किसी भी स्थल से असहमत होने का तो अधिकार है किन्तु उसे किसी भी ग्रन्थ के किसी भी स्थल के आशय में तोड़-मरोड़ करके अपने मन्तव्य को मनवाने का कोई अधिकार नहीं है।

इन पांच श्लोकों में प्रत्यक्षतः वेदों के विषय में लघुता का सा भाव प्रकट किया प्रतीत होता है। श्लोक ४२, ४३, ४४ तथा ४६ का अर्थ कुछ खींचातानी करके वेदानुकूल बिठाया जा सकता है, पर श्लोक ४५ तो स्पष्ट शब्दों में सब वेदों को *त्रैगुण्यविषयाः* [तीन गुणों को विषय करने वाले] कह रहा है। दूसरी ओर स्वयं *गीता* में कई स्थलों पर वेद के विषय में नितान्त समादर और पूर्ण श्रद्धा के साथ उल्लेख किया गया है। अनेक टीकाकारों ने *गीता* के अनेक श्लोकों को प्रक्षिप्त माना है। किन्तु इन पांच श्लोकों को किसी भी जिम्मेदार टीकाकार ने प्रक्षिप्त नहीं माना है। ऐसी स्थिति में इन श्लोकों का यथार्थ अभिप्राय खोजना होगा।

प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। तमः, रजः और सत्, तीनों गुण प्रकृति के माने गए हैं। *त्रैगुण्यविषया वेदाः* का सीधा अर्थ यह है कि वेदों में केवल प्रकृति

का अथ वा त्रिगुणात्मक विषयों का उल्लेख है, न अन्यद् अस्ति, उनमें अन्य अर्थात् त्रिगुणातीतेतर [आध्यात्मिक अथ वा ब्रह्मपरक] कुछ भी नहीं है। दूसरी ओर गीता ८.११-१३ के अनुसार वेदों के विद्वान् जिस पद का वर्णन करते हैं उस पद का नाम एकाक्षर ओं-वाचक ब्रह्म बताया गया है। जिन्होंने चारों वेदों का गहराई के साथ अध्ययन किया है उनसे यह छिपा नहीं है कि वेद में अध्यात्मविद्या का जितना सुन्दर शिक्षण है उतना अन्य किसी ग्रन्थ में नहीं है। सकल उपनिषदों का तथा *गीता* का आदि स्रोत है ईशोपनिषद्, जो यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय है। चारों ही वेदों का अन्तर्निहित सूत्र ब्रह्मज्ञान है। स्वयं *गीता* ९.१७ में कहा है, *ऋक् साम यजुरेव च*, मैं ही ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद हूं। *गीता* १०.२२ में कहा है, *वेदानां सामवेदोऽस्मि*, मैं वेदों में सामवेद हूं। *गीता* १५.१५ में कहा है, *वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*, सब वेदों द्वारा मैं ही ज्ञातव्य हूं। *गीता* १५.१५ में पुनः कहा है, *वेदविदेव चाहम्*, और वेदवित् मैं ही हूं।

यदि अध्याय २ के श्लोक ४२-४६ में पठित *वेदवादरताः*, *वेदाः* तथा *वेदेषु* से तात्पर्य ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद लिया जाता है तो, निश्चय ही, इन श्लोकों से वेदों की लघुता अथ वा क्षुद्रता की स्पष्ट ध्वनि ध्वनित होती है। मेरे विचार में इन श्लोकों का अभिप्राय उपर्युक्त चार वेदों से न होकर कर्मकाण्डपरक वेदों [शास्त्रों] से है। अन्य शास्त्रों के लिए भी वेद शब्द का प्रयोग होता है, यथा, आयुर्वेद, अर्थवेद, धनुर्वेद, नाट्यवेद, यज्ञवेद, तन्त्रवेद, भूतवेद, इत्यादि।

कर्मकाण्डपरक विधिविधानों के वेदों [शास्त्रों] की प्रतीक से इन श्लोकों का नितान्त समाधानकारक और सर्वथा संगत अर्थ बैठ जाता है। इससे पूर्वापर की संगति भी ठीक ठीक लग जाती है।

श्लोक ४१ में कृष्ण ने कहा है, कुरुनन्दन! कर्मयोग में निश्चयात्मक बुद्धि एक ही है। अव्यवसायियों [निश्चयविहीन कर्महीनों] की बुद्धियां [विचारधाराएं] बहुशाखा [बहुविधा] तथा अनन्त [अनेक, असंख्य] हैं।

इससे आगे श्लोक ४२-४३ का अर्थ निम्न प्रकार होगा—

'पार्थ! (अविपश्चितः) अविवेकी, अतत्त्ववित्, (वेदवादरताः) शास्त्रवाद—विद्यावाद—ज्ञानवाद में रत, शास्त्रवादी, ('न अन्यत् अस्ति' इति वादिनः) इस [शास्त्रवाद] के अतिरिक्त अन्य कुछ [साधनीय] नहीं—ऐसा कहनेवाले, (काम-आत्मानः) काम-आत्मा, विषयी, (स्वर्ग-पराः) सुखभोगपरायण लोग (भोगैश्वर्यंगतिम् प्रति) भोगैश्वर्य की प्राप्ति के लिए (याम्) जिस (इमाम्) इस (पुष्पिताम्) पुष्पिता, पुष्पवत् प्रफुल्लिता (जन्मकर्मफलप्रदाम्) आवागमनरूप-

कर्मफलदायिनी (क्रियाविशेष-बहुलाम्) क्रियाविशेषबहुला, बहुत-कर्मकाण्डमयी (वाचम्) वाणी को (प्रवदन्ति) बोलते—चर्चते हैं।

अब ४४वें श्लोक का स्पष्ट अर्थ इस प्रकार होता है—

(तया-अपहृत-चेतसाम् भोगैश्वर्य-प्रसक्तानाम्) उस वाणी से अपहृत-चित्त, भोगेश्वर्यों में आसक्त जनों के (समाधौ) अन्तःकरण में (व्यवसायात्मिका बुद्धिः) निश्चयात्मिका—असंशयात्मिका बुद्धि (न विधीयते) स्थित नहीं होती है।

४५वां श्लोक अब निम्न प्रकार अर्थ देता है—

'सब (वेदाः) विद्याएं, शास्त्र (त्रैगुण्यविषयाः) त्रिगुणात्मक विषयों का प्रकाश करनेवाले हैं। अर्जुन ! तू (भव) हो (निःत्रैगुण्यः) त्रिगुणातीत, (निःद्वन्द्वः) द्वन्द्वरहित, (नित्य-सत्त्व-स्थः) नित्यसत्ता में स्थित, ब्रह्मस्थ और (निःयोगक्षेमः) योग व क्षेम की चिन्ता से मुक्त, अनासक्त तथा (आत्म-वान्) आत्मस्थ।

४६वें श्लोक का आशय अब निम्न प्रकार हो जाता है—

(यावान्) जितना (अर्थः) प्रयोजन (उदपाने) बावड़ी, कूप में तथा (सर्वतः सम्-प्लुत-उदके) सर्वतः परिपूर्ण जल, समुद्र में [होता है] (तावान्) उतना ही प्रयोजन (विजानतः ब्राह्मणस्य) तत्त्ववित् ज्ञानी का (सर्वेषु वेदेषु) सब विद्याओं [शास्त्रों] में [होता है]।

समुद्र में अथाह जल होता है किन्तु मलोपेत और क्षारयुक्त होने के कारण वह पीने वा सींचने के काम नहीं आता है। कूप में थोड़ा जल होता है पर शुद्ध होने से वह पीने और सींचने के काम आता है। उसी प्रकार भौतिक-ज्ञानसम्बन्धी समस्त विद्याएं, कर्मकाण्डपरक सारे शास्त्र और सम्पूर्ण दार्शनिक ग्रन्थ, यह विद्याओं का सागर कर्मयोगी के लिए निरर्थक है। उसके लिए तो निश्चयात्मिका बुद्धि के कूप का अनासक्ति-वारि ही अमृत है।

९४ 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदा चन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गो ऽस्त्वकर्मणि।४७

'(कर्मणि एव अधि-कारः ते) कर्म में ही अधि-कार तेरा, (मा फलेषु कदा चन) फलों में कदापि नहीं। (कर्म-फल-हेतुः) कर्मों के फल का हेतु (मा भूः) मत हो। (अ-कर्मणि) अ-कर्म में (ते) तेरा (सङ्गः) संग (मा अस्तु) न हो।

इस श्लोक में एक उदात्त, एक महदुदात्त, एक समुदात्त सन्देश निहित है जिसे आज के संसार को, और विशेषतः आज के भारत को, भारत की प्रत्येक नागरिका को, अपि च भारत के प्रत्येक नागरिक को बड़े ध्यान से सुनना चाहिए। यह सन्देश कर्माधिकार [कर्तव्याधिकार] और फलाधिकार की विवेचना का बड़ा ही सुन्दर और स्पष्ट विश्लेषण है।

संसार के सभी राष्ट्रविधानों में, और विशेषतया प्रजातन्त्रीय राष्ट्रों के

राष्ट्रविधानों में राष्ट्र के नागरिकों के अधिकारों की तो तालिका दी गई है किन्तु उनके कर्तव्यों की न कहीं कोई तालिका दी गई है, न उनके कर्तव्यों की ओर कहीं कोई संकेत किया गया है। भारत के राष्ट्रविधान की भी यही स्थिति है और ऐसा होना स्वाभाविक था क्यों कि भारत के विधान-निर्माताओं ने अपनी बुद्धि की मौलिकता से कार्य न लेकर, उसके निर्माण में अमेरिका, ब्रिटेन, कनाडा और फ्रांस के विधानों की प्रत्यक्ष चोरी अथ वा उनका अन्धानुकरण किया है।

भारतीय तथा अन्यदेशीय सभी विधानों में नागरिकों के अधिकार [फलाधिकार] की धाराएं तो हैं, कर्माधिकार [कर्तव्याधिकार] की नहीं। परिणामस्वरूप सर्वत्र अधिकारों [फलों की बांट] के लिए लड़ाई-झगड़े और आन्दोलन होरहे हैं, हड़तालें की जारही हैं। तदर्थ जनता और शासन, दोनों ही की ओर से उचितानुचित, छल-कपट, हिंसा-अनाचार, सब कुछ किया जारहा है। फलाधिकार के लिए खुलकर खींचातानी होरही है। दाम बढ़ाओ, काम घटाओ, सब यही कहते हैं। मैं निष्ठापूर्वक काम करूंगा और उत्पादन बढ़ाऊंगा, यह कोई नहीं कहता है। इस कोलाहल और खींचातानी से दोनों ही ओर लाभ और शान्ति के स्थान में हानि और अशान्ति ही पल्ले पड़रही है। फलाधिकार के चक्र में पड़कर ही सारा संसार भयानक विनाश के सामने मुख-समुख खड़ा हुआ है। फलाधिकार की प्राप्ति के लिए मिल का मज़दूर मिल के उत्पादन में वृद्धि करने के बजाय मिल के उत्पादन में क्षति करके मिल की आय को गिरारहा है। मजदूर को यह विचार नहीं आरहा है कि मिल का उत्पादन और लाभ गिराकर वह अपनी आय में वृद्धि कैसे और कब तक प्राप्त कर सकेगा।

अधिकार [फलाधिकार] मज़दूर से कहता है, 'यदि मिलमालिक तेरी पगार नहीं बढ़ाता है तो तू जिस मिल में काम करता है उस मिल को क्षति पहुंचा और उसमें आग लगा। जिस डाल पर तू बैठा है उसी की जड़ पर कुल्हाड़ा मार, भले ही डाल के कटने पर तू स्वयं भी नीचे क्यों न गिर पड़े और तेरी अपनी भी हड्डी-पसली क्यों न टूट जाएं।' उधर मिलमालिक भी अधिकार [फलाधिकार] के फेर में परेशान होरहा है। वह अपने फलाधिकार पर अड़ा हुआ कहता है, 'मैं मिल का स्वामी हूं। मिल में मेरी पूंजी लगी हुई है। अधिक से अधिक लाभ और सुख मुझे मिलना चाहिए। मेरे दिए वेतन पर पलनेवाले मजदूर का मेरी मिल में अधिकार क्या?' सब वर्गवाद और सब बखेड़े इस अधिकार—फलाधिकार की ही उपज हैं।

कृष्ण कहते हैं, 'मानव! कर्म में ही तेरा अधिकार हो, फलों में कदापि

नहीं। कर्माधिकार से ही वास्ता रख, फलाधिकार से बिल्कुल नहीं।' फलों की चिन्ता न करता हुआ मालीवत् वृक्ष का रक्षण, पोषण और सेचन किए चला जा। फल तो स्वयमेव लगेंगे ही, फल की चिन्ता क्यों? वास्तव में, चिन्ता वा झगड़ा फलों के विषय में है भी नहीं। सारे उपद्रव फलों के बटवारे के लिए हैं। फलों के बटवारों के झगड़ों में वृक्ष और फल, दोनों ही नष्ट होरहे हैं। बांसरियों के बटवारे में बांसों के जंगलों में ही आग लगाई जारही है। बांसों के जलने पर बांसरी बनेगी कहां से? 'कर्म में, कर्तव्य के पालन में तू अपना पूरा अधिकार रख। किन्तु फलों के बटवारे में तू अपना अधिकार मत जमा। कर्तव्य के लिए कर्म कर और फलों के विषय में *इदं न मम* की यज्ञिय भावना रख।' मज़दूर कहे, 'मिल स्वामी की है। मैं सेवक हूं। मैं स्वामिभक्त हूं। उत्पादन और लाभ बढ़ाना मेरा पुनीत कर्तव्य है। मुनाफ़े पर अधिकार जताना मेरा कार्य नहीं।' उधर स्वामी कहे, 'जिस मज़दूर ने खून-पसीना एक करके मुझे इतना धन कमाकर दिया है उसकी सुख, सुविधा और आवश्यकता की पूर्ति करना मेरा धर्म है।' स्वामी और सेवक, दोनों ही *इदं न मम* का पाठ पढ़ें और उस पर आचरण करें तो कलह और क्लेश, संकट और द्वेष समाप्त होजाएं।

कर्मणि एव अधिकारः ते, मा फलेषु कदाचन, इसका एक अन्य सुन्दर आशय भी है। अर्जुन ने कहा था, 'कृष्ण! यह भी तो निश्चय नहीं कि हम जीतेंगे ही, फिर युद्ध करने से क्या लाभ?' कृष्ण कहते हैं! 'अर्जुन, कर्म में ही तेरा अधिकार हो सकता है, फलों में कदापि नहीं हो सकता। तू न्याय के लिए युद्ध कर। फल की चिन्ता न कर।' कर्तव्य कर्म का सम्पादन करना ही मनुष्य के अपने वश की बात है। अभीष्ट फल की प्राप्ति पूर्ण रूप से अपने वश में नहीं। किसान खेत बोता है, खाद देता है, सींचता है, रखवाली करता है, फिर भी क्या पता कि उसे अन्नभण्डार की प्राप्ति होगी वा नहीं। अतिवृष्टि से फ़सल बर्बाद हो सकती है। पके-पकाए खेत में आग लग सकती है। फ़सल काटने में बहुधा सफलता होती है, बहुधा नहीं भी होती। फिर भी खेती करनी ही चाहिए। परिणाम में सफलता हो वा विफलता, करणीय कर्म करना ही चाहिए, कर्तव्य कर्म का निष्पादन किया ही जाना चाहिए। 'कर्म कर, लक्ष्य की ओर चल, परिणाम की चिन्ता न कर।'

तू 'कर्मफल का हेतु न बन, न अकर्म की ओर तेरा झुकाव हो,' इस कथन में एक रहस्य है, जिससे कर्मयोग का पथ प्रशस्त होता है। कर्म के लिए कर्म करे, मनुष्य कर्मफल का हेतु न बने। फल के हेतु से अथ वा फल के लिए नहीं, कर्तव्यबुद्धि से कर्म करना ही कर्मयोग है।

आश खेती के पनपने की हमें हो या न हो ।
हैं मगर पानी दिए जाते किसानों की तरह ॥

और अकर्मण्यता तो किसी भी अवस्था में विहित नहीं है । मनुष्य-योनि तो है ही कर्मयोनि । कर्मयोनि में कर्म करना ही चाहिए । 'अर्जुन ! जय हो वा पराजय, युद्ध अवश्य कर । किसी भी अवस्था में युद्ध करना ही श्रेयस्कर है । प्रत्येक अवस्था में कर्म करने में ही कल्याण है । युद्ध नहीं करूंगा, ऐसा कहना उचित नहीं । युद्ध ही सार है । संसार में संघर्ष करना ही जीवन की सार्थकता है ।'

९५ 'योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।८४

'(धनम्-जय) धन-जयी [अर्जुन] ! (योग-स्थः) योग-युक्त होकर, (सङ्गम् त्यक्त्वा) आसक्ति को त्यागकर, (सिद्धि-अ-सिद्ध्योः समः भूत्वा) सिद्धि-अ-सिद्धि में सम होकर (कर्माणि) कर्मों को (कुरु) कर । (सम-त्वम् योगः उच्यते) सम-भाव योग कहाता है ।

९६ 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद् धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ।४९

'(धनम्-जय) अर्जुन ! (बुद्धि-योगात्) बुद्धि-साम्य से, समभावयोग की अपेक्षा (कर्म) [आसक्तियुक्त] कर्म, (हि) निश्चय से, (दूरेण) दूर से [ही], अतीव (अ-वरम्) अ-श्रेष्ठ, नि-कृष्ट [है] । तू (बुद्धौ) बुद्धि, बुद्धिसाम्य, समत्व में (शरणम् अनु-इच्छ) शरण चाह । (फल-हेतवः) फलाकांक्षी जन (कृपणाः) कृपण [हैं] ।

९७ 'बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ।५०

'(बुद्धि-युक्तः) बुद्धि-युक्त, समभाव-युक्त [पुरुष] (सु-कृत-दुः-कृते उभे) सुकृत-दुष्कृत, दोनों को (इह) यहीं (जहाति) त्याग देता है । (तस्मात्) अतः (योगाय युज्यस्व) योगार्थ युक्त हो । (कर्मसु कौशलम् योगः) कर्मों में कुशलता योग [है] ।

९८ 'कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ।५१

'(बुद्धि-युक्ताः मनीषिणः) बुद्धि-युक्त ज्ञानी [जन] (हि) ही (कर्म-जम् फलम् त्यक्त्वा) कर्म-ज फल को त्यागकर (जन्म-बन्ध-वि-निर्-मुक्ताः) जन्म-बन्धन से मुक्त होकर (अन्-आमयम् पदम्) अन्-आमय पद को (गच्छन्ति) जाते हैं, प्राप्त करते हैं ।

४८-५१ श्लोकों पर एक साथ विचार करने से समझने में सरलता होगी।

श्लोक ४८ में अर्जुन से कहा गया है, तू कर्मों को कर। किस प्रकार? योगयुक्त होकर। 'योगयुक्त होकर' से क्या तात्पर्य है? आसक्ति त्यागकर। 'आसक्ति त्यागकर' का क्या अर्थ है? सिद्धि-असिद्धि में सम होकर। और समभाव का नाम ही योग अथ वा योगयुक्त होना है।

श्लोक ४९ में कहा गया है, बुद्धियोग की अपेक्षा आसक्तियुक्त कर्म, निश्चय से, अतीव निकृष्ट है। तू बुद्धि में शरण चाह, अर्थात्, बुद्धि में स्थित होने की इच्छा कर। फलाकांक्षी जन कृपण हैं। इस श्लोक में प्रयुक्त *बुद्धियोग* तथा *बुद्धि* शब्द समत्व अथ वा समभाव अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।

श्लोक ४८ के अनुसार कर्तव्य कर्मों का सम्पादन अवश्य करना चाहिए, किन्तु योगस्थ [योगयुक्त] होकर करना चाहिए। आसक्तिरहित होकर कर्मों के सम्पादन करने का नाम ही योगस्थ होकर कर्म करना है। फल को नहीं, केवल कर्तव्य को दृष्टि में रखकर कर्मों को करना ही आसक्तिरहित होकर कर्म करना है अथ वा योगस्थ होकर कर्म करना है। विषय को और अधिक स्पष्ट करने के लिए कहा गया है कि सिद्धि-असिद्धि में सम होकर कर्मों को करना चाहिए। सफलता होगी वा विफलता, इसकी चिन्ता न करते हुए कर्म करना और परिणाम में सिद्धि हो अथ वा असिद्धि, प्रत्येक अवस्था में अपने मस्तिष्क के सन्तुलन को, अपनी बुद्धि की साम्यावस्था को अक्षुण्ण रखना ही योगस्थ होकर वा आसक्तिरहित होकर कर्म करना है। इस प्रकार कार्य करने का नाम समत्व है और कर्मक्षेत्र में समत्व का नाम ही *योग*, *बुद्धियोग* तथा बुद्धि है।

श्लोक ४९ में बताया गया है कि बुद्धियोग [समत्व] की अपेक्षा आसक्ति-युक्त कर्म बहुत ही निकृष्ट है। अतः कर्मक्षेत्र में बुद्धि [समत्व] का ही आश्रय लेना चाहिए, योगस्थ, आसक्तिरहित और समभाव से युक्त होकर ही कार्य करना चाहिए। वे योगी हैं, वे कर्मयोगी हैं, वे कर्मवीर हैं जो समत्व के साथ कर्म करते हैं। वे कृपण हैं, दीन हैं, अधम हैं जो फलासक्त वा फलाश्रित होकर कर्म करते हैं।

जो आसक्तिरहित होकर समभाव से कर्मों का सम्पादन करते हैं वे योगी हैं, वे उदार हैं। जो आसक्तियुक्त और फलाश्रित होकर कर्म करते हैं वे कृपण हैं।

श्लोक ५० के अनुसार योगयुक्त और अनासक्त होकर कर्म करनेवाला योगी सुकृत और दुष्कृत, दोनों को यहीं त्याग देता है। बन्धन का हेतु कर्म नहीं है, कर्मफलेच्छा है। उसके लिए कोई भी कर्म न सुकर्म है, न दुष्कर्म। उसके

लिए तो प्रत्येक कर्म केवल कर्तव्य कर्म है और कुछ नहीं। कर्मों में फलाश्रय न होने के कारण कर्म करता हुआ भी वह अकर्ता है। वह सुकृत और दुष्कृत, दोनों से ऊपर है। वह न कर्म करता है, न कर्म के फलों से बद्ध है। मनुष्य का वध करना पाप है, अपराध है। स्वार्थ के लिए वध करना दुष्कर्म है। पदवृद्धि वा इनाम पाने की भावना से देश की रक्षार्थ एक सैनिक अनेक आक्रमणकारियों का वध करता है, यह एक सुकर्म है। केवल न्याय की रक्षार्थ, एकमात्र कर्तव्यबुद्धि से एक नागरिक युद्ध में डट जाता है; यह न दुष्कर्म है, न सुकर्म है। वह दोनों प्रकार के कर्मों से ऊंचा उठा हुआ है। वह योगी है। वह कर्मफल के बन्धन से मुक्त है। ऐसे योगी के लिए ही कहा गया है कि वह दोनों प्रकार के कर्मों को यहीं, इसी जन्म में त्यागकर जीवन्मुक्त होजाता है। योगयुक्त हुआ वह कर्मों में कौशल का परिचय देता है। अनासक्ति के साथ कर्मकुशलता का होना योग है।

इस तात्पर्य को श्लोक ५१ में और अधिक स्पष्ट किया गया है। सुकृत-दुष्कृत से ऊपर उठे हुए, योग की वुद्धि से युक्त, मनीषी, जीवन्मुक्त जन कर्मजन्य फल को त्यागकर और जन्मवन्धन से छुटकारा पाकर अनामय पद को प्राप्त करते हैं। *आमय* का अर्थ है रोग और मृत्यु। रोग और दुःख से अत्यन्त मुक्ति तभी होती है जब देह [जन्म] से छुटकारा होता है। पुनर्जन्म का कारण कर्मफल है। कर्मफल का कारण है आसक्ति। जिसने कर्मासक्ति और फलासक्ति का नितान्त त्याग कर दिया है, जो सुकृत और दुष्कृत, दोनों से ऊपर उठ गया है उस जीवन्मुक्त का जन्मबन्धन क्षीण होजाता है। वह जीते-जी जीवन्मुक्त रहता है और देह त्यागने पर अनामय पद प्राप्त करता है, जहां न रोग है न मृत्यु, न जरा है न पुनर्जन्म।

६९ 'यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।५२

'(ते बुद्धिः) तेरी बुद्धि (यदा) जब (मोह-कलिलम्) मोह-दलदल को (वि-अति-तरिष्यति) पार कर जायेगी, तू (तदा) तब (श्रोतव्यस्य च श्रुतस्य) श्रोतव्य और श्रुत की (निः-वेदम्) ग्लानि को (गन्तासि) प्राप्त करेगा।

तत्त्वज्ञान से मोहकलिल को पार कर जाने पर मनुष्य की सुननेयोग्य और सुने हुए से उदासीनता होजाती है। सुस्वास्थ्य के लिए नियताहार उपादेय होता है। वैसे ही कर्मक्षेत्र में समभाव योगी के लिए नियत अन्तःश्रवण ही उपादेय होता है। वह श्रवण और भाषण से उसी प्रकार ऊंचा उठ जाता है जिस प्रकार वह सुकृत और दुष्कृत से ऊंचा उठता है। वह शास्त्रीय रूढ विधि-निषेध की दासता से मुक्त होजाता है। समभाव योगी की योगयुक्त बुद्धि

श्रौर उसकी कर्मकुशलता को शास्त्रीय प्रमाणों की श्रावश्यकता नहीं रहती है।

१०० 'श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।'५३

'(यदा) जब (ते) तेरी (श्रुति-वि-प्रति-पन्ना) विविध श्रवण से विचलित (बुद्धिः) बुद्धि (सम्-श्रा-धौ) समाधि में (श्र-चला निः-चला) श्र-चला, निश्चला होकर (स्थास्यति) स्थिर हो जायेगी, तू (तदा) तब (योगम्) योग को (श्रव-श्राप्स्यसि) प्राप्त होगा।'

विविध शास्त्रों की विविध बातें सुनकर मनुष्य गड़बड़ा जाता है। जब मनुष्य की बुद्धि समाधि में स्थित होजाती है, वा कहिए, जब मनुष्य की बुद्धि योगयुक्त होजाती है तब वह योग को, समभाव स्थिति को प्राप्त होता है। तब वह प्रत्येक विषय में श्रपनी श्रन्तर्दृष्टि से ही यथार्थ श्रौर यथावत् निर्णय करने में समर्थ होता है। तब वह समत्वयोग श्रौर कर्मकौशलयोग को प्राप्त हुश्रा सतत समाधि में स्थित रहता है, श्रविचल-श्रचल-श्रकम्प रहता है। वह स्थितप्रज्ञ होजाता है।

श्रर्जुन उवाच

१०१ 'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव?
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्?'५४

श्रर्जुन ने पूछा, '(केशव) केशव! (सम्-श्रा-धि-स्थस्य स्थित-प्र-ज्ञस्य) समाधि-स्थ स्थित-प्र-ज्ञ की (का भाषा) क्या परिभाषा [है]? (स्थित-धीः) स्थित-प्रज्ञ (किम् प्र-भाषेत) क्या बोले, (किम् श्रासीत) क्या बैठे, (किम् व्रजेत) क्या चले?'

इस श्लोक में श्रर्जुन ने चार प्रश्न किए हैं,

१) स्थित-प्रज्ञ का क्या लक्षण है?

२) स्थित-प्रज्ञ किस प्रकार बोलता है, क्या कहता है, कैसे शब्द उच्चारण करता है?

३) स्थित-प्रज्ञ किस प्रकार बैठता है, संसार में किस प्रकार विराजता है?

४) स्थित-प्रज्ञ किस प्रकार चलता है, किस प्रकार व्यवहार करता है, कैसे जीवन-निर्वहन करता है?

१०२ 'प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
श्रात्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।५५

'(पार्थ) श्रर्जुन! मनुष्य (यदा) जब (सर्वान् मनः-गतान् कामान्) सब मनो-गत कामनाश्रों को (प्र-जहाति) त्याग देता है [श्रौर] (श्रात्मनि एव आत्मना तुष्टः) श्रात्मा—परमात्मा में ही श्रात्मना सन्तुष्ट [रहने लगता है] (तदा) तब (स्थित-प्र-ज्ञः) स्थित-प्रज्ञ (उच्यते) कहाता है।

जब जिस मनुष्य की ऐसी स्थिति होजाती है कि वह अपने मन में से सब कामनाओं का निराकरण करके आत्मा द्वारा आत्मा—परमात्मा में ही सन्तुष्ट रहने लगता है तब वह मनुष्य *स्थितप्रज्ञ* कहलाता है।

कामना अथ वा संकल्प तो मन का स्वाभाविक कार्य है। जिस प्रकार नेत्र का कार्य देखना है, श्रोत्र का कार्य सुनना है, नाक का कार्य सूंघना है, रसना का कार्य चखना है, त्वचा का कार्य स्पर्श है, बुद्धि का कार्य विचारना है, चित्त का कार्य चेताना है वैसे ही मन का कार्य संकल्प-विकल्प करना है, कामना करना है। जब कोई भी इन्द्रिय अपने स्वाभाविक कार्य का त्याग नहीं करती है, तब मन-इन्द्रिय अपने स्वाभाविक कार्य का त्याग किस प्रकार कर सकती है ?

यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, जिसका समाधानकारक उत्तर मिलने पर ही *गीता* का रहस्य आगे चल कर समझा जा सकता है, अन्यथा नहीं।

इस सम्बन्ध में *यजुर्वेद* के चौंतीसवें अध्याय के प्रथम छह मन्त्र अवलोकनीय हैं। उनका पद्यानुवाद नीचे दिया जाता है।

जो जागते हुए का जाता दूर दूर,
वह सोते हुए का जाता तथा एव।
दिव्य दूरगामी ज्योतियों की ज्योति एक,
वह ही मेरा मन हो सदा शिवसंकल्पयुक्त।१
यज्ञ में संग्रामों में करते जिससे
कर्मों को कर्मनिष्ठ मनीषी धीर।
है जो अपूर्व प्रजाओं के मध्य पूज्य,
वह मेरा मन हो सदा शिवसंकल्पयुक्त।२
है जो प्रज्ञानमय, चैतन्य तथा धृतिमय,
है जो ज्योति अमर प्रजाओं के मध्य,
नहीं जिसके विना किया जाता कुछ भी कर्म
वह मेरा मन हो सदा शिवसंकल्पयुक्त।३
है जिस अमृत से जकड़ा हुआ यह सब,
जकड़ा है जिससे भूत, भविष्यत्, वर्तमान।
किया जाता है जिससे सप्त-होता यज्ञ,
वह मेरा मन हो सदा शिवसंकल्पयुक्त।४
जिसमें ऋक्, साम, जिसमें यजुः
हैं प्रतिष्ठित, रथनाभि में अरों के समान।
है जिसमें ओत-प्रोत प्रजाओं का सकल चित्त,

वह मेरा मन हो सदा शिवसंकल्पयुक्त ।५
सुषारथि जैसे वेगवान् अश्वों को रासों से,
जो घुमाता है मनुष्यों को इधर उधर ।
है जो हृदय में स्थित, जरारहित, वेगतम,
वह मेरा मन हो सदा शिवसंकल्पयुक्त ।६

इन मन्त्रों से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि स्वप्न और जागरिति में जो कुछ भी किया जाता है वह सब मन की सहायता से ही किया जाता है। स्वप्न और जागरिति में मन सदा ही गति करता रहता है। कामना अथ वा संकल्प के रूप में ही मन गति करता है। स्वप्न और जागरिति में मन कदापि कामना-रहित अथ वा संकल्परहित नहीं रह सकता। यह तो हो सकता है कि स्वप्नावस्था में तथा जागरितावस्था में मन अशिवसंकल्पयुक्त न रहकर शिव-संकल्पयुक्त रहे किन्तु यह कदापि नहीं हो सकता कि इन दो अवस्थाओं में वह संकल्प—कामनारहित रह सके।

तो फिर क्या *गीता* और वेद के मन्तव्य में परस्पर मतभेद है? नहीं, ऐसा नहीं है। प्रथम वेदमन्त्र एक रहस्यपूर्ण संकेत कर रहा है, जिससे *गीता* के इस श्लोक पर की गई शंका अथ वा आपत्ति का पूर्ण समाधान होजाता है। प्रथम मन्त्र से ध्वनित होता है कि जागते हुए और सोते हुए का मन ही दूर दूर जाता है। जागरितावस्था और स्वप्नावस्था में ही मन दूर और समीप के विषयों के बारे में संकल्प वा कामना करता है। इन दो अवस्थाओं के अतिरिक्त एक तीसरी अवस्था है सुषुप्ति [सु-सुप्ति] जिसमें सम्पूर्ण अन्तःकरण [बुद्धि—Mind, मेधा—Sub-conscious Mind, मन और चित्त] सुषुप्त होजाता है। [यहां केवल मन के विषय में प्रकाश डालना है।] सुषुप्ति अवस्था में भी मन कामना अथ वा संकल्प से रहित नहीं होता है। सुषुप्ति अवस्था में मन की कामनाएं अथ वा मन के संकल्प सुषुप्त होजाते हैं। सुषुप्ति अवस्था की समाप्ति पर सुप्त कामनाएं अथ वा सुप्त संकल्प पुनः जागरित होजाते हैं।

इन तीनों अवस्थाओं के अतिरिक्त एक अवस्था है जिसे तुर्यावस्था [चतुर्थ अवस्था] कहते हैं। तुर्यावस्था आत्मा की सतत, सन्तत, निरन्तर, अनवरत जागरण की अवस्था है। तुर्यावस्था की प्राप्ति पर शेष तीनों [जागरिति, स्वप्न, सुषुप्ति] अवस्थाएं समाप्त होजाती हैं। तुर्यावस्था में अन्तःकरण [बुद्धि, मेधा, मन, चित्त] तथा बाह्य करणों [बाह्येन्द्रियों] का स्वतन्त्र व्यापार समाप्त होजाता है। तुर्यावस्था में उभय करणों का व्यापार, बौद्धिक, मानसिक अथ वा दैहिक न रहकर, आत्मिक होजाता है। योगी को तुर्यावस्था की सिद्धि होने पर आत्मा जागरिति, स्वप्न और सुषुप्ति, तीनों अवस्थाओं में समान रूप से

जागरित रहता है। तब तीनों अवस्थाओं में योगी के आत्मा का अपने उभय करणों पर पूर्ण प्रभाव और नितान्त अधिकार रहता है।

तुर्यावस्था में योगी अनवरत आत्म-अवस्थित रहता हुआ बिना किसी व्यवधान के सदा ब्रह्मस्थ रहता है। उसका जीवन नितान्त दिव्य होजाता है। उसकी प्रत्येक चेष्टा और क्रिया मन की कामना अथ वा मन के संकल्प से चालित न होकर आत्मप्रेरित अथ वा ब्रह्मप्रेरित होती है। ऐसा योगी इच्छा वा संकल्प से मुक्त हुआ स्वभावतः भी दिव्य कर्म ही करता है; वह न तामसी कर्म करता हैं, न राजसी, न सात्त्विक। वह केवल दिव्य कर्म करता है। त्रिगुणात्मक कर्मों के लिए ही त्रिगुणात्मक मन के त्रिगुण-संकल्प अपेक्षणीय हैं, दिव्य कर्मों के लिए नहीं। तुर्यावस्था त्रिगुणातीत अवस्था है जिसमें योगी की मनोगत सम्पूर्ण कामनाएं निराकृत और निर्गत हो जाती हैं और जिसमें योगी आत्मा—परमात्मा में ही आत्मना सन्तुष्ट, तृप्त, आनन्दित और प्रप्रेरित रहता है। ऐसी स्थिति में स्थित योगी को *स्थितप्रज्ञ* कहते हैं।

१०३ 'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।५६

'(दुःखेषु) दुःखों—आपत्तियों में (अन्-उद्-विग्न-मनाः) अनुद्विग्न-मन—शान्त, (सुखेषु) सुखों में (वि-गत-स्पृहः) स्पृहा-रहित, (वि-इत-राग-भय-क्रोधः) राग-भय-क्रोध से रहित (मुनिः) मुनि (स्थित-धीः) स्थितप्रज्ञ (उच्यते) कहाता है।

पूर्व-श्लोक की व्याख्या में बताया जा चुका है कि मनोगत कामनाओं से मुक्त तुर्यावस्थास्थ योगी जार्गति, स्वप्न और सुषुप्ति, तीनों अवस्थाओं से ऊपर उठ जाता है। ये तीनों अवस्थाएं भौतिक शरीर [अन्तःकरण और वाह्य करणों] की हैं। भौतिक शरीर त्रिगुणात्मक प्रकृति से वना हुआ है। त्रिगुणात्मक प्रकृति विकारवान् है। दुःख, सुख, उद्विग्नता [घवड़ाहट, बेचैनी], स्पृहा, कामना, राग, द्वेष, भय, क्रोध—ये सब कोई भावात्मक सत्ताएं नहीं हैं, त्रिगुणात्मक प्रकृति से बने मन की विशेष अवस्थाएं हैं। द्वेष, दुःख, अनुद्विग्नता, भय और क्रोध मन की तामसी अवस्था के द्योतक हैं। स्पृहा और राग मन की राजसी अवस्था के द्योतक हैं। सुख मन की सात्त्विक अवस्था का द्योतक है। मन की तीनों अवस्थाओं से ऊपर उठा हुआ तुर्यावस्थास्थ योगी न दुःखों से बेचैन होता है, न सुखों की स्पृहा [इच्छा] करता है। इस स्थिति को प्राप्त मुनि स्थितप्रज्ञ कहलाता है।

१०४ 'यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत् तत् प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।५७

(यः) जो (सर्वत्र) सब जगह, सब विषयों में (अन्-अभि-स्नेहः) सर्वतः

स्नेह-रहित [है और] (तत् तत् शुभ-अ-शुभम् प्र-आप्य) उस उस शुभ-अशुभ को प्राप्त करके (न अभि-नन्दति) न अभि-नन्दन करता, हर्षित होता है, (न द्वेष्टि) न द्वेष करता है, (तस्य प्र-ज्ञा) उसकी प्र-ज्ञा (प्रति-स्थिता) सु-स्थिर [होती है। वह स्थितप्रज्ञ होता है]।

जब तक मन कामनारहित [संकल्परहित] नहीं होता है तभी तक शुभ से स्नेह और अशुभ से ग्लानि होती है। तुर्यावस्था को प्राप्त करके जिसका मन कामनारहित होगया है उसके लिए क्या शुभ, क्या अशुभ ? जो कामना-रहित होगया है उसे अशुभ की प्राप्ति पर द्वेष और शुभ की प्राप्ति पर हर्ष कैसा ? वह तो शुभ-अशुभ, हर्ष-शोक, राग-द्वेष से सदा मुक्त रहता है। इस स्थिति को प्राप्त योगी की प्रज्ञा सुस्थिर होती है। जिसकी प्रज्ञा सुस्थिर है वही स्थितप्रज्ञ है।

१०५ 'यदा संहरते चायं कूर्मो ऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।५८

'(च) और (यदा) जब (अयम्) यह [योगी अपनी] (इन्द्रियाणि) इन्द्रियों को (इन्द्रिय-अर्थेभ्यः) इन्द्रियों के अर्थों—विषयों से (सर्वशः) सब ओर से [ऐसे] (सम्-हरते) समेट लेता है (इव) जैसे (कूर्मः) कछुआ [अपने] (अङ्गानि) अंगों को [समेट लेता है] [तब] (तस्य) उसकी (प्र-ज्ञा) प्र-ज्ञा (प्रति-स्थिता) सु-स्थिर [होती है]।

मन की कामनाएं ही इन्द्रियों को विषयों की ओर प्रेरती हैं। तुर्यावस्थास्थ योगी का मन कामनारहित होजाता है। कामनारहित मन न विषयों की कामना करता है, न इन्द्रियों को विषयों की ओर प्रवृत्त करता है। परिणाम-स्वरूप, इन्द्रियां विषयों से निवृत्त होकर ऐसे अन्तर्मुख होजाती हैं जैसे कछुआ अपने अंगों को अन्दर की ओर समेट लेता है।

१०६ 'विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसो ऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।५९

'(निर्-आ-हारस्य देहिनः) निराहार मनुष्य के (विषयाः) सब विषय (रस-वर्जम्) रसातिरिक्त (वि-नि-वर्तन्ते) नि-वृत्त होते हैं। (परम्) पर—परम—परब्रह्म को (दृष्ट्वा) देखकर (अस्य) इसका (रसः अपि) रस भी (नि-वर्तते) नि-वृत्त होजाता है।

निराहार [विषयों का सेवन न करने] से विषयों का निराकरण तो होजाता है किन्तु विषयों का रस, विषयों की वासना बनी रहती है। और जब तक विषयों की वासना रहती है तब तक विषयों के प्रति पुनः प्रवृत्त होने की सम्भावना बनी रहती है। विषयों का नितान्त निर्मूलन तभी होता है जब

योगी पर ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है, जब योगी परम तत्त्व का दर्शन करलेता है, जब योगी परम तत्त्व का बोध प्राप्त करलेता है। पर ब्रह्म से युक्त होकर ही योगी माया से वियुक्त होता है। परम में परम प्रवृत्ति होने पर ही मनुष्य की विषयों से पूर्ण निवृत्ति होती है।

१०७ 'यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।६०

'(कौन्तेय) कुन्तीपुत्र—अर्जुन ! (यततः विपश्चितः पुरुषस्य) यत्न करते हुए मेधावी पुरुष की (हि अपि) भी (प्र-माथीनि इन्द्रियाणि) प्र-मथनशील इन्द्रियां (प्र-सभम्) बलात्—हठात् (मनः) मन को (हरन्ति) हर लेती हैं।

मन तो प्रमाथी है ही, इन्द्रियां भी मन से कम प्रमाथिनी नहीं हैं। यही नहीं है कि मन ही इन्द्रियों को हर लेता है, इन्द्रियां भी मन को हरलेती हैं। यही नहीं है कि मन के पीछे इन्द्रियां चलती हैं, मन भी इन्द्रियों के पीछे पीछे, परवश होकर चलता है। यही नहीं है कि मन इन्द्रियों को विषयों की ओर दौड़ाता है, इन्द्रियां भी मन को विषयों की ओर दौड़ाती हैं।

अनेक दम्पती ऐसे हैं जो मन से तो चाहते हैं कि संयम द्वारा सन्तति-निरोध करें। वे तदर्थ अपने मन की सम्पूर्ण संकल्पशक्ति के साथ उस दिशा में पूर्ण यत्न भी करते हैं। किन्तु विषयानुरक्त और विषयाभ्यासी इन्द्रियां मन द्वारा वर्जन किए जाने पर भी स्वभाव से उत्तेजना को प्राप्त होकर विषययुक्त होजाती हैं और मन इन्द्रियों का अनुगमन करता है।

अनेक मद्यपेयी हैं जो मन से मद्यपान का वर्जन करना चाहते हैं। किन्तु समय पर हुड़क उठती है और मनुष्य हठात् मद्यपान में प्रवृत्त होजाता है। मन परवश-सा अपने को निरुपाय पाता है।

बहुत व्यक्ति हैं जो मन से असत्यभाषण करना नहीं चाहते। किन्तु स्वभाववश असत्य बोल जाते हैं। मन भी असत्यभाषण में अपना योग देने लगता है।

अनेक जन क्रोध का मन से परित्याग करना चाहते हैं। किन्तु मन अपने को निरुपाय पाता है और अवसर पड़ने पर बलात् क्रोध का भागीदार बनता रहता है।

केवल मनःसंयम से विषयराहित्य सिद्ध नहीं हो सकता, अपि तु इन्द्रियों का संयम भी परम आवश्यक है। इन्द्रियों का पुराना दुरभ्यास दूर करके जब तक उन्हें सदभ्यासी न बनाया जाएगा तब तक केवल मनःसंयम किसी काम नहीं आएगा।

वास्तव में, मन:संयम और इन्द्रियनिग्रह, दोनों सहसाधना की अपेक्षा रखते

हैं। विवेक और अभ्यास से निरन्तर मनःसंयम, और विषयवर्जन से अनवरत इन्द्रियनिग्रह करते करते कालान्तार में मन-इन्द्रियवशीकार, मन और इन्द्रियों का सहजवशीकार सिद्ध होता है। इन्द्रियों पर आरूढ़ होजाने पर मनःसंयम सरलता से सिद्ध होजाता है। मन और इन्द्रियों का पूर्ण संयम निष्पादन करलेने पर ही योगी स्थितप्रज्ञ बन सकता है।

१०८ 'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।६१

'जो (तानि सर्वाणि) उन सब [इन्द्रियों तथा मन] को (सम्-यम्य) नि-यन्त्रित करके (युक्तः) युक्त—समाहित [तथा] (मत्-परः) मत्-परायण, मुझ से अनुरक्त (आसीत) होगया हो [और] (यस्य हि) जिसकी कि (इन्द्रियाणि) इन्द्रियां (वशे) वश में [होगई हों] (तस्य प्र-ज्ञा प्रति-स्थिता) उसकी प्र-ज्ञा सु-स्थित [होती है। वह स्थितप्रज्ञ है]।

इस श्लोक पर विचार करने से पूर्व मत्पर शब्द पर विचार करना आवश्यक है। इस शब्द का स्पष्टीकरण होजाने पर सम्पूर्ण *गीता* का स्पष्टीकरण होजाएगा और इस प्रकार के ऐसे अनेक स्थलों का भी रहस्य खुल जाएगा। *गीता* में प्रयुक्त इस शब्द से और ऐसे शब्दों से चौंककर अनेक विद्वान् *गीता* को अवैदिक ग्रन्थ बताते हैं, कृष्ण पर अपने को परमात्मा कहने-कहलाने का आक्षेप लगाते हैं, कृष्ण को जालिया और *गीता* को जालग्रन्थ ठहराते हैं। यह उन विद्वानों की अपनी स्वयं की अज्ञता अथ वा अनभिज्ञता का ही परिचायक है।

कृष्ण योगीश्वर भी थे और योगेश्वर भी। ब्रह्मस्थ योगी को *योगीश्वर* कहते हैं। अनासक्त, उपायज्ञ, कुशलकर्मा को *योगेश्वर* कहते हैं। ब्रह्मस्थ अथ वा ब्रह्मलीन होकर जब योगी बोलता है तब वह आत्मभाषा में नहीं, ब्रह्मभाषा में बोलता है। लोहा अग्नि में स्थित होकर अग्निरूप होजाता है। जब तक लोहा अग्नि में रहता है तब तक वह अग्निरूप रहता है और अग्नि ही कहलाता है। अग्नि से बाहर निकलकर लोहा फिर लोहरूप में होता है और लोह ही कहलाता है। यदि अग्नि में स्थित हुए लोह को वाक्-शक्ति मिल जाए तो यह अग्नि की भाषा में ही बोलेगा, लोह की भाषा में नहीं। इसी प्रकार, ब्रह्मस्थ, ब्रह्मलीन अवस्था में जब योगी बोलता है तब वह ब्राह्मी भाषा में बोलता है, मानवी भाषा में नहीं। इस स्थिति को *तात्स्थ्य* [तत्-स्थ से तात्स्थ्य] *स्थिति* कहते हैं। तात्स्थ्य स्थिति में स्थित होकर जब योगी बोलता है तब वह दिव्य अहंकार से युक्त हुआ 'तत्' की जगह 'अस्मत्' बोलता है, किन्तु 'अस्मत्' से तात्पर्य 'तत्' होता है। इसे प्रतिनिध्यात्मक पद्धति कहते

हैं। यहां भी *मत्परः* का अर्थ है तत्परः, तत्परायण, ब्रह्मपरायण।

कृष्ण ने *गीता* का उपदेश योग की परमोत्कृष्ट अवस्था में दिया था। वे उन दिनों योग की परम स्थिति में और आत्मना ब्रह्म में स्थित थे। उस अवस्था में उन्होंने जो कुछ कहा था वह सब तात्स्थ्य स्थिति में कहा था, और जिस शैली में उन्होंने अर्जुन को उपदेश किया वह प्रतिनिध्यात्मक शैली थी। इस मान्यता की पुष्टि स्वयं कृष्ण की साक्षी से होजाती है। महाभारत युद्ध के पश्चात् अश्वमेध यज्ञ की समाप्ति पर अर्जुन ने निवेदन किया, 'कृष्ण! युद्धक्षेत्र में तूने मुझे जो दिव्य उपदेश दिया था, उसका अधिकांश मुझे विस्मृत होगया है। उसे फिर से सुनने की मुझे पुनः पुनः इच्छा होती है।' कृष्ण ने उत्तर दिया,

'न च शक्यं पुनर्वक्तुमशेषतः धनञ्जय।
स हि धर्मः सुपर्याप्तो ब्रह्मणः परिवेदने॥
न शक्यं तन्मया भूयस्तथा वक्तुमशेषतः।
परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया॥'

'धनञ्जय! उस उपदेश को अशेषतया पुनः कहना शक्य नहीं है। ब्रह्म [तत्त्व] के परिज्ञान के लिए वही [जितना तुझे याद रह गया है] सुपर्याप्त है। उस उपदेश को फिर से उसी प्रकार कहना मेरे लिए शक्य नहीं है। वह परमोपदेश तो मैंने ब्रह्म में स्थित होकर योगयुक्त अवस्था में कथन किया था।'

इस तथ्य को दृष्टि में रखने से *गीतार्थ* की सारी ग्रन्थियां अनायास ही खुल जाती हैं।

अब इस श्लोक का तात्पर्य नितान्त सुसंगत और तर्कसम्मत होजाता है। 'जो सब इन्द्रियों और मन को नियन्त्रित करके, योगयुक्त होकर मत्परायण—तत्परायण—ब्रह्मपरायण होगया है और जिसकी आन्तर, बाह्य, सब इन्द्रियां वश में हैं वह स्थितप्रज्ञ है।'

१०९ 'ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधो ऽभिजायते।६२

'(विषयान् ध्यायतः पुंसः) विषयों को ध्यानेवाले पुरुष का (तेषु) उन [विषयों] में (सङ्गः उप-जायते) सम्पर्क—भोग होता है। (सङ्गात् कामः सम्-जायते) सम्पर्क—भोग से [भोग भोगने की] इच्छा प्रबल होती है। (कामात्) भोगेच्छा के बढ़ने से (क्रोधः अभि-जायते) क्रोध उत्पन्न होता [और बढ़ता] है।

पूर्व-श्लोक के अनुसार, जो सब इन्द्रियों को नियन्त्रित करके ब्रह्मपरायण होता है उसी की इन्द्रियां वश में रहती हैं और उसी की प्रज्ञा 'स्थिर' रहती है।

इस श्लोक में बताया गया है कि जो ब्रह्मपरायण नहीं रहते वे विषयों का चिन्तन करते हैं। विषयों का चिन्तन करने से विषयों में संग होता है। विषयसंग से विषयों को भोगने की इच्छा बढ़ती है। भोगेच्छा के बढ़ने से क्रोध की मात्रा बढ़ती है।

आत्मा के समक्ष दो सत्ताएं हैं, ब्रह्म और माया अथ वा परमात्मा और प्रकृति। ब्रह्म निर्विकार और विषयरहित है। प्रकृति विषयवती और सविकारा है। जो जिसका चिन्तन करता है वह वैसा ही होजाता है। चिन्त्य के गुण चिन्तक में आते ही हैं। जो ब्रह्मपरायण होकर निर्विकार ब्रह्म का चिन्तन करता है वह विषयरहित और निर्विकार होजाता है। जो भोगमयी, विषयवती प्रकृति की उपासना करता है वह विषयों का चिन्तन करता है। विषयों के चिन्तन से विषयों का संग होता है। विषयसंग से भोगेच्छा बढ़ती है। यहां तक तो बात स्पष्ट है। किन्तु यह जो कहा गया है कि काम [भोगेच्छा] से क्रोध उत्पन्न होता है, यह कुछ रहस्यमय है और इसके स्पष्टीकरण की आवश्यकता है।

प्रायः सभी भाष्यकारों ने 'कामात् क्रोधोऽभिजायते' का अर्थ किया है, 'कामना [में विघ्न पड़ने] से क्रोध उत्पन्न होता है।' यह समाधान हास्यास्पद है। कामना में तो कभी विघ्न पड़ता ही नहीं है। कोई व्यक्ति अपने मन में कोई भी कामना करने में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है। कामना करने में न कोई विघ्न होसकता है, न कोई विरोध।

कहा जा सकता है कि 'कामात् क्रोधोऽभिजायते' का अर्थ है, 'कामना [की पूर्ति में बाधा होने] से क्रोध उत्पन्न होता है।' यह भी हास्यास्पद है। ऐसे भी संसारी [ब्रह्मपरायण नहीं संसारी] व्यक्ति हैं जिनकी अनेकों कामनाएं पूरी नहीं होती हैं और फिर भी उन्हें कभी नाममात्र को भी क्रोध नहीं आता है। ये दोनों ही समाधान असमाधानकारक हैं। इस प्रसंग से सम्बन्ध रखनेवाली एक शंका अगले श्लोक में भी उत्पन्न होती है। अपना समाधान प्रस्तुत करने से पूर्व उस श्लोक को पढ़ लेना उपादेय होगा।

११० 'क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।६३

'मनुष्य को (क्रोधात्) क्रोध से (सम्-मोहः भवति) सं-मोह होता है, (सम्-मोहात् स्मृति-वि-भ्रमः) सं-मोह से स्मृति-वि-भ्रम [होता है], (स्मृति-भ्रंशात्) स्मृति-विभ्रम से (बुद्धि-नाशः) बुद्धि का नाश [होता है,] (बुद्धि-नाशात् प्र-नश्यति) बुद्धि के नाश से [मनुष्य] वि-नष्ट होजाता है।

क्रोध से संमोह होता है, यह भी ग़लत है। क्रोध का बुद्धिपूर्वक प्रयोग

किया जाए तो हानियों और अनर्थों से रक्षा होती है। संमोह का अर्थ 'अविवेक' करके श्लोक के अभिप्राय को बिल्कुल ही ओझल कर दिया गया है। फिर यह कहना कि मोह—संमोह से स्मृतिविभ्रम होता है, वास्तविकता से कोसों दूर है। मोह से तो सम्बद्ध विषय का स्मरण अधिक दृढ़ होजाता है। यह ठीक है कि स्मृतिविभ्रम से बुद्धिनाश होता है और बुद्धिनाश से विनाश।

वास्तव में, उपर्युक्त श्लोकों में *क्रोध* से तात्पर्य मानसिक उत्तेजना अथ वा मानसिक अव्यवस्था से है।

विषयों के संग से अथ वा विषयों के भोग से तृप्ति न होकर विषयों की इच्छा और अधिक बढ़ती है। विषय असंख्य हैं। विषयों के भोग से भोग गुणित होते चले जाते हैं। भोगों के गुणित होने से भोगेच्छा प्रबलतर होती है। *संगात् सञ्जायते कामः* का तात्पर्य यही है।

भोगों की वृद्धि और भोगेच्छा के प्रबलतर होने से मानसिक अव्यवस्था अथ वा मानसिक उत्तेजना होती है जिसके परिणामस्वरूप मनुष्य की चिन्ताएं और परेशानियां बढ़ जाती हैं। मनुष्य अतिशय चिन्तित और खिन्न रहने लगता है। स्वभाव चिड़चिड़ा होजाता है। मानसिक विक्षोभ रहने लगता है। *कामात् क्रोधो ऽभिजायते* से यही अभिप्राय है।

मानसिक परेशानियों से संमोह होता है। संमोह का अर्थ 'अविवेक' हो ही नहीं सकता। मोह का अर्थ है वैचित्त्य। चित्त की वह अवस्था जिसमें वैचित्त्य होता है संमोह कहलाती है। यह करूं वा यह करूं! क्या करूं, क्या न करूं! क्षण में कुछ, क्षण में कुछ। चित्त की इस परेशान, अस्थिर अवस्था का नाम संमोह है। *संमोह* का अर्थ है चित्तविभ्रम। *क्रोधात् भवति संमोहः*, मानसिक उत्तेजना अथ वा मानसिक अव्यवस्था से चित्तविभ्रम होता है।

संमोह [चित्तविभ्रम] से स्मृतिविभ्रम होता है, और स्मृतिविभ्रम से बुद्धिनाश होना स्पष्ट है। बुद्धिनाश का परिणाम विनाश है ही।

१११ 'रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।६४

'(तु) किन्तु (राग-द्वेष-वि-युक्तैः आत्म-वश्यैः इन्द्रियैः) राग-द्वेष से वि-युक्त, आत्म-अधीन इन्द्रियों से (विषयान् चरन्) विषयों को सेवन करनेवाला (विधेयात्मा) विहितात्मा (प्र-सादम्) निर्मलता, प्र-सन्नता, आत्मानन्द को (अधि-गच्छति) प्राप्त रहता है।

जो पुरुष विषयों का कदापि चिन्तन न करता हुआ सदा आत्मा का चिन्तन करता है उसे *विधेयात्मा* कहते हैं। जो जिसका चिन्तन करता है उसी से उसका संग होता है। विषयों का चिन्तन करने से विषयों में संग होता

है। विषयों के संग से काम, क्रोध, राग, द्वेष, आदि उत्पन्न होते हैं। रागद्वेषादि से आत्महानि होती है।

विधेयात्मा आत्मा का चिन्तन करता है। आत्मचिन्तन से उसका संग अध्यात्म से होता है। अध्यात्म के संग से आत्मा का इन्द्रियों पर वशीकार होता है। इन्द्रियों के वशीकार से विषयनिवृत्ति होती है। विषयनिवृत्ति से प्रसाद की सिद्धि होती है।

प्रसाद का अर्थ है अन्तःकरण की निर्मलता और आत्मा की प्रसन्नता। प्रसाद का अन्तर्निहित आशय उस स्थिति से है जिसमें योगी का अन्तःकरण इतना निर्मल होता है कि उसमें विषयभोग का संस्कार लेशमात्र नहीं रहता। निर्विषय अन्तःकरण में आत्मा अपने स्वरूप में स्थित और ब्रह्मयुक्त रहता हुआ सब कर्म करता है।

प्रसादप्राप्त आत्मा शरीर में रहता हुआ भोगमय विषयों को न भोगता हुआ सेवनीय विषयों को चरता है। विषय दो प्रकार के होते हैं। एक, वे जिनका भोग किया जाता है। दूसरे, वें जिनका चरण—सेवन किया जाता है। इन्द्रियों के विलास के लिए जिन विषयों का आस्वादन किया जाता है वे विषय 'भोग' कोटि में आते हैं। जीवन की स्वस्थ, साधनामय स्थिति के लिए जिन विषयों वा वस्तुओं का सेवन किया जाता है वे विषय वा वस्तुएं 'चर' कोटि में अथ वा सेवन कोटि में आती हैं। विधेयात्मा भोग कोटि के विषयों से सदा वियुक्त रहता है और चर कोटि के विषयों का जीवन की सुस्थिति के लिए सेवन करता है।

११२ 'प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।६५

'(प्र-सादे) प्र-साद [अन्तःकरण की निर्मलता और आत्मप्रसन्नता की अवस्था] में (अस्य) इस [विधेयात्मा] के (सर्व-दुःखानाम्) सब दुःखों की (हानिः) हानि (उप-जायते) हो जाती है। (प्र-सन्न-चेतसः) प्र-सन्न-चित्त [विधेयात्मा] की (बुद्धिः) बुद्धि (आशु हि) शीघ्र ही (परि-अव-तिष्ठते) सर्वतः अव-स्थित होजाती है। प्रसादावस्था की सिद्धि होने पर विधेयात्मा अविलम्ब स्थितप्रज्ञ होजाता है।

हानि शब्द 'लाभ' का उलटा है। 'लाभ' का अर्थ है प्राप्ति। 'हानि' का अर्थ है अप्राप्ति। प्रसाद की प्राप्ति पर समस्त दुःखों की अप्राप्ति होजाती है। प्रसाद की प्राप्ति पर विधेयात्मा किसी भी अवस्था में दुःख को प्राप्त नहीं होता है।

क्या प्रसादप्राप्त विधेयात्मा पर दुःख आक्रमण नहीं करते हैं? दुःखों का आक्रमण तो अ-प्रसादप्राप्त और प्रसादप्राप्त, दोनों पर होता है। किन्तु

अ-प्रसादप्राप्त दुःखों से परास्त होता है और प्रसादप्राप्त दुःखों को परास्त करता है। अ-प्रसादप्राप्त दुःख को दुःख अनुभव करता है। प्रसादप्राप्त दुःख-सुख में समान भाव से सुप्रसन्न रहता है।

११३ 'नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
नचाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ?६६

'(अ-युक्तस्य बुद्धिः न अस्ति) अ-युक्त की बुद्धि नहीं होती है। (च न अ-युक्तस्य भावना) और न अ-युक्त की भावना [होती है।] (च अ-भावयतः शान्तिः न) और भाव-हीन के शान्ति नहीं [होती।] (अ-शान्तस्य कुतः सुखम्) अ-शान्त के कहां से सुख [आए] ?

पूर्व-श्लोक में कहा गया है कि प्रसन्नचित्त विधेयात्मा की बुद्धि सर्वतः अवस्थित [युक्त] होती है। इस श्लोक में कहा जारहा है, 'जो अयुक्त है उसकी बुद्धि नहीं है, न अयुक्त की भावना है। भावनाहीन के पास शान्ति नहीं होती, और शान्तिहीन के पास सुख का क्या काम ?'

पूर्व दो श्लोकों के साथ इस श्लोक पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि इस श्लोक में *अयुक्त* से तात्पर्य है प्रसाद से अयुक्त, प्रसादविहीन, और बुद्धि से तात्पर्य है अवस्थित बुद्धि।

जैसा कि पूर्व दो श्लोकों में बताया जा चुका है, *प्रसाद* का अर्थ है अन्तःकरण की निर्मलता, चित्त की प्रसन्नता और आत्मा का आनन्द।

उपर्युक्त व्याख्या के प्रकाश में इस श्लोक का अर्थ है, (न अस्ति बुद्धिः अयुक्तस्य) नहीं होती अवस्थित—स्थिर बुद्धि प्रसादविहीन व्यक्ति के पास। (न च अ-युक्तस्य भावना) और नहीं होती प्रसादविहीन के पास स्व-स्थिति। (न च अ-भावयतः शान्तिः) और स्व-स्थिति से विहीन व्यक्ति के पास नहीं होती शान्ति। (अ-शान्तस्य कुतः सुखम्) जिसे शान्ति प्राप्त नहीं उसके पास सुख कहां ?

जो प्रसाद से अयुक्त है, जिसके अन्तःकरण में निर्मलता नहीं, चित्त में प्रसन्नता नहीं, आत्मा में आनन्द नहीं उसकी बुद्धि—मति स्थिर नहीं रहती और न उसके अन्दर स्वस्थिति होती है। जिस व्यक्ति में स्वस्थिति अथ वा आत्म-अवस्थिति नहीं होती उसमें शान्ति [निश्चलता] का अभाव होता है और परिणामस्वरूप वह सदा अशान्त [चंचल, उद्विग्न] रहता है। अशान्त अथ वा चंचल व्यक्ति कभी सुखी नहीं रहता है, यह प्रत्यक्ष और सर्वविदित है।

प्रसाद, बुद्धिस्थैर्य, भावना [स्वस्थिति], शान्ति और सुख का परस्पर अटूट सम्बन्ध है। प्रसाद से बुद्धिस्थैर्य की सिद्धि होती है। बुद्धिस्थैर्य से भावना [स्वस्थिति] की सिद्धि होती है। भावना से शान्ति की प्राप्ति होती है और

शान्ति से सुख मिलता है।

जिसे प्रसाद की प्राप्ति नहीं होती उसकी बुद्धि अस्थिर रहती है। अस्थिर बुद्धि से आत्मविस्मृति होती है। आत्मविस्मृति से अशान्ति रहती है। जहां अशान्ति है वहां दुःख होगा ही।

दूसरी ओर, जहां सुख होता है वहीं शान्ति होती है। जहां शान्ति होती है वहीं भावना [स्वस्थिति] होती है। जहां भावना होती है वहीं बुद्धिस्थैर्य होता है। जहां बुद्धिस्थैर्य होता है वहीं प्रसाद की स्थापना होती है।

जहां दुःख होता है वहीं अशान्ति होती है। जहां अशान्ति होती है वहीं अभावना होती है। जहां अभावना होती है वहीं बुद्धि की अस्थिरता होती है। अस्थिर बुद्धि से प्रसाद का लोप होता है।

११४ 'इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनो ऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।६७

'(यत्) जब (मनः) मन (चरताम् इन्द्रियाणाम्) विचरती हुई इन्द्रियों के (हि अनु-विधीयते) पीछे पीछे विचरता है [तब] (तत्) वह [मन] (अस्य) इस [अयुक्त मनुष्य] की (प्र-ज्ञाम्) प्र-ज्ञा—विवेकबुद्धि को [इस प्रकार] (हरति) हरता है (वायुः) वायु (अम्भसि) जल में (नावम्-इव) जैसे नाव को [झकझोरता है]।

जिस पुरुष का मन विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों के पीछे पीछे दौड़ता रहता है उसकी विवेकबुद्धि इस प्रकार चलायमान रहती है जिस प्रकार पवन के झकोरों से जल पर तैरती हुई नौका। जिस पुरुष का मन इन्द्रियों को विषयों की ओर जाने से स्वभावतया रोकता रहता है उसी की प्रज्ञा सदा स्थिर रहती है।

११५ 'तस्माद् यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।६८

'(महा-बाहो) महा-बाहो! (तस्मात्) उस [पूर्व-श्लोक में कथित कारण] से, (यस्य इन्द्रियाणि) जिसकी इन्द्रियां (इन्द्रिय-अर्थेभ्यः) इन्द्रियों के अर्थों से (सर्वशः) सब प्रकार (नि-गृहीतानि) नि-गृहीत—संयत [रहती हैं] (तस्य) उसी की (प्र-ज्ञा प्रति-स्थिता) मति स्थिर [रहती है]।

नेत्रों का विषय रूपदर्शन है, उनसे देखा जाएगा ही। त्वचा का विषय स्पर्श है, उससे स्पर्श होगा ही। श्रोत्रों का विषय सुनना है, उनसे सुना जाएगा ही। घ्राण का विषय गन्ध है, उससे सूंघा जाएगा ही। रसना का विषय स्वाद है, उससे चखा जाएगा ही। पगों का विषय चलना है, उनसे चला जाएगा ही। हाथों का विषय कार्य करना है, उनसे कार्य किया जाएगा ही। देखकर, छूकर, सुनकर, सूंघकर, चखकर, मन में दृष्ट, स्पृष्ट, श्रुत, घ्रात,

आस्वादित को भोगने की इच्छाओं का नाम *इन्द्रियार्थ* है। इन्द्रियों के स्वाभाविक विषय [व्यवहार] को तो रोका नहीं जा सकता। मनसहित समस्त इन्द्रियों का निग्रह करके इन्द्रियों को उनके अर्थों से जो वर्जता है उसी की प्रज्ञा स्थिर रहती है।

११६ 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।६९

'(सर्व-भूतानाम्) सब प्राणियों की (या निशा) जो रात्रि [है] (तस्याम्) उसमें (सम्-यमी) सं-यमी (जागर्ति) जागता है। (यस्याम्) जिस [जागर्ति] में (भूतानि) प्राणी (जाग्रति) जागते हैं (पश्यतः मुनेः) [तत्त्व]दर्शी मुनि की (सा निशा) वह रात्रि [है]।

रात्रि में सब सोते हैं, निश्चेष्ट—निवृत्त होते हैं। दिन की जागर्ति में सब जगते हैं, सचेष्ट—प्रवृत्त होते हैं। रात्रि प्रतीक है निवृत्ति का और जागर्ति प्रतीक है प्रवृत्ति का। सब प्राणी जिस विषय में निवृत्त रहते हैं, संयमी, तत्त्वदर्शी मुनि उस विषय में प्रवृत्त रहते हैं। सब प्राणी जिस विषय में प्रवृत्त रहते हैं, संयमी, तत्त्वदर्शी मुनि उस विषय में निवृत्त रहते हैं। साधारण प्राणी असंयमी होने के कारण संयम [इन्द्रियनिग्रह] तथा स्थितप्रज्ञता से निवृत्त रहते हैं। संयमी संयम और स्थितप्रज्ञता में प्रवृत रहता है। असंयमी प्राणी भोगविलास [इन्द्रियार्थों] में प्रवृत्त रहते हैं। संयमी भोगविलास से निवृत्त रहता है। जीवन के जिन महत्त्वपूर्ण विषयों में प्राणी सोते रहते हैं, संयमी उन विषयों में सदा जागरित रहता है। जीवन के जिन क्षुद्र व्यासंगों में असंयमी प्राणी जागरूक रहते हैं, संयमी उन व्यासंगों से सर्वथा दूर रहता है।

११७ 'आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।७०

'(आ-पूर्यमाणम् अ-चल-प्रति-स्थम् समुद्रम्) गहन, अ-चल-स्थितिवाले समुद्र के प्रति (यत्-वत्) जैसे (आपः) जल (प्र-विशन्ति) समा जाते हैं (तत्-वत्) वैसे [ही] (यम्) जिस [संयमी] के प्रति (सर्वे कामाः) सब कामनाएं (प्र-विशन्ति) समा जाती हैं (सः शान्तिम् आप्नोति) वह शान्ति को प्राप्त रहता है, (काम-कामी न) काम-कामी नहीं।

काम का प्रयोग यहां इन्द्रियार्थ अथ वा भोगेच्छा अर्थ में हुआ है। नदियों के जल समुद्र में प्रविष्ट होते रहते हैं किन्तु समुद्र विक्षुब्ध नहीं होता है। उसी प्रकार, सतत प्रवाहित कामनाएं [भोगधाराएं] प्रविष्ट होकर जिसमें उत्तेजना उत्पन्न नहीं कर पाती हैं ऐसा संयमी ही सदा शान्ति को प्राप्त रहता

है। भोगों की कामना से कामित [प्रभावित—उत्तेजित] होनेवाला व्यक्ति शान्ति को प्राप्त नहीं रह सकता।

११८ **'विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।**
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति।७१

'(यः पुमान्) जो पुरुष (सर्वान् कामान् वि-हाय) सब कामनाओं को त्यागकर (निः-ममः निः-अहम्-कारः निः-स्पृहः) ममता-रहित, अहं-कार-रहित, इच्छा-रहित [होकर] (चरति) विचरता, व्यवहार करता है (सः शान्तिम् अधि-गच्छति) वही शान्ति को अधि-गत करता है।

जो बन्धनकारिणी और भोगजन्य कामनाओं का त्याग करके, मम [मेरा], अहम् [मैं] और स्पृहा [चाह] से मुक्त होकर जीवन के पथ पर चलता है वह शान्ति को अधिगत करता है, शान्ति पर शाश्वत अधिकार कर लेता है।

११९ **'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।**
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।'७२

'(पार्थ) अर्जुन! (एषा ब्राह्मी स्थितिः) यह ब्राह्मी स्थिति [है]। मनुष्य (एनाम् प्र-आप्य न वि-मुह्यति) इसे प्राप्त करके वि-मोहित नहीं होता है। [मानव] (अस्याम् स्थित्वा) इसमें स्थित होकर (अन्त-काले अपि) अन्त-काल में भी (ब्रह्म-निर्वाणम् ऋच्छति) ब्रह्म-निर्वाण को पाता है।'

ब्रह्मनिर्वाण का अर्थ है देह त्यागकर आत्मना ब्रह्म में स्थित होजाना। उपर्युक्त ज्ञान ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करानेवाला है। ब्राह्मी स्थिति में स्थित रहनेवाला व्यक्ति सदेह रहते हुए मोह से मुक्त रहता है और देहत्याग पर मोक्ष को प्राप्त होकर ब्रह्म में स्थित रहता है।

तीसरा अध्याय

अर्जुन उवाच

१२० **'ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।**
तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।१

'(जन-अर्दन) जनार्दन! (चेत्) यदि (ते मता) तेरी मति, तेरे विचार में (कर्मणः) कर्म से, कर्म की अपेक्षा (बुद्धिः) बुद्धि (ज्यायसी) गुरुतर, अधिक बड़ी [है] (तत्) तो (केशव) केशव! तू (माम्) मुझे (घोरे कर्मणि) घोर कर्म में (किम्) क्यों (नि-योजयसि) नि-युक्त करता है?

दूसरे अध्याय के अन्तिम श्लोकों में शान्ति तथा ब्राह्मी स्थिति [बुद्धियोग] का निर्देश किया गया है और उनसे पूर्व के श्लोकों में कर्मयोग का। एक ओर कृष्ण कहते हैं कि धर्म्य युद्ध से बढ़कर क्षत्रिय के लिए अन्य कुछ नहीं है और दूसरी ओर वे कहते हैं कि समस्त कामनाओं का परित्याग करके ब्राह्मी स्थिति में स्थित रहना चाहिए। अत एव अर्जुन ने इस श्लोक में उपर्युक्त प्रश्न किया है।

१२१ 'व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयो ऽहमाप्नुयाम्।'२

'(वि-आ-मिश्रेण-इव वाक्येन) वि-मिश्रित-से कथन से तू (मे बुद्धिम्) मेरी बुद्धि को (मोहयसि-इव) विमोहित-सी कर रहा है। (तत् एकम्) उस एक [बात] को (निः-चित्य वद) निश्चित करके कह, (येन अहम्) जिससे मैं (श्रेयः) श्रेय—आत्मलाभ—कल्याण (आप्नुयाम्) प्राप्त करूं।'

श्रीभगवानुवाच

१२२ 'लोके ऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।३

कृष्ण ने उत्तर दिया, '(अन्-अघ) निष्पाप! (अस्मिन् लोके) इस लोक में (पुरा) पूर्व, पहले (मया) मेरे द्वारा (द्वि-विधा नि-स्था) दो प्रकार की नि-ष्ठा (प्र-उक्ता) कही गई [है], (ज्ञान-योगेन सांख्यानाम्) ज्ञान-योग से ज्ञानियों की [और] (कर्म-योगेन योगिनाम्) कर्म-योग से योगियों की।

सामान्यतया *निष्ठा* का अर्थ किया जाता है श्रद्धा, आस्था, विश्वास, निष्पत्ति। किन्तु, इन सब शब्दों से भिन्न, *निष्ठा* शब्द में एक विशेष भाव अन्तर्निहित है जिसे समझ लेना चाहिए। निष्ठा = नि-स्था, निरन्तर स्थिति, सन्तत संस्थिति, स्वाभाविक प्रवृत्ति। जन्म जन्म की साधना द्वारा परिष्कृत, सुसंस्कारों से युक्त जो स्वाभाविक प्रवृत्ति मानव के वर्तमान जीवन में संस्थित और सुनिष्ठित होती है उसके लिए *निष्ठा* शब्द का प्रयोग होता है।

निष्ठा दो प्रकार की होती है। एक का नाम है ज्ञाननिष्ठा और दूसरी का नाम है कर्मनिष्ठा। ज्ञाननिष्ठा से युक्त जन को कहते हैं ज्ञाननिष्ठ और कर्मनिष्ठा से युक्त जन को कहते हैं कर्मनिष्ठ। ज्ञाननिष्ठ की स्वाभाविक रुचि ज्ञानयोग में होती है और कर्मनिष्ठ की स्वाभाविक रुचि कर्मयोग में होती है। सांख्यों [ज्ञाननिष्ठों] की निष्ठा ज्ञानयोग से युक्त होती है और कर्मयोगियों की निष्ठा कर्मयोग से युक्त होती है। जो पुरुष उभय निष्ठाओं से सुयुक्त होता है वही पुरुष पूर्ण पुरुष है।

१२३ 'न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषो ऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।४

'(पुरुषः) पुरुष (न कर्मणाम् अन्-आ-रम्भात्) न कर्मों के अना-रम्भ से (नैष्कर्म्यम् अश्नुते) निष्कर्मता को प्राप्त करता है (च) और (न सम्-न्यसनात् एव सिद्धिम् सम्-अधि-गच्छति) न सं-न्यसन से ही सिद्धि को सम्प्राप्त करता है।

कुछ लोगों की ऐसी मान्यता है कि कर्म करने से कर्म का फल भोगना पड़ता है। वे कहते हैं कि कर्म का फल बांधनेवाला है। कर्मफल भोगने के लिए पुनः पुनः जन्म धारण करना पड़ता है, जिससे मोक्षप्राप्ति में बाधा पड़ती है। पूर्व-जन्म के कर्मों का फल भोगने के लिए वर्तमान जन्म है। इस जन्म में पूर्व-जन्मों का फल भोगते हुए यदि नवीन कर्म बिल्कुल न किए जाएं तो इस शरीर के त्यागने पर मोक्ष की सिद्धि हो सकती है।

दूसरे लोगों की मान्यता है कि संन्यसन से ही मोक्ष की सिद्धि होती है। संन्यसन का अर्थ है सब कुछ छोड़ देना, सर्वस्व का त्याग कर देना। स्त्री, पुत्र, परिवार, धन, मकान, दूकान, राज-पाट, देश, राष्ट्र, ग्राम, नगर, सब कुछ त्यागकर जंगल में जा बसने से मोक्ष की सिद्धि होजाती है।

कृष्ण कहते हैं कि ये दोनों ही मान्यताएं सर्वथा ग़लत हैं।

१२४ 'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।५

'(कः चित्) कोई भी (जातु) कभी (क्षणम् अपि) क्षण भी (अ-कर्म-कृत्) कर्म किए बिना (न हि तिष्ठति) स्थित नहीं रहता है। (प्र-कृति-जैः गुणैः) प्र-कृति-जन्य गुण (सर्वः हि) सब ही (अ-वशः) पर-वश हुए को (कर्म) कर्म (कार्यते) कराते हैं।

कर्म से कभी कोई एक क्षण के लिए भी नहीं बच सकता, यह एक अटल नियम है। जिस पृथिवी पर हम निवास कररहे हैं वह एक हज़ार मील प्रतिघण्टा के हिसाब से अनवरत घूमती रहती है। निरन्तर गति करनेवाली इस पृथिवी पर निवास करनेवाला कोई भी प्राणी निश्चेष्ट कैसे रह सकता है? स्वप्न, सुषुप्ति और जागृति, तीनों अवस्थाओं में शरीर में प्राकृत क्रियाएं होती ही रहती हैं। रक्त का प्रवाह, प्राण की गति, रसों और धातुओं का व्यापार, मल-मूत्र का त्याग, खाना-पीना, नहाना-धोना, सोना-उठना, यह कर्मकलाप चलता ही रहता है। फिर प्रकृतिजन्य अन्य क्रियाएं भी शरीर में होती ही रहती हैं। तम, रज, सत् की निर्बाध लहरें गति उत्पन्न करती रहती हैं। उनके प्रभाव से भी मनुष्य परवश होकर अनेकविध कर्म करता है। जब सम्पूर्ण प्राकृतिक सृष्टि इस अविरामी काल के चक्र में घूमती हुई सदा कर्मरत रहती है तब प्रकृति का पुतला यह मानव अकर्मकृत कैसे रह सकता है।

१२५ 'कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ।६

'(यः वि-मूढ-आत्मा) जो मूर्ख (कर्म-इन्द्रियाणि सम्-यम्य) कर्म-इन्द्रियों को रोककर (मनसा) मन से (इन्द्रिय-अर्थान्) इन्द्रियों के विषयों को (स्मरन्) स्मरता हुआ (आस्ते) स्थित होता है (सः मिथ्या-आ-चारः उच्यते) वह मिथ्या-चारी कहाता है ।

भोगे हुए भोगों की स्मृति एक विकट समस्या है । प्रकृति का नियम ही ऐसा है और मानवमस्तिष्क की रचना भी ऐसी है कि मनुष्य जो कुछ देखता, सुनता, सूंघता, चखता और छूता है वह सब मस्तिष्क के स्मृतिकणों पर चित्रवत् अंकित होजाता है । नित्य असंख्य स्मृतिकण बनते रहते हैं किन्तु पुराना एक भी स्मृतिकण कभी नष्ट नहीं होता । एक एक स्मृतिकण में अनेकानेक दृश्यों, बोलियों, गन्धों, स्वादों और स्पर्शों के चित्र अंकित होते हैं । मन में जब जब जिस जिस प्रकार के वेग, आवेग, अथ वा संकल्प उठते हैं तब तब स्मृतिकणों पर अंकित उसी उसी विषय के चित्र साकार होकर मानव के मस्तिष्क में घूमने लगते हैं और वह इन स्मृतिकणों के साकार चित्रों के द्वारा भोगे हुए भोगों का स्मरण कर-करके उसी प्रकार के विषयों का चिन्तन करता हुआ अपने अन्तर्जगत् में उन विषयों का मानसिक रूप से भोग करता है ।

जो मनुष्य अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों से रोक कर बैठा हुआ है वह भी इन्द्रियों द्वारा भोगे हुए विषयों का स्मरण करके विषयों का चिन्तन कररहा है और विषयों की स्मृति से उत्तेजित होकर अन्दर ही अन्दर अन्तर्जगत् में अपने मानस से विषयों का भोग कररहा होता है । बाहर से वह कुछ नहीं कररहा है किन्तु अन्दर से सब कुछ कररहा होता है । इसी भाव को उपर्युक्त श्लोक में प्रकट किया गया है ।

यहां साधक के लिए एक उलझन पैदा होजाती है और वह प्रश्न कर बैठता है, 'क्या भोगे हुए भोगों की स्मृति से किसी प्रकार पीछा छुड़ाया भी जा सकता है ?'

स्मृतियां दो प्रकार की होती हैं, एक स्मृतिविशेष और एक स्मृतिशेष । जिस स्मृति से स्मृत विषय के भोगने की इच्छा जागरित होती है उसे *स्मृतिविशेष* कहते हैं । स्मृतिविशेष ही विषयों का चिन्तन कराती है । जिस स्मृति से घटनाविशेष के कारण किसी भोगे हुए विषय का स्मरण तो हो आता है किन्तु स्मृत विषय के भोगने की इच्छा नहीं होती उसे *स्मृतिशेष* कहते हैं । स्मृतिविशेष तभी स्मृतिशेष का रूप धारण करती है जब साधक साधना द्वारा अपने जीवन में उत्कट विवेक का दीपक प्रदीप्त कर लेता है । विवेक

की मशाल को सदा प्रज्वलित रखनेवाले को किसी विषय की स्मृतिमात्र करा कर स्मृतियां तिरोहित होजाती हैं। जिसके विवेक की मशाल बुझी रहती है उसे स्मृतियां विषयलालसा में डुबा देती हैं।

१२६ **'यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।**
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।७

'(अर्जुन) अर्जुन! (यः तु) जो तो (इन्द्रियाणि) इन्द्रियों को (मनसा नि-यम्य) मन के साथ नि-यमन, मनसहित नि-यन्त्रित करके (कर्म-इन्द्रियैः कर्म-योगम् आ-रभते) कर्मेन्द्रियों से कर्म-योग को अनु-सरता है (अ-सक्तः सः वि-शिष्यते) अनासक्त वह [इन्द्रियनिग्रहकर्ता की अपेक्षा] बढ़कर है।

पूर्व-श्लोक में कहा गया है कि जो हठात् इन्द्रियों को विषयों से रोककर मन से विषयों का स्मरण करता है वह अनासक्त नहीं, मिथ्याचारी है। यहां इस श्लोक में कहा गया है कि जो इन्द्रियों के साथ मन का भी निग्रह करके कर्मयोग का अनुष्ठान करता है वही अनासक्त कर्मयोगी है और इन्द्रियनिग्रही की अपेक्षा कहीं बढ़कर है।

केवल इन्द्रियनिग्रह करनेवाला मिथ्याचारी है। इन्द्रियों तथा मन, दोनों का निग्रह करनेवाला अनासक्त कर्मयोगी है। इन्द्रियनिग्रह तथा मनोनिग्रह का यह भेद स्मरणीय है।

१२७ **'नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।**
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।८

'(त्वम् नि-यतम् कर्म कुरु) तू नि-यत कर्म कर। (हि) निस्सन्देह, (अ-कर्मणः कर्म ज्यायः) अ-कर्म से कर्म ज्येष्ठ—श्रेष्ठ [है]। (च) और (अ-कर्मणः) अ-कर्म से (ते शरीर-यात्रा अपि) तेरी शरीर-यात्रा भी (न प्र-सिद्ध्येत्) सु-सिद्ध न होगी।

जो जहां नियत है वहीं उसका नियत कर्म है। नियत कर्म का, अनासक्ति के साथ, किन्तु निष्ठापूर्वक सम्पादन करना परम योग है, सच्चा कर्मयोग है।

प्रत्येक व्यक्ति प्रतिक्षण कहीं न कहीं स्थित है। और जो जहां स्थित है वहीं उसके लिए नियत कर्म है। जीवन में, परिवार में, ऑफ़िस में, कारख़ाने में, नगर में, राष्ट्र में, देश में, विदेश में, जंगल में, पर्वत पर, रण में, सर्वत्र नियत कर्म सदा सामने समुपस्थित है। मनुष्य को चाहिए, हमेशा अपने नियत कर्म पर दृष्टि रखे और उसका प्रसन्नता के साथ अनुष्ठान करे।

अर्जुन रणक्षेत्र में स्थित है। न्याय की रक्षार्थ युद्ध करना वहां उसका नियत कर्म उसके संमुख समुपस्थित है। कृष्ण कहते हैं, 'अर्जुन! तू नियत कर्म कर। निश्चय ही, नियत कर्म को न करने की अपेक्षा उसे करना ही श्रेष्ठ है। नियत कर्मों के न करने से तो तेरी शरीरयात्रा भी सिद्ध नहीं

हो सकती है, तू जीवित भी नहीं रह सकता है।

१२८ 'यज्ञार्थात् कर्मणो ऽन्यत्र लोको ऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर।९

'(यज्ञ-अर्थात् कर्मणः अन्यत्र) यज्ञ के लिए कर्म से अतिरिक्त (अयम् लोकः) यह संसार (कर्म-बन्धनः) कर्म-बन्धन [है]। (कौन्तेय) कुन्तीपुत्र ! (मुक्त-सङ्गः) मुक्त-संग/संग-रहित/अनासक्त होकर (तत्-अर्थम्) उस [यज्ञ] के लिए (कर्म सम्-आ-चर) सम्यक् कर्म कर।

१२९ 'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
"अनेन प्रसविष्यध्वमेष वो ऽस्त्विष्टकामधुक्।१०

'(सह-यज्ञाः प्र-जाः सृष्ट्वा) यज्ञ-सहित प्र-जाओं को रचकर (पुरा) पूर्व काल में (प्र-जा-पतिः) प्रजा-पति ने (उवाच) कहा, "(अनेन) इस [यज्ञ] से (प्र-सविष्यध्वम्) बढ़ो। (एषः) यह [यज्ञ] (वः) तुम्हारे लिए (इष्ट-काम-धुक् अस्तु) इच्छित कामनाओं को दुहनेवाला हो।

१३० ' "देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।११

' "(अनेन) इस [यज्ञ] से (देवान् भावयत) देवों को उन्नत करो। (ते देवाः) वे देव (वः) तुम्हें (भावयन्तु) उन्नत करें। तुम (परः-परम्) एक दूसरे को (भावयन्तः) उन्नत करते हुए (परम् श्रेयः) परम कल्याण (अवाप्स्यथ) प्राप्त करोगे।

१३१ ' "इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।"१२

' "(यज्ञ-भाविताः) यज्ञ से समृद्ध होकर (देवाः) देव (वः) तुम्हें (हि) अवश्य (इष्टान् भोगान्) इच्छित भोगों को (दास्यन्ते) प्रदान करेंगे। (तैः) उन [देवों] द्वारा (दत्तान्) दिए हुए [भोगों] को (यः) जो (एभ्यः) इन [देवों] के लिए (अ-प्र-दाय) न देकर (भुङ्क्ते) भोगता है, (स्तेनः एव) चोर ही [है] (सः) वह।"

१३२ 'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।१३

('यज्ञ-शिष्ट-अशिनः) यज्ञ-शेष-खानेवाले (सन्तः) सन्त जन, सत्पुरुष (सर्व-किल्बिषैः) सब-पापों से (मुच्यन्ते) मुक्त होजाते हैं। (ते तु) वे तो (अघम् भुञ्जते) पाप खाते हैं (ये पापाः) जो पापी (आत्म-कारणात्) आत्म-कारण से (पचन्ति) पकाते हैं।

१३३ 'अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।१४

'(भूतानि) प्राणी (अन्नात्) अन्न से (भवन्ति) होते हैं। (अन्न-सम्-भवः) अन्नों का सम्भवन—उत्पादन (पर्जन्यात्) मेघ से [होता है]। (पर्जन्यः) मेघ (यज्ञात्) यज्ञ से (भवति) होता है। (यज्ञः) यज्ञ (कर्म-सम्-उत्-भवः) कर्मों से समुत्पन्न होता, उपजता है।

१३४ 'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।१५

'(कर्म ब्रह्म-उत्-भवम् विद्धि) कर्म को ज्ञान से उत्पन्न हुआ जान। (ब्रह्म अक्षर-सम्-उत्-भवम्) ज्ञान अविनाशी से उत्पन्न हुआ [है]। (तस्मात्) उस [अक्षर] से (सर्व-गतम् ब्रह्म) सर्व-गत ज्ञान (नित्यम्) नित्य, सदा, सर्वदा, सदा से और सदा ही (यज्ञे) यज्ञ में (प्रति-स्थितम्) प्रति-ष्ठित [है]।

यज्ञ शब्द का प्रयोग संगतिकरण अथ वा लोकसंग्रह के लिए हुआ है। आगे चलकर श्लोक १६ में यज्ञ को *प्रवर्तितं चक्रम्* कहा है। 'प्रवर्तित चक्र' का अर्थ है चला हुआ चक्र। 'प्रवर्तित चक्र' के लिए श्लोक ६-१५ में *यज्ञ* शब्द का प्रयोग किया गया है। श्लोक ८ में यज्ञ के लिए *नियत कर्म* का प्रयोग हुआ है। नियत कर्म की नियति पर ही यह संसारचक्र प्रवर्तित होरहा है। नियत कर्म के निर्वहन पर ही जीवनचक्र [जीवनयज्ञ], परिवारचक्र [परिवारयज्ञ], समाज-चक्र [समाजयज्ञ], राष्ट्रचक्र [राष्ट्रयज्ञ], विश्वचक्र [अन्तरराष्ट्रीययज्ञ], सृष्टिचक्र [सृष्टियज्ञ] चल रहे हैं।

श्लोक ९

कृष्ण कहते हैं, 'अर्जुन ! लोकसंग्रहार्थ यज्ञ अथ वा चक्र के सुनिर्वहन की दृष्टि से ही प्रत्येक क्षेत्र में कर्म करना चाहिए। अन्य किसी भी दृष्टि से संसार में कर्म करना बन्धन का कारण होता है। अनासक्त और बन्धनमुक्त रहने के लिए तू केवल यज्ञार्थ, चक्रप्रवर्तनार्थ, लोकसंग्रहार्थ कर्म कर।'

श्लोक १०

यज्ञों [नियत कर्मों] सहित प्रजाओं—प्राणियों की उत्पत्ति करके प्रजापति ने कहा था, 'इस यज्ञ से, इस चक्र के निर्वहनार्थ, नियत कर्म की नियति से तुम वृद्धि—समुन्नति करो। यह यज्ञ—चक्र नियत कर्म की कृति के द्वारा तुम्हारे लिए कामधेनु सिद्ध होगा।'

श्लोक ११

'इस यज्ञ—चक्र के निर्वहन से तुम देवों [दिव्य—पूज्य पुरुषों] को भावयुक्त करो। वे देव [पूज्य जन] तुम्हें भावयुक्त करें। एक दूसरे को भावयुक्त करते हुए तुम सब परम कल्याण प्राप्त करोगे।' पूजा और दान से ही संगतिकरण [लोकसंग्रह—चक्रप्रवर्तन—यज्ञ] होता है। भावन का अर्थ है अभाव की

पूर्ति करना। पूजासहित [सत्कारपूर्वक] एक दूसरे के अभाव की पूर्ति करना भावन [भावयुक्त करना] है। जनता में जिन बातों का अभाव है, देव उनकी पूर्ति करें। देवों के पास जिन वस्तुओं का अभाव है जनता उनकी पूर्ति करे। इसी भावकरण से समाज का परम कल्याण होता है।

श्लोक १२

'यज्ञभावित [ससत्कार परस्पर पूरित] होकर देव जन तुम्हें कमनीय सुखैश्वर्य प्राप्त कराएंगे। उन सुखैश्वर्यों से देवों को तृप्त किए बिना ही जो उनका सेवन करते हैं वे चोर हैं।' *मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, अतिथिदेवो भव, आचार्यदेवो भव,* यह उसी ओर संकेत है। माता को खिलाकर खा, पिता को खिलाकर खा, अतिथि को खिलाकर खा, आचार्य को खिलाकर खा।

श्लोक १३

'यज्ञशेष का सेवन करनेवाले सब पापों से मुक्त होते हैं। देवों को न खिलाकर जो स्वयं खाते हैं वे पाप खाते हैं।' जो न गृहदेवों के अभावों की पूर्ति करता है, न समाजदेवों के अभावों की पूर्ति करता है, न राष्ट्रदेवों का पूरण करता है, न विश्वदेवों का भरण करता है, जो स्वार्थपूर्ति ही करता है वह यज्ञघाती है, वह पापी है। वह कर्मबन्धन में बंधता है।

श्लोक १४

'प्राणी अन्न से जीवित रहते हैं। अन्न मेघ से उत्पन्न होता है। मेघ यज्ञ से उत्पन्न होता है। यज्ञ कर्म से होता है।' कर्म से तात्पर्य नियत कर्म से है। प्राकृत देव [सूर्य, पृथिवी, पवन, सागर, चन्द्रमा, आदि] प्राकृत नियमों के अनुसार यज्ञार्थ [सृष्टिचक्र के निर्वहनार्थ] अपना अपना यज्ञ [नियत कर्म] करते हैं। उस प्राकृत यज्ञ से मेघ उत्पन्न होते हैं। मेघ से अन्नों की उत्पत्ति होती है। अन्नों से प्राणियों का जीवन होता है।

श्लोक १५

'कर्म ज्ञान से उत्पन्न हुआ है। ज्ञान अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न हुआ है। सर्वगत ज्ञान सदा से सदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है। ज्ञानस्वरूप परमात्मा सर्वगत है। अतः उसका ज्ञान भी सर्वगत है। अत एव कर्म भी सृष्टियज्ञ में निहित है। ज्ञान और कर्म का अभिन्न सम्बन्ध है। परमात्मा ज्ञानस्वरूप है और सर्वव्यापक है। अतः ज्ञानमय गति [कर्म] भी सर्वगत है। सर्वगत ज्ञान और सर्वगत कर्म से यह समष्टियाग [सृष्टिचक्र] चलरहा है। नियत्त कर्म अथ वा नियति से यह सकल ब्रह्माण्ड सचालित होरहा है।

१३५ 'एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।१६

'(एवम् प्र-वर्तितम् चक्रम्) इस प्रकार सं-चालित चक्र को (इह) यहां (यः) जो (न अनु-वर्तयति) अनुसरण नहीं करता है, (पार्थ) अर्जुन ! (सः अघ-आयुः इन्द्रिय-आ-रामः) वह पापी, विलासी (मोघम् जीवति) व्यर्थ जीता है ।

यह सारा ब्रह्माण्ड ब्रह्म द्वारा संचालित ब्रह्मचक्र है । ब्रह्म से ही इस ब्रह्मचक्र का उद्भवन हुआ है । इसका एक एक कण नियति के नियम से बंधा हुआ अपना अपना नियत कार्य कर रहा है । अर्जुन ! जो इस ब्रह्मचक्र के नियम का अनुसरण न करके अपने कर्तव्य से जी चुराता है वह पापी और विलासी है । ऐसे मनुष्य का जीना वृथा है ।

ब्रह्म के इस सृष्टिरूप ब्रह्मचक्र में सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, आदि सब प्राकृतिक देव नियति से नियत होकर ही अपना अपना कार्य कर रहे हैं । न उन्हें कृत-अकृत की कोई चिन्ता है, न उन्हें अपना निज का कोई स्वार्थ अथ वा प्रयोजन है । वे सब प्रकर्ता के प्राकृतिक नियमों से नियन्त्रित हुए संचालित हो रहे हैं । स्वप्रयोजन और स्वार्थ से रहित होने के कारण वे प्राकृतिक देव प्रत्येक अवस्था और परिणाम से मुक्त हुए रतिमय, तृप्त और सन्तुष्ट रहते हैं । इस चक्र में इन देवों का अपना कोई कार्य नहीं है, यद्यपि ये रात-दिन, सतत, सन्तत, निरन्तर कर्म कर रहे हैं ।

इसी प्रकार, अर्जुन ! जो मनुष्य इस प्रवर्तित चक्र का अनुसरण करता हुआ केवल इस मानवसमाजरूप सुचक्र के सुसंचालनार्थ स्वप्रयोजन और स्वार्थ से मुक्त होकर कर्म करता है उसके लिए इस संसार में अपना कोई कार्य नहीं है । अत एव वह सदा प्रत्येक परिस्थिति में कर्मरत रहता हुआ भी प्रसन्न, तृप्त और सन्तुष्ट रहता है ।

१३६ 'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।१७

'इस प्रवर्तित चक्र का अनुसरण करता हुआ, मानवसमाज के सुसंचालनार्थ ही कर्म करता हुआ (यः तु मानवः) जो तो मानव (आत्म-रतिः एव) आत्म-रति ही (च) तथा (आत्म-तृप्तः) आत्म-तृप्त (स्यात्) रहता हो (च) और [जो] (आत्मनि एव सम्-तुष्टः) आत्मा में ही सन्तुष्ट [रहता हो, इस संसार में] (तस्य) उसका [अपना कोई] (कार्यम्) कार्य (न विद्यते) नहीं है ।

रति नाम प्रीति का है । जो तो आत्मा से ही प्रीति करनेवाला है, अपने आत्मा में तृप्त रहता है और अपने आत्मा में सन्तुष्ट है उसे अपने लिए तो इस संसार में कुछ करणीय है ही नहीं । वह सब कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं कर रहा है । वह देह में देह के व्यापार करता हुआ भी जीवन्मुक्त विदेह है । वह गृहस्थाश्रम का निर्वहन करता हुआ भी संन्यासी है । वह शासन का

संचालन करता हुआ भी राजर्षि है। वह युद्ध करता हुआ भी परम शान्ति से युक्त है। वह असंख्य नियोजनों का आयोजन करता हुआ भी कर्मों के समारम्भ और उनके परिणामों से सर्वथा असंग है।

१३७ 'नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ।१८

'(इह) यहां, इस [संसार] में (तस्य) उसका (न एव कृतेन) न तो कृत से (न अ-कृतेन) न अ-कृत से (कः चन अर्थः) कोई भी प्रयोजन [है] (च) और (न) न (अस्य) इसका (सर्व-भूतेषु) सब प्राणियों में (कः चित्) कोई [भी] (अर्थ-वि-अप-आ-श्रयः) प्रयोजन-सम्बन्ध [है]।

संसारचक्र के साथ उसका कर्मचक्र भी अनवरत घूम रहा है। संसार का कोई भी कार्य कभी समाप्त नहीं होता है। जगत् के किसी भी कार्य को कभी नर तो क्या, नारायण भी न पूरा कर पाया है, न पूरा कर सकेगा। इस चक्र का अनुसरण करते हुए मनुष्य केवल यथामति और यथागति अपने नियत कर्तव्य का निर्वहन ही कर सकता है, इससे अधिक कुछ नहीं। एकमात्र कर्तव्य-बुद्धि से सब कर्म करता हुआ, वह इस बात से कोई लगाव नहीं रखता कि कितना कार्य होगया है और कितना करना शेष है। न सब प्राणियों में से ही किसी के विषय में उसे कोई व्यासंग होता है। कर्म से निर्लेप, और व्यक्ति से निःस्पृह रहता हुआ ही वह सर्वत्र सब कुछ करता है और निर्द्वन्द्व रहता है।

१३८ 'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ।१९

'(तस्मात्) अतः तू (अ-सक्तः) अनासक्त होकर (सततम्) निरन्तर (कार्यम् कर्म सम्-आ-चर) कर्तव्य कर्म करता रह। (अ-सक्तः हि कर्म आ-चरन्) अ-सक्त [होकर] ही कर्म करता हुआ (पुरुषः) पुरुष (परम् आप्नोति) पर [ब्रह्म] को प्राप्त करता है।

जो पुरुष संसार में किसी भी कर्म, किसी भी वस्तु अथ वा किसी भी प्राणी से आसक्त है वह ब्रह्म को प्राप्त नहीं हो सकता है। अवर से बंधा हुआ पर को प्राप्त नहीं कर सकता है। अवर से मुक्त होकर ही पर से युक्त होता है। ब्रह्म पर है। संसार अवर है। अवर से सर्वथा मुक्त—अनासक्त रहकर जो कर्तव्य कर्मों का अनुष्ठान करता है वह मुक्तात्मा ही सदामुक्त पर ब्रह्म के परम धाम की ओर अनुधावन कर सकता है। जो यहां बंधा हुआ है वह वहां नहीं पहुंच सकता।

१३९ 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ।२०

'(जनक-आदयः) जनक, आदि (कर्मणा एव हि) कर्म के द्वारा ही (सम्-सिद्धिम्) सं-सिद्धि को (आ-स्थिताः) प्राप्त हुए [हैं]। (लोक-सम्-ग्रहम् एव अपि) लोक-सं-ग्रह को भी (सम्-पश्यन्) देखता हुआ, तू (कर्तुम् अर्हसि) कर्म करने को योग्य है [तुझे कर्म करना चाहिए]।

पूर्व-श्लोक में कृष्ण के द्वारा अर्जुन से कहा गया है, 'अनासक्त होकर सतत कर्तव्य कर्म कर क्यों कि अनासक्त होकर कर्म करता हुआ मानव पर ब्रह्म अथ वा परम पद को प्राप्त होता है।' इस कथन की पुष्टि में कृष्ण पुनः कहते हैं, 'जनक, आदि अनेक पुरुष ऐसे हो गए हैं जिन्होंने अनासक्त रहकर विविध कर्तव्य कर्मों का सम्पादन करते हुए संसिद्धि प्राप्त की है। अर्जुन! लोकसंग्रह को दृष्टि में रखते हुए भी तुझे अनासक्त भाव से कर्तव्य कर्म का सम्पादन करना ही चाहिए।'

लोकसंग्रह का अर्थ है लोकव्यवस्था अथ वा सामाजिक व्यवस्था। सामाजिक सुव्यवस्था के लिए कर्मत्याग की परिपाटी बहुत हानिकर है। लोकसंग्रह के लिए भी अनासक्त कर्म का आदर्श ही सर्वथा उपादेय है। कर्म के त्याग की अपेक्षा तो आसक्तिपूर्वक कर्म करना कहीं अच्छा है। श्रेयस्कर तो आसक्तिरहित होकर कर्म करना ही है।

एक माता है। वह अपने छोटे शिशु के पालन-पोषण के अपने कर्तव्य कर्म का त्याग करती है और अपने शिशु को छोड़कर कहीं चली जाती है। कर्तव्य कर्म के इस त्याग से समाजव्यवस्था ही नष्ट होजाएगी। इस प्रकार का कर्मत्याग कर्मत्याग नहीं है, कर्मच्युतता है, कर्तव्यभ्रष्टता है, सामाजिक महापाप है। इस प्रकार के कर्मत्याग से तो समाज में वह भयंकर अव्यवस्था फैलेगी कि सारा मानवसमाज ही नष्ट-भ्रष्ट होजाएगा।

दूसरी माता है। वह आसक्ति के कारण अथ वा मोहवशात् अपने शिशु का यथावत् पालन-पोषण और शिक्षण-सुशिक्षण करती-कराती है। यह माता पहली माता की अपेक्षा कहीं अच्छी है क्यों कि इससे समाजव्यवस्था की सुरक्षा होती है, इससे लोकसंग्रह का व्याघात नहीं होता है।

तीसरी माता है। वह नितान्त अनासक्त होकर केवल कर्तव्यबुद्धि से और लोकसंग्रह की संदृष्टि से अपने शिशु का सुचारुता के साथ पालन-पोषण और सुशिक्षण कर-कराकर उसे सुयोग्य और सक्षम बनाती है। यह माता दोनों माताओं से अधिक अच्छी है। यह माता आदर्श माता है। निष्ठापूर्वक कर्तव्य कर्म का सम्पादन करके यह माता लोकसंग्रह अथ वा समाजव्यवस्था की रक्षा करती है और आसक्तिरहित होकर कर्म करके वह संसिद्धि को प्राप्त होकर परम पद लाभ करती है।

यहां न्याय की रक्षार्थ युद्ध करना अर्जुन का कर्तव्य कर्म है। किन्तु अर्जुन कहता है, 'मैं युद्ध नहीं करूंगा। मैं भीख मांगकर खा लूंगा। राज्य लेकर मुझे क्या करना है!' यह समझदारी की बात नहीं है। यह तो कर्तव्यहीनता है, कापुरुषता है। यदि न्याय की रक्षा के प्रति उपेक्षा की यह वृत्ति समाज में व्याप जाए तो अत्याचारियों का बोल-बाला होकर मानव-समाज में भयंकर अव्यवस्था व्याप जाएगी। इस प्रकार का कर्मत्याग कर्मत्याग नहीं है। फलासक्ति का त्याग ही, वास्तव में, कर्मत्याग है।

१४० 'यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत् तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनु वर्तते।२१

'(श्रेष्ठः) श्रेष्ठ [पुरुष] (यत् यत् आ-चरति) जो जो आचरण करता है, (इतरः जनः) अन्य जन (तत् तत् एव) वह वह ही [करता है]। (सः) वह (यत् प्र-मानम् कुरुते) जो प्र-माण करता है (लोकः) समाज (तत् अनु-वर्तते) वही अनु-वर्तता, उसी का अनु-करण करता है।

बड़े आदमी की हर बात जनता के लिए प्रमाण बन जाती है। समाज में उच्च स्थिति के लोग जैसा व्यवहार करते हैं, जनसाधारण वैसा ही करने लग जाते हैं। अर्जुन साधारण व्यक्ति नहीं है। वह वीरशिरोमणि है। यदि वह इस प्रकार न्याय्य युद्ध से हट जाता है तो अन्याय के प्रतिरोध की श्रेष्ठ परम्परा विलीन होजाएगी। साधारण जनता उसका अनुकरण करने लगेगी। वह समाज के लिए एक सर्वथा अप्रशस्त और अवाञ्छनीय आदर्श होगा।

मानवसमाज में जो विशिष्ट व्यक्ति हैं उनके लिए यह श्लोक एक सुन्दर विधान कर रहा है। विशिष्ट व्यक्तियों के प्रत्येक व्यवहार और उनकी प्रत्येक चेष्टा का जनसाधारण में अनुकरण किया ही जाता है। सामाजिक उच्च स्थिति प्राप्त व्यक्ति समाज में बुराई वा भलाई के फैलानेवाले होते हैं। वे जैसा वर्तते हैं, जनता वैसा ही वर्तती है। यह एक सहज और स्वाभाविक बात है। अतः बड़े लोगों का प्रत्येक कार्य ऐसा होना चाहिए कि उसका अनुकरण करके मानवसमाज अवनत न होकर उन्नत होता चला जाए।

१४१ 'न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।२२

'(पार्थ) अर्जुन! (त्रिषु लोकेषु) तीनों लोकों में (मे) मेरे लिए (किम् चन कर्तव्यम् न अस्ति) कुछ भी कर्तव्य नहीं है (च) और (न) न [ही कुछ] (अन्-अव-आप्तम् अव-आप्तव्यम्) अ-प्राप्त प्राप्तव्य [है]। तो भी मैं (कर्मणि) कर्म में (वर्ते एव) वर्तता ही हूं।

आप्तकाम कृष्ण कहते हैं, 'अर्जुन! अपने स्वयं के लिए मुझे कुछ भी

करना शेष नहीं है। न ही मुझे किसी अप्राप्त वस्तु अथ वा स्थिति की अपने स्वयं के लिए प्राप्ति करनी है। तथापि मैं कर्मरत रहता हूं।'

यह ठीक है कि बड़े लोग, विशिष्ट व्यक्ति जिस प्रकार वर्तते हैं तदनुसार ही मानवसमाज में अनुवर्तन होने लगता है और इस दृष्टि से उन विशिष्ट व्यक्तियों को आदर्शरूपेण अपने कर्तव्य कर्मों का निर्वहन करना चाहिए। किन्तु जो आप्तकाम हैं, जिन्हें अपने लिए न कुछ करना शेष है और न जिन्हें अपने लिए किसी अप्राप्त की प्राप्ति की इच्छा है, क्या उन्हें भी कर्म करना चाहिए? इस शंका के समाधान के लिए कृष्ण ने यहां अपना उदाहरण देकर अर्जुन की संशयनिवृत्ति की है। यथार्थ उच्च आत्मस्थिति में अपना उदाहरण देना प्राचीन आर्ष मर्यादा और आप्तशैली है। इस तत्त्व से अनभिज्ञ भद्र पुरुष प्रायः यह कह दिया करते हैं कि कृष्ण ने इस श्लोक में आत्मप्रशंसा की है। प्रथम तो आत्मप्रशंसा कोई अनार्ष बात नहीं है। सच्ची आत्मप्रशंसा जनता के लिए प्रेरणाप्रद होती है और अपने लिए सन्तोषप्रद होती है। दूसरी बात यह है कि आप्त पुरुष द्वारा प्रकथित आत्मदृष्टान्त आत्मप्रशंसा की कोटि में न आकर प्रत्यक्ष प्रमाण की कोटि में आता है।

१४२ 'यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।२३

'(हि) क्यों कि (यदि) यदि (अहम्) मैं (अ-तन्द्रितः) प्रमाद-रहित [होकर] (कर्मणि न वर्तेयम्) कर्म में न वर्तूं [तो], (जातु) निस्सन्देह, (पार्थ) अर्जुन! (मनुष्याः) मनुष्य (सर्वशः) सब प्रकार से (मम वर्त्म अनु-वर्तन्ते) मेरे बर्ताव को वर्तते हैं।

'मेरे अपने स्वयं के लिए कुछ भी करणीय और प्रापणीय न होते हुए भी मैं तत्परता के साथ सदा कर्म में रत रहता हूं क्यों कि, अर्जुन! यदि मैं ऐसा न करूं तो जनता मेरा अनुकरण करती हुई अकर्मण्य और प्रमादी होजाएगी।' आप्तकाम कृष्ण के ये शब्द गहन चिन्तन और मनन की अपेक्षा रखते हैं। संसिद्ध आप्त पुरुषों को भी लोकादर्श और लोकहित को दृष्टि में रखते हुए प्रमादरहित होकर सन्नद्धता के साथ सामाजिक लोकव्यवस्था के कार्यों में रत रहना चाहिए।

१४३ 'उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।२४

'(चेत् अहम् कर्म न कुर्याम्) यदि मैं कर्म न करूं [तो] (इमे लोकाः उत्-सीदेयुः) ये [सब] लोग शिथिल होजाएं; (च) और मैं (सम्-करस्य कर्ता स्याम्) अव्यवस्था का सम्पादक होजाऊं, (इमाः प्र-जाः उप-हन्याम्) इन प्र-जाओं को नष्ट करनेवाला होजाऊं।

कृष्ण कहते हैं, 'अर्जुन ! यदि मैं कर्म से उपराम होजाऊं तो मेरा अनुकरण करके ये सब लोग भी कर्महीन होजाएंगे, कर्मनिष्ठा शिथिल होजाएगी। परिणाम यह होगा कि समाज में संकरता [कर्तव्यहीनताजन्य अव्यवस्था] फैल जाएगी और मानवसमाज नष्ट-भ्रष्ट होजाएगा।'

१४४ 'सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद् विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ।२५

(भारत) अर्जुन ! (यथा) जैसे (अ-विद्वांसः) अ-विद्वान् (कर्मणि सक्ताः) कर्म में आसक्त [होकर] (कुर्वन्ति) करते हैं (तथा) वैसे [ही] (विद्वान्) विद्वान् (लोक-सम्-ग्रहम् चिकीर्षुः) लोक-सं-ग्रह चाहता हुआ (अ-सक्तः) अनासक्त [होकर] (कुर्यात्) करे।

लोकसंग्रह से तात्पर्य लोक-संगतिकरण अथ वा समाजव्यवस्था से है। समाजव्यवस्था की सुस्थिति के लिए विद्वानों [विवेकी जनों] को अनासक्त होकर उसी तत्परता के साथ वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक कर्तव्य कर्मों का निर्वहन तथा विहित कर्मों का सम्पादन करना चाहिए जिस तत्परता के साथ अविद्वान् [अविवेकी जन] आसक्ति से बंधे हुए कर्म करते हैं। साधारण प्रजा स्वार्थबद्ध होकर स्वार्थसिद्धि के लिए जिस सन्नद्धता के साथ कर्मरत रहती है उसी सन्नद्धता के साथ असाधारण, विशिष्ट, आदर्श पुरुषों को निस्स्वार्थ होते हुए भी कर्मरत रहना योग्य है।

१४५ 'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ।२६

'(विद्वान्) विवेकी (युक्तः) युक्त [होकर] (सम्-आ-चरन्) सम्यक् आ-चरता हुआ (सर्व-कर्माणि) सब कर्मों को (जोषयेत्) प्रीतिपूर्वक सेवन करे, (अ-ज्ञानाम् कर्म-सङ्गिनाम्) अ-विवेकी कर्मासक्तों में (बुद्धि-भेदम् न जनयेत्) बुद्धि-भेद न उत्पन्न करे।

युक्त शब्द यहां बड़ा महत्त्वपूर्ण है। युक्त, योगयुक्त, आत्म-अवस्थित, समाहित, ब्रह्मस्थ, ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। इन सब शब्दों में योग की अनासक्त स्थिति का भाव अन्तर्निहित है। जो युक्त होता है वही अनासक्त होता है। जो अनासक्त होता है वही युक्त होता है। युक्त और अनासक्त वही हो सकता है जिसने ज्ञान, विवेक अथ वा विद्या का दीप प्रकाशित कर लिया हो। ज्ञान, विवेक, विद्या, ये शब्द भी पर्यायवाची हैं। इन तीन शब्दों में तत्त्वज्ञान का भाव सन्निहित है। ज्ञानी, तत्त्वज्ञानी, विद्वान्, विवेकी—एक ही बात है। बहुत पढ़े-लिखे को विद्वान् नहीं कहते हैं। बहुत पढ़े-लिखे को तो बहुपठित कहना चाहिए। विद्वान् नाम तो विद्-वान् का है, ज्ञान-वान् का

है, विवेकी का है। जिसने विद्, विवेक वा ज्ञान का चिराग़ नहीं जलाया है वह न युक्त हो सकता है, न अनासक्त।

सूर्य के प्रकाश में जिस प्रकार अन्धकार का नाश होजाता है उसी प्रकार विवेक के प्रकाश में आसक्ति विनष्ट होजाती है। आसक्ति के विनष्ट होने पर उस विवेकख्याति का उदय होता है जिसमें आत्मा अपने स्वरूप में स्थित और युक्त होजाता है। विवेक की साधना परम साधना है। विवेक की सिद्धि होने पर आत्मा स्वयमेव युक्त और अनासक्त होजाता है।

प्रकाश में जो कार्य किया जाता है वह ठीक ठीक किया जाता है। अंधेरे में क्रिया काम ठीक नहीं किया जाता है। विवेक के प्रकाश में जो कर्म किया जाता है वही यथावत् किया जाता है। प्रकाश में भी कर्म यथावत् नहीं किया जा सकता, यदि कर्ता की स्थिति स्थिर न हो। प्रकाश के होने तथा स्थिति के स्थिर होने पर भी कर्म यथावत् नहीं किया जा सकता, यदि कर्ता निर्बद्ध [खुला हुआ] न हो। दिन है, सूर्य का प्रकाश है, घोड़ा स्वस्थ और स्थिर है, किन्तु रस्सी के द्वारा वृक्ष से बंधा हुआ है। वह न चल सकता है, न दौड़ सकता है। जब उसे निर्बद्ध कर दिया जाता है, खोल दिया जाता है तब वह यथावत् गति करता है।

यथावत् कर्म तभी किया जाता है जब कर्ता विवेक के प्रकाश में कर्म करता है, जब कर्ता की स्थिति स्थिर [युक्त] होती है, जब कर्ता निर्बद्ध [अनासक्त] होता है। युक्त और अनासक्त होने पर विवेकी सक्षम होजाता है, उसमें कर्मक्षमता आजाती है। सक्षम होकर, कर्मक्षमता से युक्त होकर, चाहिए कि (विद्वान्) विवेकी (युक्तः) युक्त—समाहित होकर (सम्-आ-चरन्) सम्यक् व्यवहार करता हुआ, अनासक्ति के साथ वर्तता हुआ (सर्व-कर्माणि जोषयेत्) सब कर्मों को प्रीतिपूर्वक सेवे, सस्नेह सब कर्मों का यथावत् सम्पादन करे।

जो ऐसा समझे वा कहे कि युक्त और अनासक्त होने पर कर्मों का त्याग कर देना चाहिए वह विवेकी नहीं है अविवेकी है, वह विद्वान् नहीं है अविद्वान् है, वह ज्ञानी नहीं है अज्ञानी है। जो ऐसा समझता, कहता और करता है वह पूर्व-श्लोक में उपदिष्ट इस तत्त्व को नहीं समझ पाया कि 'अविद्वान् आसक्त होकर जिस तत्परता के साथ कर्म करते हैं, लोकसंग्रह को दृष्टि में रखते हुए विद्वानों को उसी तत्परता के साथ कर्तव्य कर्मों का निर्वहन करना चाहिए।'

ऐसा समझने, कहने और करने से जनसाधारण में बुद्धिभेद उत्पन्न होता है। बुद्धिभेद से प्रमाद की वृद्धि होती है। प्रमाद की वृद्धि होने पर कर्मही ता व्यापती है। कर्महीनता का परिणाम यह होता है कि आसक्ति होने पर भी लोग कर्म नहीं करते और अपनी कर्महीनता को वे अनासक्ति समझने लगते

हैं। अनासक्ति के नाम पर वे अकर्मण्य हो जाते हैं। युक्त, अनासक्त, विवेकी जन को चाहिए कि वह अपने आचार, व्यवहार से (अ-ज्ञानाम् कर्म-सङ्गिनाम्) अविवेकी कर्मासक्तों में (बुद्धि-भेदम् न जनयेत्) बुद्धिभेद पैदा न करे, अन्यथा समाज में भयंकर कर्मसंकरता फैल जाती है।

१४६ 'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।२७

'(कर्माणि) कर्म (सर्वशः) सब प्रकार से (प्र-कृतेः गुणैः क्रियमाणानि) प्र-कृति के गुणों से क्रियमाण [हैं]। (अहम्-कार-वि-मूढ-आत्मा) अहं-कार से मोहित आत्मा (मन्यते इति) [ऐसा] समझता है कि (अहम् कर्ता) मैं करनेवाला [हूं]।

प्रकृति से तात्पर्य यहां त्रि-गुणात्मक प्रकृति से नहीं है अपि तु स्वभाव-संस्कारजन्य प्रकृति से है। जन्म-जन्मान्तर और इस जन्म के स्वभाव-संस्कार के अतिरिक्त माता, पिता और समाज के स्वभाव-संस्कार का भी प्रभाव मानव की प्रकृति में अन्तर्निहित रहता है। स्वीय, पैत्रिक तथा सामाजिक स्वभाव-संस्कार से मानव की जैसी प्रकृति बन जाती है, उसमें उसी प्रकार के गुणों का समावेश होता रहता है। उसमें जैसे गुणों का समावेश रहता है वह सर्वशः और सर्वतः उसी प्रकार के कर्म करता है।

विषय के स्पष्टीकरण के लिए यहां एक-दो उदाहरण देना उपादेय होगा।

स्वभाव-संस्कार से एक मनुष्य की क्रोधी प्रकृति बन गई है। क्रोधी प्रकृति के कारण उसमें कटुता, उग्रता, चिड़चिड़ापन, असहनशीलता, आदि क्रोधजन्य गुण समाविष्ट हैं। क्रोधी मनुष्य की सारी चेष्टाएं और उसके सारे कर्म इन गुणों से प्रेरित और प्रभावित रहते हैं।

एक दूसरा मनुष्य है। स्वभाव-संस्कार से उसकी साधु प्रकृति बन गई है। साधु प्रकृति के कारण उसमें मृदुता, सुशीलता, सौम्यता, सहनशीलता, विनम्रता, सौजन्य, शालीनता, आदि गुणों का समावेश है। किसी भी अवस्था और परिस्थिति में उसकी सारी चेष्टाएं और उसके सारे कर्म इन गुणों से प्रेरित और प्रभावित रहते हैं।

क्रोधी मनुष्य को प्रायः अपनी कृतियों पर पश्चात्ताप हुआ करता है और वह चाहा करता है कि भविष्य में वह अपनी क्रोधी प्रकृति के प्राकृत गुणों से अभिभूत न होने पाए किन्तु अवसर आने पर वह पुनः पुनः उन गुणों से अभिभूत होता रहता है। इस प्रकार, वह उन गुणों से अपने को सर्वशः वशीभूत और लाचार पाता है और अपने प्राकृत गुणों के अनुसार कर्म कर बैठता है।

एवमेव, साधु मनुष्य को जब संसार सताता और अपमानित करता है तो

कभी कभी उसमें उबाल आया करता है और वह चाहा करता है कि वह अपने सतानेवालों और अपमानकर्ताओं को उन्हीं के सिक्कों में अदायगी करे किन्तु अवसर आने पर वह अपने प्रकृतिजन्य गुणों से अपने को सर्वंश: प्रेरित और प्रभावित पाता है और अपने प्राकृत गुणों के अनुसार ही व्यवहार करता है।

कहने को तो अर्जुन ने कह दिया था कि मुझे राज्य लेकर क्या करना है, मैं युद्ध नहीं करूंगा, इत्यादि। किन्तु उसकी वे बातें कहनेमात्र की ही थीं। क्षणिक वैराग्य का नशा उतर जाने पर वह फिर कौरवों के प्रति अवश्यमेव उत्तेजित होता और शस्त्रास्त्र संभालता। उसकी प्रकृति उग्र प्रकृति थी और तज्जन्य शौर्य, वीर्य, आदि गुण भी उसमें विद्यमान थे हीं। अतः यह हो ही नहीं सकता था कि अर्जुन अपनी प्रकृति के गुणों के विपरीत कार्य कर सकता। युद्ध तो वह करता ही।

किए जानेवाले कर्म *क्रियमाण कर्म* कहलाते हैं। जो कर्म किए जाते हैं वे प्रकृति के गुणों के अनुसार ही किए जाएंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। अतः अर्जुन का कहना कि मैं यह नहीं करूंगा, मैं वह नहीं करूंगा, मैं यह करूंगा, मैं वह करूंगा, ये सब बेकार बातें थीं।

क्रोधी प्रकृतिवाला मनुष्य साधना द्वारा जब तक अपने स्वभाव-संस्कार को शोधकर अपनी प्रकृति को साधु प्रकृति नहीं बनाएगा तब तक वह न साधु गुणों से युक्त हो सकता है, न साधु कर्म कर सकता है। एवमेव, साधु प्रकृतिवाला मनुष्य जब तक अपनी साधु प्रकृति को बदल कर अ-साधु प्रकृति नहीं बनाता है और असाधु गुणों से युक्त नहीं होता है तब तक वह असाधु कर्म नहीं कर सकता है।

कर्म तो स्व प्रकृति के गुण कराते हैं, आत्म-अहंकार से कुछ बनता-बनाता नहीं है। जब तक आत्मा अपनी प्रकृति को आत्मिक अथ वा दैवी नहीं बना लेता है तब तक वह अपने प्राकृत गुणों के सामने अपने को निरुपाय पाता है।

१४७ 'तत्त्ववित् तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्त्वा न सज्जते।२८

'(महा-बाहो) महा-बाहो! (गुण-कर्म-वि-भागयोः तत्त्व-वित् तु) गुण और कर्म के वि-भागों के तत्त्व को जाननेवाला तो, (मत्त्वा इति) [ऐसा] मानकर कि (गुणाः गुणेषु वर्तन्ते) गुण गुणों में वर्तते हैं, (न सज्जते) व्यामिश्रित—संसक्त नहीं होता है।

कृष्ण यहां एक गुह्य रहस्य का उद्घाटन कररहे हैं। गुण गुणों में वर्तते

हैं, गुणों में गुण प्रतिकृत होते हैं।

पूर्व-श्लोक की व्याख्या में बताया जा चुका है कि स्वभाव-संस्कारजन्य प्रकृति के अनुरूप ही प्रत्येक व्यक्ति में गुणों का समावेश होता है और अपने गुणों से प्रभावित होता हुआ अपने गुणों के अनुसार ही वह कर्म करता है। क्रोधी प्रकृति के मनुष्य में कटुता, उग्रता, चिड़चिड़ापन, आदि गुणों का समावेश होता है और उसी प्रकार की वह चेष्टाएं करता है। साधु प्रकृति के मनुष्य में मृदुता, सुशीलता, सोम्यता, आदि गुणों का समावेश होता है और उसी प्रकार का वह व्यवहार करता है।

इस श्लोक में एक विशेष बात कही गई है, *गुणा गुणेषु वर्तन्ते*, गुण गुणों में वर्तते हैं, गुणों में गुण वर्तते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि स्वभाव-संस्कारजन्य प्रकृति के अनुरूप ही मनुष्य के गुण होते हैं और उसके गुणों के अनुसार ही उसमें प्रतिक्रियाएं होती हैं। *यथा प्रकृति तथा गुण। यथा गुण तथा प्रतिक्रिया।* (गुणेषु) प्रकृतिजन्य गुणों में (गुणाः वर्तन्ते) तदनुसार प्रतिक्रियाएं होती हैं। प्रतिक्रियाओं से प्रतिकृत होकर समस्त क्रियाएं होती हैं। गुणविभाग और कर्मविभाग का पर्याय है 'गुणेषु गुणाः' [गुणों में प्रतिक्रियाएं]।

स्वभाव-संस्कार से एक मनुष्य क्रोधी प्रकृति का है। तदनुसार कटुता, चिड़चिड़ापन, आदि गुणों का उसमें समावेश है। इन गुणों के अनुसार ही उसमें प्रतिक्रियाएं होती हैं। क्रोधी प्रकृति के मनुष्य के सामने से एक साधु प्रकृति का मनुष्य गुज़रा। साधु पुरुष ने मुस्काते हुए उससे कहा, 'कहिए, चित्त प्रसन्न है।' क्रोधी मनुष्य ने उलटकर जवाब दिया, 'तुम्हारी बला से।' साधु पुरुष का आशय तो सदाशय था किन्तु क्रोधी पुरुष के कटुता, आदि गुणों पर उसकी प्रतिक्रिया कटुतापरक हुई और वैसा ही उसने व्यवहार किया। साधु पुरुष क्षमायाचना करता हुआ उसे शान्त और प्रसन्न करने का यत्न कररहा है और क्रोधी पुरुष असभ्य व्यवहार करता चला जाता है। दोनों में स्व स्व गुणों के अनुसार प्रतिक्रियाएं हो रही हैं। एक भड़कता चला जारहा है और दूसरा सोम्यता के साथ वर्त रहा है। अन्त में क्रोधी कहता है, 'जाओ, अपना रास्ता लो।' साधु पुरुष ने क्रोधी पुरुष को नमस्कार किया और, 'क्षमा चाहता हूं,' यह कहकर समुस्कान आगे बढ़ गया। किसी ने कहा, 'आप उसके दुर्व्यवहार के बावजूद इतने प्रसन्न हैं।' उत्तर मिला, '*गुणाः गुणेषु वर्तन्ते*; जैसे जिसमें गुण होते हैं वैसी ही उसमें प्रतिक्रियाएं होती हैं।' इस तत्त्व को माननेवाला व्यक्ति कभी व्यामिश्रित नहीं होता है, कभी नहीं गड़बड़ाता है।

अर्जुन ने कहा था, 'मैं युद्ध नहीं करूंगा। कौरवों को मारकर राज्यसुख भोगने की अपेक्षा भिक्षा मांगकर खाना बहतर होगा।' कृष्ण मुस्का दिए।

वे जानते थे कि अर्जुन की वह प्रज्ञावादिता श्मशानवैराग्य के समान क्षणिक थी। इस क्षणिक प्रज्ञावादिता के पश्चात् अर्जुन की प्रकृति के गुण उभरेंगे, उनके अनुसार उसमें प्रतिक्रियाएं होंगी और उन प्रतिक्रियाओं से प्रतिकृत होकर वह युद्ध के लिए सन्नद्ध होगा।

गुणविभाग और कर्मविभाग के, गुण और क्रिया-प्रतिक्रिया के इस रहस्य को समझनेवाला ज्ञानी कभी विचलित अथ वा खिन्न नहीं होता है। मनुष्यों और सब प्राणियों के साथ यथाप्रकृति वर्तता हुआ ज्ञानी स्वयं अपनी प्रकृति और अपने गुणों से ऊपर उठा हुआ आत्मस्थ रहकर कर्म करता है।

१४८ 'प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् ।२९

'(प्र-कृतेः गुण-सम्-मूढाः) प्र-कृति के गुणों से सं-मोहित [जन] (गुण-कर्मसु) गुणों और कर्मों में (सज्जन्ते) जकड़ते हैं। (कृत्स्न-वित्) सं-ज्ञानी (तान् अ-कृत्स्न-विदः मन्दान्) उन अ-संज्ञानी मन्दमतियों को (न वि-चालयेत्) वि-चलित न करे।

प्रकृति के गुणों से लाचार जन गुणों और कर्मों में अथ वा गुणों और गुणों की प्रतिक्रियाओं में जकड़े रहते हैं। पूर्व-श्लोक में विश्लिष्ट और व्याख्यात गुण, कर्म वा गुणप्रतिक्रिया के रहस्य को न समझनेवालों को ज्ञानी जन विचलित न करें।

यहां एक निगूढ़ रहस्य निहित है। प्रत्येक मनुष्य गुणों और कर्मों के तत्त्व को न समझता है, न उनसे ऊपर उठकर और आत्मस्थ होकर कर्म करता है। साधारण जन गुणों और कर्मों से प्रतिकृत होकर ही कर्म करते हैं। ज्ञानी को चाहिए कि वह उनके स्वाभाविक गुणों के अनुसार उन्हें मर्यादित रखता हुआ उनसे समाज में विहित कर्म कराता रहे। जिस प्रकार बुहारी [झाड़ू] की असंख्य सींकें एक डोरी से सुष्ठुतया आबद्ध होकर भवनों और मैदानों को साफ़ कर देती हैं उसी प्रकार ज्ञानी सामाजिक व्यवस्था अथ वा सामाजिक विधान से जनता को अनुशासित रखकर समाज की व्यवस्था को सुव्यवस्थित, सुस्थिर और संशुद्ध रखे। दार्शनिक लच्छेदारियों में उलझाकर प्रजा को विचलित और अमर्यादित करना बुद्धिमानी का काम नहीं है। ऐसा करने से लोग मर्यादाविहीन और उच्छृंखल होजाते हैं। समाजव्यवस्था के लिए श्रेयस्कर यही है कि अज्ञों को ज्ञानियों का आदेशपालक बनाया जाए। ज्ञानी जन जैसा आदेश करें, मनु जैसा विहित ठहराएं, विधानशास्त्री जो विधान बनाएं, साधारण जन तदनुसार अपने अपने निश्चित कर्तव्य कर्मों का पालन करें।

१४९ 'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ।३०

'(अधि-आत्म-चेतसा) आत्म-चेतना द्वारा (सर्वाणि कर्माणि मयि सम्-नि-अस्य) सब कर्मों को मुझमें समर्पण करके, (निः-आशीः निः-ममः भूत्वा) आशा-रहित [तथा] ममता-रहित होकर, (वि-गत-ज्वरः) ज्वर-मुक्त [हुआ] (युध्यस्व) युद्ध कर।

ज्वर के ताप से सन्तप्त हुआ मनुष्य प्रायः ज्ञान और वैराग्य की व्यवहारशून्य उड़ानें भरा करता है। जब ज्वर उतर जाता है तो वह अपनी वास्तविक स्थिति में उतरकर पुनः यथार्थ कार्य करने लगता है। युद्धक्षेत्र में अर्जुन मोहज्वर से ग्रस्त होगया है और प्रज्ञावादियों के से ज्ञानोद्गार बघार रहा है। पर कृष्ण तो जानते हैं कि मोहज्वर का जब उतार होगा तो अर्जुन में पुनः उसके अपने प्राकृत गुणों की प्रतिक्रिया होगी और उसकी भुजाएं फिर युद्ध के लिए फड़क उठेंगी। यदि अर्जुन युद्ध से सर्वथा हट जाता है तो एक सांकर अवस्था उपस्थित होजाती है। अर्जुन विचलित हो गया है। यदि वह अब निश्चल होकर युद्ध नहीं करता है तो महान् अनर्थ होजाएगा और आततायियों की मनमानियों से समाज पीड़ित होजाएगा। विचलित अर्जुन को कर्तव्याचल पर सुस्थिर करने के लिए कृष्ण कहते हैं, 'अर्जुन ! विचलित न हो। अपनी आत्मचेतना द्वारा, अपने अन्तरात्मा से आश्वस्त होकर सब कर्मों के औचित्य-अनौचित्य का उत्तरदायित्व मुझ पर छोड़दे और आशा तथा ममता से मुक्त होकर केवल कर्तव्यबुद्धि से युद्ध कर। विगतज्वर होकर, अविचलता के साथ युद्ध के लिए सन्नद्ध हो।'

१५० 'ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तो ऽनसूयन्तो मुच्यन्ते ते ऽपि कर्मभिः।३१

'(ये मानवाः) जो मानव (श्रद्धावन्तः अन्-असूयन्तः) श्रद्धावान् [और] दोषारोप-रहित होकर (मे इदम् मतम् नित्यम् अनु-तिष्ठन्ति) मेरे इस मत को सदा आ-चरते हैं (ते अपि कर्मभिः मुच्यन्ते) वे भी कर्मों [के फलबन्धन] से मुक्त होजाते हैं।

स्पष्ट ही है कि जो भी मानव कृष्ण के उपर्युक्त मत से सहमत होकर, आशा और ममता [आसक्ति] का परित्याग करके, कर्तव्य कर्मों का पालन करेंगे वे कर्मों के फल और परिणाम से सर्वथा मुक्त रहेंगे।

१५१ 'ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः।३२

'(ये अ-चेतसः तु) जो अ-ज्ञानी तो (अभि-असूयन्तः) सर्वतः निन्दा करते हुए (मे एतत् मतम् न अनु-तिष्ठन्ति) मेरे इस मत को नहीं अनुसरते हैं, तू (तान् सर्व-ज्ञान-वि-मूढान्) उन सर्व-ज्ञान-वि-मोहितों को (नष्टान् विद्धि) नष्ट हुए जान।

कृष्ण कहते हैं, 'जो लोग निन्दा करते हुए मेरे उपर्युक्त ज्ञान के अनुसार आचरण नहीं करते हैं वे सब अज्ञानी और सर्वज्ञानविमूढ़ हैं। वे कल्याण को प्राप्त न करके अकल्याण और विनाश को प्राप्त होते हैं। उनका लोक और परलोक सर्वथा भ्रष्ट हुआ समझ।'

१५२ 'सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ?३३

'(ज्ञानवान् अपि) ज्ञानवान् भी (स्वस्याः प्र-कृतेः सदृशम् चेष्टते) अपनी प्र-कृति के अनुसार चेष्टा करता है। (भूतानि प्र-कृतिम् यान्ति) सब प्राणी प्र-कृति को प्राप्त रहते हैं। (नि-ग्रहः किम् करिष्यति) नि-ग्रह क्या करेगा ?

प्रत्येक मनुष्य स्वभाव-संस्कारजन्य अपनी प्रकृति के अनुरूप ही सब चेष्टाएं करता है। न केवल अज्ञानी अपि तु ज्ञानी भी स्वप्रकृति से प्रेरित होकर सब व्यवहार करता है। मानुषेतर अखिल प्राणी भी अपनी अपनी प्रकृति को प्राप्त रहते हुए ही सब कर्म करते हैं।

आत्मसाधना और जीवननिर्माण में प्रकृति का सर्वतः प्रभाव होता है। इस मार्ग में केवल निग्रह [हठात् इन्द्रियसंयम] से काम नहीं चलता है अपि तु अपनी प्रकृति को शुद्ध, सात्त्विक बनाने की अनिवार्य आवश्यकता है।

एक व्यक्ति हृदय से पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहता है। इसके लिए यदि वह केवल निग्रह का आश्रय लेता है तो वह कभी कदापि सफल न होगा। हां, यदि वह अपनी प्रकृति को विशुद्ध और सात्त्विक बना लेगा तो, निश्चय ही, वह निग्रहपूर्वक ब्रह्मचर्य के पालन में सफल होगा। प्रायः मनुष्य इच्छाशक्ति और निग्रह के अवलम्ब से ब्रह्मचर्य के पालन में बहुत यत्न करते हैं। किन्तु सदा ही इच्छाशक्ति तथा निग्रह पर प्रकृति आक्रमण करती है और ब्रह्मचर्य को खण्डित करा देती है। सतत साधना, सन्तत अभ्यास और सात्त्विक रहन-सहन और खान-पान के द्वारा जब मनुष्य अपनी प्रकृति को नितान्त शान्त कर लेता है तब ब्रह्मचर्य सर्वथा प्राकृत और स्वाभाविक हो जाता है।

एवमेव, बहुत से व्यक्ति स्वभाव-संस्कारजन्य अपनी प्रकृति से प्रमादी होते हैं। वे हृदय से चाहते और यत्न करते हैं कि वे चुस्त हो जाएं। पर वे वैसा हो नहीं पाते। प्रमाद से उनका छुटकारा तभी होगा जब वे अपनी प्रमादी प्रकृति को बदलकर अप्रमादी बना लेंगे।

राग-द्वेष की भी प्रकृति होती है। जिस मनुष्य की प्रकृति में राग-द्वेष सन्निहित है वह तब तक राग-द्वेष से मुक्त नहीं हो सकता जब तक कि वह अपनी प्रकृति को राग-द्वेषरहित न बना ले।

मनुष्यों के व्यवसाय भी प्रकृति पर आश्रित होते हैं। सात्त्विक व्यक्ति स्वभावतः ब्राह्म कर्म के लिए ही उपयुक्त होता है; वह क्षात्र वा वैश्य वा शूद्र कर्म के लिए सर्वथा अयोग्य होता है। राजसी प्रकृति का मनुष्य स्वभावतः क्षात्र कर्म के लिए उपयुक्त होता है; वह ब्राह्म वा वैश्य वा शूद्र कर्म उत्तमतया नहीं कर सकता। मिश्रित प्रकृति का मनुष्य वैश्य कर्म के लिए सक्षम होता है; वह ब्राह्म वा क्षात्र वा शूद्र कर्म में दक्ष नहीं होता। तामसी प्रकृति का मनुष्य स्वभावतः शूद्र कर्म के लिए उपयुक्त होता है, ब्राह्म वा क्षात्र वा वैश्य कर्म के लिए नहीं।

प्रकृति के अनुसार ही समाज में मनुष्यों की चार स्वाभाविक कोटियां हैं। समाजव्यवस्था के सुष्ठु संचालन के लिए श्रेयस्कर यही है कि सब मनुष्यों से यथाप्रकृति अथ वा स्वधर्मानुसार कार्य कराया जाए। स्वप्रकृति और स्वधर्म, दोनों शब्द पर्यायवाची हैं। अगले श्लोक में *स्वधर्म* शब्द का प्रयोग 'स्वप्रकृति' अर्थ में ही हुआ है। यथाप्रकृति अथ वा स्वधर्मानुसार कर्म दक्षता के साथ किए जाते हैं और उससे समाज का उत्कर्ष होता है।

१५३ 'इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।३४

'(इन्द्रियस्य इन्द्रियस्य) इन्द्रिय इन्द्रिय के (अर्थे) विषय में (राग-द्वेषौ) राग और द्वेष (वि-अव-स्थितौ) स्थित [हैं]। (तयोः) उन दोनों के (वशम् न आ-गच्छेत्) वश न आए (हि) क्यों कि (तौ) वे दोनों (अस्य) इस [मनुष्य] के (परि-पन्थिनौ) शत्रु [हैं]।

पांचों विषयेन्द्रियों का अपना अपना पृथक् पृथक् विषय है। नेत्र का विषय रूप है। मनुष्य को सुरूप से राग होता है, कुरूप से द्वेष। श्रोत्र का विषय शब्द है। मनुष्य को सुकोमल, सुरीले शब्दों से राग होता है, कर्कश, कटु शब्दों से द्वेष। घ्राण का विषय गन्ध है। मनुष्य को सुगन्ध से राग होता है, दुर्गन्ध से द्वेष। रसना का विषय स्वाद है। मनुष्य को सुस्वादु से राग होता है, अस्वादु से द्वेष। त्वचा का विषय स्पर्श है। मनुष्य को सुस्पर्श से राग होता है, कुस्पर्श से द्वेष।

यहां *राग* से तात्पर्य है रुचि, और द्वेष से तात्पर्य है अरुचि। सामान्यतः ये राग-द्वेष मनुष्य की प्रकृति में ही सन्निहित हैं और कल्याण के मार्ग में उसके महान् शत्रु हैं। ज्ञानी पुरुष को चाहिए कि इन दो शत्रुओं के वशवर्ती न होकर साधना द्वारा इन्हें अपनी प्रकृति से सर्वथा दूर करके इनसे सर्वथा मुक्त होजाए। राग-द्वेष से मुक्त होने पर ही मनुष्य निःसंग और निःस्पृह बनता है। अन्यथा वह आसक्ति से बंधता है।

१५४ 'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।'३५

'(सु-अनु-स्थितात् पर-धर्मात्) सु-अनु-ष्ठित पर-धर्म से (वि-गुणः स्व-धर्मः) गुण-रहित स्व-धर्म (श्रेयान्) अधिक श्रेयस्कर [है]। (स्व-धर्मे नि-धनम् श्रेयः) स्व-धर्म में मरना श्रेयस्कर [है]। (पर-धर्मः भय-आ-वहः) पर-धर्म भयावह [है]।'

यहां *धर्म* से तात्पर्य सनातन धर्म, वैदिक धर्म, जैन धर्म, बुद्ध धर्म, ईसाई धर्म, मुस्लिम धर्म, आदि से नहीं है। उस समय समस्त भूमण्डल पर और भारत में भी वैदिक धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई धर्म था ही नहीं। फिर जिस क्षण कृष्ण और अर्जुन के बीच यह *गीता*-वार्ता हुई थी उस क्षण अर्जुन किसी प्रकार के सम्प्रदायसूचक धर्मपरिवर्तन के लिए समुद्यत नहीं होरहा था। उस क्षण अर्जुन जिस परिवर्तन के लिए समुद्यत होरहा था वह था क्षात्र धर्म से ब्राह्मणधर्म का परिवर्तन।

न केवल जन्म से अपि तु गुण, कर्म, स्वभाव से भी अर्जुन क्षत्रिय था। राज्य, प्रजा और न्याय की रक्षा के लिए युद्ध करना उसका स्वाभाविक धर्म था। किन्तु क्षणिक भावावेश में आकर वह ब्राह्मणवृत्ति का दिग्दर्शन करता हुआ कहने लगा, 'कृष्ण ! मैं न विजय चाहता हूं, न राज्य, न सुख। राज्य और सुखभोगों से मुझे क्या लेना है ? जीवन क्षणभंगुर है। तीनों लोकों के राज्य के लिए भी मैं युद्ध न करूंगा।'

स्वधर्म से तात्पर्य यहां स्वकर्तव्य अथ वा अपने स्वाभाविक कर्म से है। *परधर्म* से तात्पर्य है परकर्तव्य और स्वकर्तव्यहीनता से। स्पष्टतः, *धर्म* शब्द का प्रयोग यहां कर्तव्य अर्थ में ही हुआ है।

क्षत्रिय होने के नाते अर्जुन का स्वधर्म राज्य, प्रजा और न्याय की रक्षा के लिए युद्ध करना ही है। यदि वह सहसा ब्राह्मणकर्म की ओर प्रवृत्त होता है तो निश्चय ही वह न घर का रहता न घाट का। जो बात जिसके स्वभाव-संस्कार में नहीं होती उसमें वह कदापि सफल नहीं हो सकता। यहां तो अर्जुन कर्तव्यविशेष पर नियुक्त है और ठीक कर्तव्यपालन की घड़ी में वह कहता है, 'मैं यह नहीं करूंगा, वह करूंगा।' वह तो परले सिरे का अनुशासनभंग था।

एक समय की बात है। एक सेना की तीन टुकड़ियां युद्ध के मोर्चे की ओर प्रयाण कररही थीं। एक पड़ाव पर एक टुकड़ी ने आगे बढ़ने से इंकार कर दिया, यह कहते हुए कि हम सेना में नौकरी करना नहीं चाहते। सेनापति बुद्धिमान् था। उसने सोचा कि यदि इस टुकड़ी की छूत शेष दो

टुकड़ियों पर पड़ गई तो स्थिति बड़ी नाजुक होजाएगी। उसने उस टुकड़ी के जवानों से कहा, 'अपने सब हथियार मेरे तम्बू के सामने जमा करदो और तुम सब उस पीपल के वृक्ष के पास खड़े होजाओ। मैं तुम सब को छुट्टी देदूंगा।' उन्होंने वैसा ही किया। उधर सेनापति ने अन्य दो टुकड़ियों से कहा, 'ये सिपाही शत्रु से जा मिलने का षड्यन्त्र कररहे थे। मैंने इनसे हथियार रखवा लिए हैं। इन्हें गोलियों से उड़ा दो।' वे गोलियों से उड़ा दिए गए।

यही स्थिति अर्जुन की थी। वह युद्धकार्य पर नियुक्त है और ठीक कर्तव्य-पालन के अवसर पर कहता है, 'मैं युद्ध नहीं करूंगा।' यदि अर्जुन साधारण सिपाही होता तो, निस्संदेह, उसे मौत की सज़ा दी जाती और तलवार से उसका सिर उड़ा दिया जाता। किन्तु यहां तो अर्जुन पाण्डव दल का सर्वस्व है। उसके बिना पाण्डव और पाडण्वों के नेता, कृष्ण कहीं के न रहते। अतः अन्तःप्रेरणा करके अर्जुन के आत्मसंबल को जगाने के अतिरिक्त कृष्ण के पास और चारा ही क्या था?

दूसरी ओर, यह भी निश्चय था कि अर्जुन ब्राह्मणधर्म का पालन कदापि नहीं कर सकता था। कुछ समय पश्चात् क्षणिक वैराग्यज्वर के उतर जाने पर वह पुनः दुर्योधन के विरुद्ध शस्त्र संभालता ही। तब उसकी स्थिति और भी विकट होजाती। इस अवसर पर यदि अर्जुन युद्ध से उपरत होजाता है तो दूसरी बार उसका विश्वास कौन करने लगा था और साथ कौन देने लगा था?

अर्जुन उवाच

१५५ 'अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।'३६

अर्जुन बोला, '(वार्ष्णेय) यादव! (अथ) और (अन्-इच्छन् अपि) न चाहता हुआ भी (बलात्-इव नि-योजितः) बलात् बांधा हुआ-सा (केन प्र-युक्तः) किससे प्रेरित [होकर] (अयम् पुरुषः) यह पुरुष (पापम् चरति) पाप [कर्म] करता है?'

कृष्ण के युक्तिसंगत दार्शनिक वचनों से अर्जुन के सम्पूर्ण तर्क कुण्ठित होगए हैं। किन्तु अपने अन्तरात्मा में उसका अब भी समाधान नहीं हुआ है। वह अब भी ऐसा अनुभव कररहा है कि युद्ध करना पाप है। पर उसें यह भी लग रहा है कि न चाहते हुए भी रथ में जुड़े अश्व के समान भावी वा भवितव्यता बलात् उसे युद्ध की ओर हांके लिए जारही है। अपने मन की इस अस्त-व्यस्त अवस्था में अर्जुन ने यह प्रश्न किया है।

श्रीभगवानुवाच

१५६ 'काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।३७

कृष्ण ने उत्तर दिया, '(रजः-गुण-सम्-उद्-भवः) रजो-गुण से समुत्पन्न (एषः कामः महा-अशनः) यह काम महा-भोग [है], (एषः क्रोधः महा-पाप्मा) यह क्रोध महा-पाप [है] । (एनम्) इसको (इह) यहां (वैरिणम्) वैरी (विद्धि) जान ।

काम और क्रोध ही है वह, जिसके वश में होकर मनुष्य न चाहते हुए भी पाप कर बैठता है ।

काम महा-अशन है । *अशन* का अर्थ है भोजन अथ वा भोग । काम को महाभोग इसलिए कहा है कि काम सब भोगों में सबसे अधिक प्रबल भोग है । मनुष्य में कामेच्छा सर्वातिशय प्रबल होती है । यह वह अग्नि है जो बुझाए नहीं बुझ पाता । मनुष्य काम से तृप्त होने के लिए जितना यत्न करता है कामाग्नि उतना ही और अधिक भड़कता है । अन्य सब भोगों का शमन इतना दुस्तर नहीं है जितना दुस्तर काम का शमन है । काम का शमन होजाने पर भी कामजन्य स्मृतियां और वासनाएं अपना प्रभाव जमाए रहती हैं । इनसे छुटकारा पाने के लिए फिर सतत साधना करनी पड़ती है । तब जाकर कहीं काम से पूर्ण छुटकारा मिल पाता है ।

क्रोध को महा-पाप कहा है । क्रोध के वशीभूत होकर मनुष्य बड़े बड़े पाप कर बैठता है ।

इस श्लोक के अनन्तर इस अध्याय के अन्तिम श्लोक तक कृष्ण ने केवल काम के वर्जन का उपदेश किया है, क्रोध की बिल्कुल चर्चा नहीं की है । इसका कारण यह है कि *कामात् क्रोधो ऽभिजायते*, काम से क्रोध की उत्पत्ति होती है । काम के निर्मूल होजाने पर क्रोध स्वयमेव नष्ट होजाता है । मूल के नष्ट होने पर न फूल लगते हैं, न फल, न पत्ते ।

१५७ 'धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ।३८

'(यथा धूमेन वह्निः) जैसे धुए से अग्नि (च) और (मलेन आ-दर्शः) मल से दर्पण (आ-व्रियते) ढक जाता है, (यथा उल्बेन गर्भः आ-वृतः) जैसे जेर से गर्भ ढका हुआ [होता है] (तथा) वैसे (तेन इदम् आ-वृतम्) उससे यह [ज्ञान] ढका हुआ [है] ।

धूम की घनता से अग्नि का प्रकाश ढंप जाता है । दर्पण पर मल छाजाने से आकृति का दर्शन नहीं होता । जेर के छाजाने पर गर्भ दिखाई नहीं पड़ता । वैसे ही कामासक्ति से मनुष्य का ज्ञान तिरोहित होजाता है ।

१५८ 'आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ।३९

'(कौन्तेय) कुन्तीपुत्र ! (एतेन नित्य-वैरिणा च दुः-पूरेण काम-रूपेण अनलेन)

इस नित्य-वैरी और दुष्पूर्ण काम-रूप अग्नि से (ज्ञानिनः ज्ञानम्) ज्ञानी का ज्ञान (आ-वृतम्) ढका हुआ [है]।

काम दुष्पूर्ण है। कामभोग की इच्छा कभी पूर्ण नहीं होती अपि तु बढ़ती ही चली जाती है। काम वह अनल [अग्नि] है जो भोगी को जलाकर भस्म करदेता है। कामी के जीवन में काम के रूप में एक सतत वैरी बैठा हुआ है।

१५९ 'इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्।४०

'(इन्द्रियाणि, मनः, बुद्धिः) इन्द्रियां, मन [और] बुद्धि (अस्य अधि-स्थानम् उच्यते) इस [काम] के अधिष्ठान कहाते हैं। (एषः) यह [काम] (एतैः) इन [इन्द्रियों, मन, बुद्धि] के द्वारा (ज्ञानम् आ-वृत्य) ज्ञान को ढांपकर (देहिनम्) आत्मा को (वि-मोहयति) वि-मोहित करता रहता है।

बुद्धि के विचारों में, मन के संकल्पों में, नेत्रों की दृष्टि में, श्रोत्रों की श्रुति में, त्वचा की स्पृष्टि में, प्राणों के प्रणयन में, कण कण में, रोम रोम में काम का निवास है। काम की कामुकता इन सबको उत्तेजित करती हुई ज्ञान को ढांपे रहती है और देहस्थ आत्मा आत्मविस्मृति की मोहमयी मूर्च्छा में मूर्छित-सा रहता है।

१६० 'तस्मात् त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्।४१

'(तस्मात्) अतः, (भरत-ऋषभ) अर्जुन! (आदौ) प्रथम (त्वम् इन्द्रियाणि नि-यम्य) तू इन्द्रियों को नि-यन्त्रित करके (एनम् ज्ञान-वि-ज्ञान-नाशनम् पाप्मानम्) इस ज्ञान-विज्ञान-नाशक पापी [काम] को (प्र-जहि हि) मार ही दे।

१६१ 'इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः।४२

'(इन्द्रियाणि पराणि आहुः) इन्द्रियों को पर [बलवान्] कहते हैं। (इन्द्रियेभ्यः परम् मनः) इन्द्रियों से अधिक पर मन [है]। (मनसः तु परा बुद्धिः) मन से भी पर बुद्धि [है]। (यः तु बुद्धेः परतः) जो तो बुद्धि से भी परे [है] (सः) वह [आत्मा है]।

१६२ 'एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।'४३

'(महा-बाहो) महा-बाहो! (एवम् बुद्धेः परम् बुद्ध्वा) इस प्रकार बुद्धि से परे [आत्मा] को जानकर (आत्मना आत्मानम्) आत्मा से अपने आपको

(सम्-स्तभ्य) थामकर (दुः-आ-सदम् काम-रूपम् शत्रुम्) दुर्जेय काम-रूप रिपु को (जहि) मार।'

इन्द्रियों के तथा मन और बुद्धि के आश्रय से काम पर विजय सम्पादन नहीं की जा सकती क्यों कि ये सब तो काम के अधिष्ठान हैं। आत्मशक्ति से इन अधिष्ठानों का वशीकरण करके ही काम का निराकरण किया जा सकता है।

चौथा अध्याय

श्रीभगवानुवाच

१६३ 'इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवे ऽब्रवीत्।१

कृष्ण ने कहा, '(इमम् अ-वि-अयम् योगम्) इस अ-वि-नाशी योग को (अहम्) मैंने (विवस्वते प्र-उक्तवान्) विवस्वान् के प्रति प्र-कथन किया था। (विवस्वान् मनवे प्र-आह) विवस्वान् ने मनु के प्रति प्र-कथन किया। (मनुः इक्ष्वाकवे अब्रवीत्) मनु ने इक्ष्वाकु के प्रति कहा।

१६४ 'एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप।२

'(एवम्) इस प्रकार (परम्-परा-प्र-आप्तम्) परम्परा से प्राप्त (इमम्) इस [योग] को (राज-ऋषयः) राज-ऋषियों ने (विदुः) जाना। (परम्-तप) परं-तप [अर्जुन]! (महता कालेन) बहुत समय से (सः योगः) वह योग (इह) यहां, इस [ससार] में (नष्टः) नष्ट [होगया था]।

१६५ 'स एवायं मया ते ऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तो ऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।'३

'(सः एव अयम् पुरा-तनः) वह ही यह प्राचीन [योग] (अद्य) आज (मया) मेरे द्वारा (ते) तेरे प्रति (प्र-उक्तः) प्र-कथन किया गया [है], तू (मे भक्तः च सखा असि) मेरा भक्त और सखा है, (इति) इसलिए। (हि) क्यों कि (एतत् उत्-तमम् रहस्यम्) यह उत्तम रहस्य [है]।'

कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि क्यों कि यह योग उत्कृष्टतम रहस्य है, इसका उपदेश हर किसी को नहीं किया जा सकता। पात्र को ही इसका उपदेश किया जाता है और पात्र में ही यह उपदेश समाता है। परंतप अर्जुन! मेरा भक्त और सखा होने से तू योग का पात्र है। इसी लिए मैंने इस पुरातन योग का

आज तेरे प्रति उपदेश किया है ।

अर्जुन उवाच

१६६ 'अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद् विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ।'४

अर्जुन ने पूछा, (अ-परम् भवतः जन्म) आधुनिक [है] आपका जन्म । (परम् जन्म विवस्वतः) पुरातन [है] जन्म विवस्वान् का । (कथम् वि-जानीयाम् इति) कैसे जानूं कि (त्वम्) तूने (आदौ) आदि [युग] में (एतत् प्र-उक्तवान्) इस योग को प्र-कथन किया था ?'

श्रीभगवानुवाच

१६७ 'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ।५

कृष्ण ने उत्तर दिया, '(अर्जुन) अर्जुन ! (मे च तव) मेरे और तेरे (बहूनि जन्मानि वि-अति-इतानि) बहुत जन्म हो चुके [हैं] । (परम्-तप) परम तपस्विन् ! (तानि सर्वाणि) उन सबको (अहम् वेद) मैं जानता हूं, (त्वम् न वेत्थ) तू नहीं जानता है ।

योगी योगबल से अपने स्वयं के पूर्व-जन्मों का हाल तो जान ही लेता है, अन्यों के पूर्व-जन्मों का हाल भी जान और जना सकता है । कृष्ण संसिद्ध योगी थे । उन्हें इस पूर्वजन्म-संज्ञान की सिद्धि प्राप्त थी ।

आत्मा अजर और अमर है । नाशवान् तो शरीर है । प्रत्येक आत्मा अनादि काल से कितने ही जन्म धारण कर चुका है । कृष्ण कहते हैं, अर्जुन ! मेरे और तेरे अनेक जन्म हो चुके हैं । योगबल से मुझे उनका ज्ञान है, तुझे उनका ज्ञान नहीं है । मुझे पता है कि इस लोक के आदि युग में मैंने विवस्वान् को इस योगरहस्य का उद्घाटन किया था । परम्परा से वह योग राजर्षियों में चलता चला आया । समयान्तर में उसका लोप हो गया । उस योग का तेरे प्रति उपदेश करके मैंने उसका इस अवसर पर पुनरुद्धार किया है ।

१६८ 'अजो ऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरो ऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ।६

'(अ-जः अ-वि-अय-आत्मा सन् अपि) अ-जन्मा, अ-वि-नाशी-आत्मा होकर भी, (भूतानाम् ईश्वरः सन् अपि) भूतों का ईश्वर होकर भी मैं (आत्म-मायया) आत्म-माया के द्वारा (स्वाम् प्र-कृतिम् अधि-स्थाय) अपनी प्रकृति को/पर अधि-स्थित होकर (सम् भवामि) सम्भव होता हूं ।

अज=अ+ज=अ+जर, अ+जन्म । जन्म और जरा से रहित को अज कहते हैं ।

परमात्मा अज है क्यों कि उसका न कभी जन्म हुआ है, न कभी होगा।

आत्मा भी अज है। आत्मा न कभी जीर्ण होता है, न जन्मता है। वह तो शरीर में संभव होता है, शरीर में आकर निवास करता है। सम् सम्यक्। भव होना, विराजना, निवास करना। जन्म और मरण तो शरीर का होता है। शरीर में आत्मा के संभवन [निवास] से शरीर का जन्म होता है और शरीर से आत्मा के अ-संभवन [न होने, निकल जाने] से मरण होता है।

प्रकृति भी अज है। प्रकृति न कभी जीर्ण होती है, न जन्मती है। वह तो केवल परिवर्तित होती है।

परमात्मा, आत्मा और प्रकृति, तीनों ही अज हैं। यहां इस श्लोक में अज का प्रयोग जरा और जन्म से रहित, मोक्षप्राप्त आत्मा के लिए हुआ है। कृष्ण मोक्षप्राप्त मुक्तात्मा थे। उन्होंने केवल अधर्म के नाश, धर्म की वृद्धि, शिष्टों के परित्राण और दुष्टों के विनाश के लिए आत्मेच्छा से वह कृष्ण-जन्म धारण किया था। जिस कार्य के लिए उन्होंने वह जन्म धारण किया था उसे करके वे पुन: मोक्षावस्था में स्थित होगए थे।

अव्यय = अ-व्यय = अ-क्षय। जिसका क्षय न हो उसे अव्यय कहते हैं। परमात्मा और आत्मा तो अक्षय हैं ही, प्रकृति भी अक्षय है। प्रकृति का भी कभी क्षय नहीं होता है। प्रकृति परिणामी है, किन्तु क्षयरहित है। स्वरूप और *परिमाण* से भी प्रकृति अक्षय है।

भूत शब्द का प्रयोग यहां ऐश्वर्य अर्थ में हुआ है। ईश्वर का बहुत प्रसिद्ध अर्थ है ऐश्वर्यों का स्वामी।

प्रकृति का प्रयोग इस श्लोक में स्वभाव वा आत्मवृत्ति अर्थ में हुआ है। स्व-स्वभाव के कारण मोक्षावस्था में भी विशिष्ट आत्माओं में वह वृत्ति बनी रहती है कि वे युगविशेष अथ वा अवस्थाविशेष में अधर्म के क्षय, धर्म के विस्तार, शिष्टों के रक्षण और दुष्टों के विनाश के लिए यथावसर निश्चित समय के लिए आत्म-इच्छा वा योगबल से मानवदेह धारण कर लेते हैं। कृष्ण उसी कोटि के मुक्त आत्मा हैं। जगती का दु:ख देखकर उनसे रहा नहीं जाता है और प्राणियों के दु:खनिवारणार्थ वे यथासमय मानवजन्म धारण कर लेते हैं। दु:खविनाश के पश्चात् वे पुन: मोक्षस्थ होजाते हैं।

माया शब्द का प्रयोग हुआ है यहां इच्छा वा शक्ति अर्थ में।

कृष्ण कहते हैं, 'अर्जुन! मैं आत्म-रूप से, स्वरूप से (अजः अव्यय-आत्मा अपि सन्) अज और अव्यय-आत्मा तो हूं ही, मोक्षस्थ होने से (भूतानाम्) आत्मैश्वर्यों का, योगैश्वर्यों का (ईश्वरः अपि सन्) स्वामी भी हूं। मैं पाप और अत्याचार के निवारणार्थ (स्वाम् प्रकृतिम् अधि-स्थाय) अपनी

प्रकृति पर अधिष्ठित होकर, अपने स्वभाव से प्रेरित होकर (आत्म-मायया) आत्म-इच्छा, आत्म-बल से (सम्-भवामि) संभवन करता हूं, जन्म धारण कर लेता हूं।'

१६९ 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥७

'(भारत) भरतवंशी [अर्जुन]! (यदा यदा हि) जब जब ही (धर्मस्य ग्लानिः) धर्म की ग्लानि [और] (अ-धर्मस्य अभि-उत्थानम्) अ-धर्म का अभि-उत्थान (भवति) होता है (तदा) तब [तब] (अहम्) मैं (आत्मानम्) अपने आपको (सृजामि) रचता, जन्म धारण करता हूं।

१७० 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥८

('साधूनाम् परि-त्राणाय) शिष्टों के परि-त्राण के लिए, (दुः-कृताम् वि-नाशाय) कु-कर्मियों के वि-नाश के लिए (च) और (धर्म-सम्-स्थापन-अर्थाय) धर्म की स्थापना करने के लिए मैं (युगे युगे) युग युग में, समय समय पर (सम्-भवामि) सं-भवन करता, जन्म लेता हूं।

१७१ 'जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥९

'(अर्जुन) अर्जुन! (मे जन्म च कर्म दिव्यम्) मेरा जन्म और कर्म दिव्य [है], (एवम्) इस प्रकार (यः) जो (तत्त्वतः वेत्ति) तत्त्वतः जानता है (सः) वह (देहम् त्यक्त्वा) देह को त्यागकर (पुनः जन्म न एति) फिर जन्म नहीं प्राप्त करता है, (माम् एति) मुझे प्राप्त करता है।

जन्म दो प्रकार के होते हैं, गुण्य और दिव्य। यथा कर्म तथा जन्म। जैसा कर्म वैसा जन्म। कर्मफलभोग के परिणामस्वरूप जो जन्म होता है उसे गुण्य जन्म कहते हैं। गुण्य जन्म में जहां मनुष्य एक ओर पूर्वजन्मकृत कर्मों का फल भोगता है वहां वह दूसरी ओर नवीन कर्म भी करता है। या यों कहिए कि जन्म-मरण के चक्र में फंसा हुआ जो जन्म धारण करता है वह गुण्य जन्म है।

जब कोई मुक्तात्मा युगविशेष वा अवस्थाविशेष में अधर्म के क्षय, धर्म के विस्तार, शिष्टों के रक्षण और दुष्टों के विनाश के लिए आत्मेच्छया योगबल से शरीर धारण करता है, उसे दिव्य जन्म कहते हैं। दिव्य जन्म का धारक आत्मा अपनी साध को पूरा करके देह का त्याग कर देता है और पुनः मोक्षावस्था को प्राप्त होजाता है। आत्मसाधना द्वारा त्रिगुणातीत होकर जब आत्मसाधक जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त कर लेता है, वह दिव्य जीवन कहलाता है।

कर्म भी दो प्रकार के होते हैं, त्रिगुणात्मक और दिव्य । गुण्यजन्मा के किए कर्म त्रिगुणात्मक कर्म कहलाते हैं और बन्धन का कारण होते हैं। दिव्यजन्मा के किए कर्म दिव्य कर्म होते हैं और बन्धन का कारण नहीं होते। जीवन्मुक्तावस्था-प्राप्त जन के कर्म भी दिव्य कर्म होते हैं।

कृष्ण कहते हैं, 'अर्जुन ! मेरा यह जन्म दिव्य जन्म है और मेरा प्रत्येक कर्म दिव्य कर्म है। मैं अपनी साध पूरी करके जब इस देह का परित्याग करूंगा तो पुनः जन्म नहीं लूंगा। तत्त्वतः जो इस प्रकार जानता है, जो इस तत्त्व को समझता है वह जन आत्मसाधना द्वारा जीवन्मुक्तावस्था को प्राप्त करता है और उसका जीवन दिव्य जीवन होजाता है। वह दिव्य जन बन जाता है। ऐसा दिव्य पुरुष भी देह को त्यागकर पुनः जन्म प्राप्त नहीं करता है और मुझे प्राप्त करता है, अर्थात्, मेरी जैसी दिव्य स्थिति को प्राप्त करता है। वह भी, जब धर्म की ग्लानि होती है, धर्मसंस्थापनार्थ युग युग में दिव्य जन्म धारण करता है।'

१७२ 'वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः।१०

'(बहवः) बहुत से (वि-इत-राग-भय-क्रोधाः) राग, भय, क्रोध से रहित (मत्-मयाः) मेरी जैसी स्थितिवाले (माम् उप आ-श्रिताः) मेरे उपा-श्रित (ज्ञान-तपसा पूताः) ज्ञान[रूप] तप से पवित्र [जन] (मत्-भावम्) मेरे भाव को (आ-गताः) प्राप्त हुए हैं।

यह श्लोक कृष्ण की तात्स्थ्य स्थिति में उनकी आत्मोक्ति है। तात्स्थ्य स्थिति में सभी योगयुक्त योगी ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं। क्राइस्ट ने भी कहा है, 'मेरे निकट आओ और मैं तुम्हें प्रकाश दूंगा।' दयानन्द ने भी कहा था, 'जब मेरा वेदभाष्य प्रकाशित होगा तो संसार में प्रकाश होजाएगा।'

मन्मय का अर्थ है मत्-मय, मुझ-मय, मुझसे युक्त, मुझसे प्रीति रखने-वाला।

मां उपाश्रित का अर्थ है मुझे आश्रय करनेवाला, मेरा अवलम्ब करनेवाला, मेरा अनुकरण करनेवाला।

भाव शब्द का प्रयोग यहां बड़ा गूढ़ और रहस्यमय है। 'भाव' का धात्वर्थ है सत्ता, अस्तित्व। यहां 'भाव' से तात्पर्य है जीवन।

कृष्ण कहते हैं, 'अर्जुन ! एक नहीं अनेक जन हैं जो तत्त्वज्ञानरूप तप से पवित्र होकर मेरे भाव को प्राप्त हुए हैं, जिन्होंने मेरे समान अपने जीवन को दिव्य बनाया है। मन्मय होकर वे मेरे उपाश्रित हुए और राग, भय तथा क्रोध से मुक्त होकर उन्होंने मत्समय पद प्राप्त किया है।'

१७३ 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।११

'(पार्थ) अर्जुन ! (ये) जो (माम्) मुझे (यथा प्र-पद्यन्ते) जैसे सेवते हैं, (अहम्) मैं (तान्) उन्हें (तथा एव भजामि) वैसे ही सेवता हूं। [मेरे भाव को प्राप्त] (मनुष्याः) मनुष्य (सर्वशः) सर्वतः (मम) मेरे (वर्त्म) मार्ग को (अनु-वर्तन्ते) अनु-वर्तते हैं।

इस स्थिति को प्राप्त संसिद्ध योगी सबको यथाभाव सेवते हैं। जो उन्हें गुरुवत् सेवता है वे उसे शिष्यवत् सेवते हैं। जो उन्हें सखावत् सेवता है वे उसे सखासम सेवते हैं। जो उन्हें भगवान् [ऐश्वर्यवान्] समझ कर सेवता है वे उसे स्वाश्रित समझकर उसके साथ वैसा ही व्यवहार करते हैं। जो उन्हें शत्रुवत् सेवता है वे उसके लिए शत्रुञ्जय बन जाते हैं।

जो मनुष्य तात्स्थ्य स्थिति में संस्थित योगी को उसकी वास्तविक स्थिति में पहचान कर उसके मार्ग का सर्वशः अनुकरण करते हैं वे स्वयं तात्स्थ्य स्थिति को प्राप्त करते हैं।

१७४ 'काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ।१२

'(देवता) साधु जन (इह) यहां, इस [संसार] में (कर्मणाम् सिद्धिम् काङ्क्षन्तः) कर्मों की सिद्धि चाहते हुए (यजन्ते) श्रेष्ठ कर्म करते हैं (हि) क्यों कि (मानुषे लोके) मानुषलोक, मानवयोनि में (कर्म-जा सिद्धिः) कर्म-जात सिद्धि (क्षिप्रम्) शीघ्र (भवति) होती है।

मनुष्यलोक में सिद्धि दो प्रकार से प्राप्त होती है। ज्ञानयोग के आश्रय से आत्मसाधना के द्वारा जो सिद्धि प्राप्त होती है उसमें बहुत समय लगता है और सतत अध्यवसाय की अपेक्षा होती है। कर्मयोग के आश्रय से यज्ञिय [श्रेष्ठ] कर्मों के करने से जो सिद्धि प्राप्त होती है उसमें अपेक्षाकृत बहुत शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है। अन्तर केवल यह है कि ज्ञानयोग के आश्रय से जो सिद्धि प्राप्त होती है वह तात्स्थ्य स्थिति को प्राप्त कराती है, जब कि कर्मयोग के आश्रय से जो सिद्धि प्राप्त होती है उसका विकास आत्म-अवस्थिति तक सीमित रहता है।

कर्मयोग की साधना में सरलता यह है कि पूर्वजों के किए कर्मों के ऐतिहासिक आदर्श कर्मजात सिद्धि की प्राप्ति में सहायता करने के लिए सहजतया उपलब्ध होते हैं।

ज्ञानयोग द्वारा तात्स्थ्य स्थिति की साधना में कठिनाई यह है कि उसके लिए सब कुछ आत्मानुभूति के द्वारा ही करना पड़ता है।

१७५ 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम् ।१३

'(गुण-कर्म-वि-भागशः) गुण और कर्म के वि-भाग से (चातुर्वर्ण्यम्) चार वर्णों की व्यवस्था (मया सृष्टम्) मेरे द्वारा रची गई [है]। (माम् अ-कर्तारम्, अ-वि-अयम्) मुझ अ-कर्ता, अ-व्यय को (तस्य कर्तारम् अपि विद्धि) उसका कर्ता भी जान।

पूर्व-श्लोक में कहा गया है कि मनुष्ययोनि में कर्मजात सिद्धि शीघ्र और सरलता के साथ होती है। कर्मजात सिद्धि के लिए ही मानवसमाज में गुण और कर्म के विभाग से चारों वर्णों की स्वाभाविक और प्राकृत संस्था सर्वत्र स्थापित है। सात्त्विक गुण-कर्म के व्यक्ति ब्राह्मण अथ वा विद्वान् की कोटि में आते हैं। राजस गुण-कर्म के व्यक्ति क्षत्रिय अथ वा वीर कोटि में आते हैं। सत्-रजः-मिश्रित गुण-कर्म के व्यक्ति वैश्य वा व्यापारी की कोटि में आते हैं। रजः-तमः-मिश्रित गुण-कर्म के व्यक्ति शूद्र [श्रमिक] की कोटि में आते हैं।

मया से तात्पर्य यहां 'मुझ, तात्स्थ्य स्थिति में स्थित, ब्रह्म के प्राकृत नियम के द्वारा' से है। ब्रह्म स्वयं अकर्ता और अव्यय है। अकर्ता और अव्यय होते हुए भी उसकी व्याप्तिमात्र से यह सब कृत है। इसी भाव से वह त्रिगुणात्मक सृष्टि का कर्ता है और गुण-कर्मविभाग से चार वर्णों का रचयिता है।

१७६ 'न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।१४

'(न माम् कर्माणि लिम्पन्ति) न मुझे कर्म लेपते हैं। (न मे कर्म-फले स्पृहा) न मेरी कर्म-फल में आसक्ति [है]। (इति माम् यः अभि-जानाति) ऐसा मुझे जो सर्वतः जानता है (सः कर्मभिः न बध्यते) वह कर्मों से नहीं बंधता है।

अनासक्त और निर्लेप होने के कारण, कर्म करते हुए भी मुझमें कर्मों का लेप नहीं होता है। मेरी इस स्थिति को जो आत्मना समझ पाता है, मेरा अनुकरण करता हुआ, वह भी अनासक्त और निर्लेप होकर कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त होजाता है।

१७७ 'एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात् त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ।१५

'(पूर्वैः मुमुक्षुभिः अपि) पूर्व मोक्षकामियों द्वारा भी (एवम् ज्ञात्वा) इसी प्रकार जानकर (कर्म कृतम्) कर्म किया गया [है]। (तस्मात्) अतः (त्वम्) तू (पूर्वैः) पूर्व [मुमुक्षुओं] द्वारा (पूर्व-तरम् कृतम् कर्म एव) प्राचीन-तर किए कर्म को ही (कुरु) कर।

निर्लेपता और अनासक्ति के इस रहस्य को हृदयंगम करके ही मोक्षकामी

पूर्वज कर्म किया करते थे। अतः तू उन पूर्वजों का अनुकरण करता हुआ प्राचीनतर निर्लेप रीति से ही समस्त कर्मों का निर्वहन कर।

१७८ 'किं कर्म किमकर्मेति कवयो ऽप्यत्र मोहिताः।
तत् ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसे ऽशुभात्।१६

'(किम् कर्म, किम् अ-कर्म) क्या कर्म, क्या अ-कर्म, (इति) इस विषय में (अत्र) यहां (कवयः अपि) बुद्धिमान् भी (मोहिताः) मोहित [होजाते हैं]। मैं (ते) तेरे प्रति (तत् कर्म) वह कर्म, कर्म का वह सिद्धान्त (प्र-वक्ष्यामि) प्र-कथन करूंगा (यत् ज्ञात्वा) जिसे जानकर तू (अ-शुभात्) अ-शुभ से (मोक्ष्यसे) मुक्त होजाएगा।

१७६ 'कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।१७

'(हि) निश्चय से, (कर्मणः) कर्म का [तत्त्व] (अपि) भी (बोद्धव्यम्) ज्ञातव्य [है] (च) और (वि-कर्मणः) वि-कर्म का [तत्त्व भी] (बोद्धव्यम्) जाननेयोग्य [है] (च) और (अ-कर्मणः) अ-कर्म का [तत्त्व भी] (बोद्धव्यम्) जाननीय [है]। (कर्मणः गतिः गहना) कर्म की गति गहन [है]।

१८० 'कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।१८

'(यः कर्मणि अ-कर्म पश्येत्) जो कर्म में अ-कर्म को देखे (च) और (यः अ-कर्मणि कर्म) जो अ-कर्म में कर्म को [देखे] (सः मनुष्येषु बुद्धिमान्) वह मनुष्यों में बुद्धिमान् [है], (सः) वह [ही] (युक्तः) योगयुक्त—समाहित योगी [है], वह [ही] (कृत्स्न-कर्म-कृत्) सम्पूर्णतया कर्मों का करनेवाला [है]।

संस्कृत वाङ्मय में *कर्म* का प्रयोग कर्तव्य कर्म अथ वा करणीय कर्म अर्थ में होता है। तदनुसार *अकर्म* का अर्थ है अकर्तव्य कर्म वा अकरणीय कर्म। स्मृतिकारों ने कर्तव्य कर्म के लिए *विहित कर्म* का और अकर्तव्य कर्म के लिए *निषिद्ध कर्म* का प्रयोग किया है। शास्त्रों द्वारा सम्पूर्ण कर्म विधि और निषेध की परिधि में पिरो दिए गए हैं। शास्त्रों में जिन जिन बातों के करने का विधान है वे सब कर्म हैं और जिन जिन बातों के करने का निषेध है वे सब अकर्म हैं। साथ ही, विहित कर्मों का करना शुभ वा पुण्य माना गया है और निषिद्ध कर्मों का करना माना गया है अशुभ वा पाप। यद्यपि स्मृतिकारों तथा शास्त्रकारों ने कर्मों का विधि-निषेध में विभाजन कर दिया है, फिर भी ऐसे कोमल अवसर और नाजुक प्रसंग आते हैं जब कर्म-अकर्म के विषय में बड़े बड़े क्रान्त कवि और बड़े बड़े बुद्धिमान् भी मोहित [किं-कर्तव्य-विमूढ़] होजाते हैं। इसी लिए कृष्ण कहते हैं, 'अर्जुन! तू जो अपने कर्तव्य-अकर्तव्य के

विषय में इस समय मोहित होरहा है, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। विकट प्रसंगों में कर्तव्य-अकर्तव्य के विषय में बड़े बड़े विज्ञ जन भी शंकाग्रस्त होजाते हैं। मैं तुझे कर्म का वह रहस्य बताऊंगा जिसे जानकर तू कभी अशुभ [पाप] का भागी न होगा। तू शुभ-अशुभ की द्विधा से मुक्त होजाएगा।'

'कर्म की गति गहन है,' इस मर्म का अर्जुन के मानस में स्पर्श कराते हुए कृष्ण कहते हैं, 'अर्जुन! कर्म और अकर्म का बोध तो प्राप्त करना ही चाहिए, विकर्म का बोध भी अवश्य होना चाहिए।' निस्सन्देह, जो जड़वत् विधि और निषेध का पालन करते हैं वे जड़मति हैं। विकर्म की व्यावहारिक गति को समझे बिना संसार में कर्म-अकर्म का कोई मूल्य, महत्त्व वा लाभ नहीं। उतना महत्त्व न कर्म में है न अकर्म में, जितना विकर्म में है।

विकर्म क्या है? कर्म में अकर्म को देखना और अकर्म में कर्म को देखना, यही विकर्म है। विकर्म के देखने, समझने और करनेवाला मनुष्य ही बुद्धिमान् योगी और सर्वकर्मकृत् मानव है।

अहिंसा कर्म है। हिंसा अकर्म है। कुछ दुष्ट जन आते हैं और एक युवती के साथ बलात्कार करना चाहते हैं। युवती अपने सतीत्व की रक्षार्थ रिवाल्वर निकाल कर फ़ायर करती है और उन आतताइयों को जान से मार देती है। न्यायाधीश उस युवती को दण्ड न देकर उसे प्रशंसापत्र प्रदान करता है और अपने फ़ैसले के अन्त में लिखता है, 'कोर्ट इस युवती के साहस और पराक्रम की प्रशंसा करता है। राष्ट्र की प्रत्येक युवती को अपने सतीत्व की रक्षा के लिए इस देवी का अनुकरण करना चाहिए।' अहिंसा कर्म था। हिंसा अकर्म था। सतीत्व की रक्षा के लिए अकर्म कर्म होगया। हिंसा अकर्म है और अकर्म था। पर यहां अकर्म कर्म बन गया है, अकरणीय कर्म करणीय कर्म हो गया है। यहां हिंसा करके उसने शुभ ही किया है, अशुभ नहीं।

प्रत्येक गृहस्थ ब्राह्म मुहूर्त में उठकर, शौच, स्नानादि से निवृत्त होकर, योगाभ्यास की रीति से ब्रह्म का ध्यान करे। ऐसा करना विहित कर्म है। अब शरद् ऋतु है और एक गृहस्थ तीव्र ज्वर से पीड़ित है। ऐसी अवस्था में यदि वह ब्राह्म मुहूर्त में उठकर स्नान, ध्यान करेगा तो और अधिक रुग्ण हो जाएगा। अतः ऐसा न करके उसने शुभ ही किया है, अशुभ नहीं।

विधि और निषेध का, कर्म और अकर्म का ध्यान रखना और तदनुसार वर्तना ठीक है, पर प्रसंगविशेष और अवसरविशेष में कब कर्म अकर्म बन जाता है और कब अकर्म कर्म हो जाता है, बुद्धिमान् मनुष्य इस तथ्य पर दृष्टि रखकर कार्य करता है। कर्म-अकर्म का जड़वत् अनुसरण करना परले

दर्जे की मूर्खता है। विकर्म का अर्थ है अवसरविशेष पर कर्म-अकर्म का विपर्यय [उलटा, विपरीत व्यवहार]। विहित कर्म कब, कहां निषिद्ध कर्म हो जाता है और निषिद्ध कर्म कब, कहां विहित कर्म होता है, इस तत्त्वबोध का नाम विकर्म है।

अर्जुन विकर्म के इस मर्म को दृष्टि से ओझल करके कहता है, 'कृष्ण ! हिंसा करना अकर्म है। पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः, इन अत्याचारियों को मारकर हमें हत्या का पाप अवश्य लगेगा।' वह यह नहीं सोचता है कि आततायियों का निरोध वा हनन नहीं किया गया तो संसार में कितनी हिंसा व्यापेगी और कितना अत्याचार बढ़ेगा। कृष्ण समझा रहे हैं, 'अर्जुन ! विकर्म के रहस्य को समझ। निस्सन्देह, हिंसा अकर्म है। पर आततायियों को निर्बाध, खुला छोड़ देना भी तो अकर्म है। यदि तू इन आततायियों से युद्ध न करेगा तो इनका आतंक और अत्याचार सारी भूमि पर व्याप जाएगा और सारी मानवप्रजा त्रस्त और हिंसित हो जाएगी। यहां दो में से एक अकर्म को तुझे चुनना ही होगा। हिंसाकारी होने पर भी धर्म [न्याय] की रक्षा के लिए तुझे युद्ध करना ही चाहिए।'

१८१ 'यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ।१९

'(यस्य) जिसके (सर्वे सम्-आ-रम्भाः) सब कर्म (काम-सम्-कल्प-वर्जिताः) कामना और सं-कल्प से वर्जित [होते हैं], (बुधाः) ज्ञानी [जन] (तम् ज्ञान-अग्नि-दग्ध-कर्माणम्) उस ज्ञानाग्नि-दग्ध-कर्मा को (पण्डितम् आहुः) पण्डित कहते हैं।

श्लोक १६-१८ में कृष्ण ने कर्म, अकर्म और विकर्म की दृष्टि से अर्जुन को युद्ध के प्रति प्रेरित किया है। अर्जुन कहता है, 'गुरु जनों तथा स्व जनों का वध करना कर्म नहीं अकर्म है।' कृष्ण ने समझाया, 'अर्जुन ! यहां विकर्म के रहस्य को समझ। साधारण अवस्था में गुरु जनों तथा स्व जनों का वध करना, निस्सन्देह, अकर्म है। किन्तु यहां तो अवस्था ही दूसरी है। यहां न गुरु जन गुरु जन हैं और न स्व जन स्व जन हैं। यहां तो ये गुरु जन और स्व जन आततायी बने हुए हैं और आततायियों का वध करना अकर्म नहीं कर्म है। यहां न्याय का प्रश्न उपस्थित है। न्याय गुरु जनों और स्व जनों से ऊपर है। यहां गुरु जन और स्व जन न्याय का खून कररहे हैं। सामान्य स्थिति में गुरु जनों और स्व जनों के साथ युद्ध करना अकर्म ही ठहरता। किन्तु यहां न्याय की रक्षा का प्रश्न उपस्थित होने से अकर्म कर्म होगया है। अतः विकर्म के रहस्य को समझ और डटकर युद्ध कर।'

अर्जुन अब एक दूसरा दृष्टिकोण उपस्थित करता है। वह कहता है, *न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च*, कृष्ण ! ये चाहे आततायी हों, चाहे अन्यायी। जब मुझे न विजय की कामना है, न राज्य की, न सुखों की तो फिर मैं युद्ध क्यों करूं ? युद्धनिवृत्ति के हेतु अर्जुन द्वारा प्रस्तुत किए गए इस तर्क का समाधान करते हुए कृष्ण कहते हैं, 'अर्जुन ! यदि तू सर्वतः कामनारहित है तब तो यह और भी अच्छा है क्यों कि जिसके सब कार्य कामना तथा कामनाजन्य संकल्पों से सर्वथा मुक्त होते हैं वह तो, निस्सन्देह, ऐसा ज्ञानी है जो कर्मों को ज्ञानाग्नि में दग्ध कर देता है। यदि तू कामना और संकल्प से मुक्त है तो ज्ञानियों की दृष्टि में तू, निस्सन्देह, *पण्डित* है। कामना और संकल्प से मुक्त होकर ही तू इस युद्धरूप समारम्भ का अनुष्ठान कर।'

ज्ञानाग्निदग्धकर्मा उसे कहते हैं जो प्रत्येक कर्म को ज्ञानरूप अग्नि में दग्ध करके करता है। भड़भूंजा अन्न के जिन दानों को भाड़ में भून देता है वे दाने चवाने-खाने के काम तो आते हैं, पर वे न पुनः बोए जाते हैं, न बोने पर पुनः उपजते हैं। इसी प्रकार जो कर्म दग्ध करके बोए जाते हैं वे कर्म न फलोत्पादक होते हैं, न बन्धन का कारण होते हैं, न वे हर्ष-शोक के झूले में झुलाते हैं, न वे परिणाम के विषय में संकल्प-विकल्पों के उत्पादक होते हैं।

फलेच्छा से मुक्त होकर केवल कर्तव्य के लिए कर्म करना ही कामनारहित होकर कर्म करना है। कामनारहित होकर जो कर्म किया जाता है उसके फल वा परिणाम के विषय में कोई संकल्प कर्ता के मानस में नहीं उठते हैं। काम और संकल्प से मुक्त होकर कर्म करनेवाला कर्म के फल से सर्वथा मुक्त रहता है। यह एक परमोच्च ज्ञान की स्थिति है। ऐसा ज्ञानी प्रत्येक कृत कर्म को ज्ञानाग्नि में दग्ध कर देता है। कर्म के फल की आसक्ति और कर्म के आसंग से मुक्त होकर कर्म करना ही कर्म को दग्ध करना है।

१८२ 'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित् करोति सः ।२०

'ज्ञानाग्निदग्धकर्मा (कर्म-फल-आ-सङ्गम्) कर्म के फल की आ-सक्ति को (त्यक्त्वा) त्यागकर (नित्य-तृप्तः निर्-आ-श्रयः) सदा-तृप्त [और] आश्रय-रहित [रहता है]। (कर्मणि) कर्म में (अभि-प्र-वृत्तः अपि] अभि-प्र-वृत्त [रहता हुआ] भी (सः) वह (किम् चित् एव न करोति) कुछ भी नहीं करता है।

निराश्रय नाम उस ज्ञानमय अनासक्त अवस्था का है जहां ज्ञानी इस संसार से और संसार के लोगों से किसी भी प्रकार का आश्रय वा किसी प्रकार की आशा नहीं रखता है। ज्ञानी जब कर्म के फल की आसक्ति का त्याग करके

सब समारम्भ करने लगता है तब सब ओर कर्म में प्रवृत्त होता हुआ भी वह ऐसा निर्द्वन्द्व और निवृत्त रहता है, मानो, सब कुछ करता हुआ वह कुछ नहीं कर रहा है। ऐसा ज्ञानी न किसी के आश्रय की अपेक्षा रखता है, न चिन्तित वा उद्विग्न होता है। वह किसी भी अवस्था वा परिस्थिति में सदा तृप्त और सन्तुष्ट रहता है।

१८३ 'निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।२१

'(निः-आशीः) आशा-रहित, (यत-चित्त-आत्मा) चित्त और आत्मा को जीतने-वाला, (त्यक्त-सर्व-परि-ग्रहः) सब परि-ग्रहों का त्यागनेवाला, (केवलम् शारीरम् कर्म कुर्वन्) केवल शारीरिक कर्म करता हुआ (किल्बिषम् न आप्नोति) पाप को प्राप्त नहीं होता है।

निराशीः=निः-आशीः। *निः* का अर्थ है निस्सरण, बाहर होना, निकलना। *आशीः* का अर्थ है आशीर्वाद। आशीर्वादों की आशा का जो बहिष्करण अथ वा त्याग कर देता है उसे *निराशीः* कहते हैं। जो किसी के आशीर्वाद की आशा वा अपेक्षा नहीं रखता है उस आत्मविश्वासी, स्वावलम्बी, आत्मनिर्भर, धीर पुरुष की *निराशीः* संज्ञा होती है।

यत का अर्थ है यन्त्रण, नियन्त्रण, वशीकार करनेवाला। जो अपने चित्त [अन्तःकरण] और आत्मा को अपने वश में कर लेता है उसे *यतचित्तात्मा* कहते हैं। जो अपने चित्त [अन्तःकरण] और अपने आत्मा को वश में कर लेता है उसका अपने बाह्य करणों [इन्द्रियों] पर स्वयमेव वशीकार हो जाता है। यतचित्तात्मा के लिए ही *यति* शब्द का प्रयोग होता है।

ग्रह का अर्थ है गांठ, बन्धन। *परिग्रह* का अर्थ है सब ओर का बन्धन। *सर्व*=सब प्रकार का। त्याग दिया है जिसने सब ओर से सब प्रकार का बन्धन वह *त्यक्तसर्वपरिग्रहः* है। *त्यक्त-सर्वपरिग्रहः* का अर्थ है निर्बन्ध।

जो पुरुष धीर, यति और निर्बन्ध होता है वह केवल शारीरिक कर्म करता है और पाप को प्राप्त नहीं होता है। ऐसा पुरुष सशरीर रहता हुआ भी आत्मना शरीर के व्यासंगों से सर्वथा निर्लेप रहता है। वह स्वदेह से देहमय होकर कार्य नहीं करता है अपि तु विदेह होकर देह से कार्य कराता है। वह स्वशरीर में शरीरमय न रहता हुआ, आत्मना शरीर से नितान्त निर्लेप रहकर कर्म करता है। इसी लिए वह पाप-पुण्य के लेप से सर्वथा निर्लेप रहता है।

१८४ 'यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।२२

'(यहच्छा-लाभ-सम्-तुष्टः) अनायास [जो कुछ] प्राप्त [हो उस] से सन्तुष्ट रहनेवाला, (द्वन्द्व-अति-इतः) द्वन्द्व-अतीत, (वि-मत्सरः) ईर्ष्या-रहित, (सिद्धौ च अ-सिद्धौ समः) सिद्धि और अ-सिद्धि में समभावी [पुरुष] (कृत्वा अपि) करके भी (न नि-बध्यते) बद्ध नहीं होता है।

धीर, यति, निर्बन्ध, आप्त पुरुष द्वन्द्वातीत होता है। वह हानि-लाभ, मान-अपमान, सिद्धि-असिद्धि, सफलता-विफलता, आदि द्वन्द्वों से सदा मुक्त और अप्रभावित रहता है। कर्तव्य कर्म का तत्परता और पूर्ण निष्ठा के साथ निर्वहन करते हुए भी यदृच्छया, अनायास ही हानि-लाभ, जो कुछ प्राप्त हो जाए, वह उसी से सर्वथा सन्तुष्ट रहता है। जो हर अवस्था में अपनी स्थिति से सर्वथा सन्तुष्ट रहता है उसे किसी के प्रति ईर्ष्या तो होने ही क्यों लगी ? ऐसा निर्द्वन्द्व पुरुष प्रत्येक पार्श्व में कर्तव्य कर्म करता हुआ कर्म के बन्धन में नहीं बंधता है।

१८५ 'गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।२३

'(गत-सङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञान-अव-स्थित-चेतसः) गत-संग, मुक्त, ज्ञान-अव-स्थित-चित्त (यज्ञाय-आ-चरतः) यज्ञार्थ आ-चरते हुए का (सम्-अग्रम् कर्म) समग्र कर्म (प्र-वि-लीयते) प्र-वि-लीन हो जाता है।

बन्धन का हेतु कर्म नहीं है, कर्म की तथा कर्मफलप्राप्ति की आसक्ति है। आसक्ति ही वह रस्सी है जो कर्ता को कर्म के फलभोग से बांधती है। जिसकी न कर्म में आसक्ति है और न कर्म के फल भोगने में जिसकी संगति है उसे बांधनेवाली कोई रज्जु ही नहीं रही। इसी भाव को व्यक्त करते हुए कृष्ण कह रहे हैं कि जो गतसंग, मुक्त, ज्ञानावस्थितचित्त और यज्ञार्थाचारी है उसके सब कर्म पूर्णतया विलीन होजाते हैं, उसके कर्मों के फल उसके प्रति फल-भोगार्थ उदय नहीं होते हैं।

सङ्ग नाम आसक्ति का है। जिसने आसक्ति का सर्वथा परित्याग कर दिया है उसे कोई कर्म बांध ही कैसे सकता है। जो गतसंग [आसक्तिरहित] हो जाता है, निस्सन्देह, वह उभयतः मुक्त होजाता है। वह जीते-जी जीवन्मुक्त रहता है और देहावसान के पश्चात् सर्वथा मुक्त होजाता है। जीवन्मुक्त अवस्था में उसका चित्त अथ वा उसकी आत्मप्रचेतना तत्त्वज्ञान में अवस्थित रहती है। जीवन्मुक्त अवस्था में वह यथावत् कर्म तो करता है, किन्तु वह केवल यज्ञार्थ कर्म करता है।

यज्ञार्थ कर्म क्या है, यह समझने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि यज्ञ क्या वस्तु है। यज्ञ एक बड़ा गहन और बड़ा व्यापक शब्द है। यह सृष्टि एक

बृहत् यज्ञ है, स्वयं ब्रह्म है जिसका यज्ञकर्ता। ब्रह्म इस सृष्टिरूप यज्ञ का संचालन गतसंग, ज्ञानावस्थितचित्त और यज्ञार्थाचारी होकर कर रहा है। अत एव वह सदा शुद्ध, बुद्ध और मुक्त रहता है। ब्रह्म इस यज्ञ का संचालन प्रजाओं के लिए कररहा है, स्वार्थ नहीं, और वह यह यज्ञसंचालन सायास नहीं अनायास ही कररहा है। इस शरीररूप यज्ञ का कर्ता यह प्राण भी तो गतसंग होकर केवल यज्ञार्थ, शरीरयज्ञ के संचालनार्थ कर्म कर रहा है। इसी से प्राण सदा, सतत, अनवरत अनायास कर्म करता हुआ नित्य निर्विषय, निर्विकार और मुक्त रहता है।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाजसंचालनार्थ कर्म करना ही मानव का यज्ञार्थ आचरण है अथ वा यज्ञार्थ कर्म है। समाज में प्रत्येक मानव का पञ्चधा कर्तव्य कर्म है। आत्मार्थ कर्म, परिवारार्थ कर्म, समाजार्थ कर्म, राष्ट्रार्थ कर्म, विश्वार्थ कर्म। आत्म-अवस्थिति की साधना आत्मयज्ञ है। परिवार के प्रति कर्तव्य का निर्वहन परिवारयज्ञ है। समाज के प्रति कर्तव्य का संवहन समाज-यज्ञ है। राष्ट्र की सुव्यवस्था के हेतु कर्तव्य का पालन करना राष्ट्रयज्ञ है। विश्वहिताय कर्तव्य कर्म करना विश्वयज्ञ है। *पञ्चस्वन्तः पुरुष आ विवेश,* पांच के भीतर पुरुष प्रविष्ट है— वेद की इस सूक्ति में यही भाव संनिहित है। पांचों क्षेत्रों में ब्रह्मवत् अथ वा प्राणवत् आसक्तिरहित होकर अनायास सतत कर्म करते रहने का नाम ही यज्ञार्थ आचरना है। जो इस प्रकार कर्म का आचरण करता है उसी के लिए *यज्ञायाचरतः* शब्द प्रयुक्त हुए हैं। केवल यज्ञार्थ कर्म करते हुए मानव के सब कर्म प्रविलीन होते रहते हैं।

किसी भी प्रकार के बीज को जब भाड़ में भूंजकर, अग्नि में दग्ध करके भूमि में बोते हैं तो वह बीज भूमि में प्रविलीन होजाता है और उपजता नहीं है। वैसे ही, आसक्तिरहित होकर यज्ञार्थ किए गए कर्म किए जाने के बाद प्रविलीन हो जाते हैं और कर्ता के प्रति कर्मफलभोग उपजाने में सर्वथा असमर्थ होते हैं। गतसंग, यज्ञाचारी मानव की स्थिति नित्यमुक्त और आत्म-अवस्थिति की स्थिति होती है।

१८६ 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।२४

'(ब्रह्म-अर्पणम् ब्रह्म) परमात्मा को अर्पण किया गया कर्म (ब्रह्मणा) ज्ञानी द्वारा (ब्रह्म अग्नौ) परमात्मरूप अग्नि में (हुतम्) होमी गई (हविः) सामग्री है। (तेन) उस [ज्ञानी] के द्वारा (ब्रह्म-कर्म-सम्-आ-धिना) ज्ञान और कर्म की सन्धि से (ब्रह्म एव गन्तव्यम्) ब्रह्म [परमात्मा] ही प्राप्तव्य [है]।

ब्रह्म शब्द अनेकार्थवाची है। ब्रह्म शब्द के बहुत प्रसिद्ध अर्थ हैं परमात्मा,

आत्मा, ज्ञान, कर्म, ज्ञानी, ब्रह्माण्ड, यज्ञ और वेद। यहां ब्रह्म शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

ज्ञानी द्वारा किए हुए कर्म ब्रह्मार्पित होकर किए जाते हैं। अतः उसके समस्त कर्म परमात्मरूप अग्नि में होमी गई हवि के समान होते हैं। प्रभु को अर्पित होकर जो कर्म किए जाते हैं वे प्रभुप्रेरित होते हैं। ऐसे कर्म परमात्माग्नि में प्रविष्ट होकर वैसे ही विलीन होजाते हैं जिस प्रकार यज्ञाग्नि में होमी गई हवि सूक्ष्म होकर आकाश में विलीन होजाती है। जिस प्रकार अग्नि में भुनकर वीज न उपजते हैं, न फल लाते हैं वैसे ही परमात्माग्नि में विलीन होकर ज्ञानी द्वारा किए गए कर्म फल भुगतवानेवाले नहीं होते हैं। ज्ञानी के सब कर्म परमात्मा की प्राप्ति के लिए होते हैं, फलभोग के लिए नहीं। ज्ञानी की कर्मसाधना कर्मसमाधि ही होती है।

१८७ 'दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।२५

'(अपरे योगिनः) कोई योगी (दैवम् यज्ञम् एव) दैव यज्ञ को ही (परि-उप-आसते) सर्वतः उपासते हैं। (अ-परे) कोई [योगी] (ब्रह्म-अग्नौ एव) ब्रह्मरूप अग्नि में ही (यज्ञेन यज्ञम् उप-जुह्वति) [जीवन] यज्ञ से [ब्रह्म] यज्ञ का सम्पादन करते हैं।

एक योगी वे हैं जो देवों से सम्बन्धित यज्ञ की ही उपासना करते हैं। दैव यज्ञ के सम्पादक वे वैज्ञानिक हैं जो प्राकृतिक देवों के विज्ञानों का उद्घाटन करते हैं और उनकी शक्तियों का प्रयोग करके विविध वैज्ञानिक आविष्कार करते हैं।

दूसरे योगी वे हैं जो अपने जीवनरूप यज्ञ से ब्रह्मयज्ञ करते हैं। वे अपने यज्ञीय जीवनों से जो भी कर्म करते हैं उन सब कर्मों को वे आत्मना ब्रह्माग्नि में समर्पण कर देते हैं।

दैव यज्ञ करने वाले वैज्ञानिक भी होते योगी ही हैं। वे भी मन और बुद्धि को एकाग्र करके प्रकृति में प्रवेश करते हैं। ब्रह्मयाजी योगी भी समाहित होकर ही ज्ञान और कर्म का अनुष्ठान करते हैं।

दैवयाजी विलास की सामग्री जुटाकर असंयम और पतन की ओर ले जाते हैं। ब्रह्मयाजी ज्ञान की ज्योति जगाकर संयम और आत्मोत्थान का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

१८८ 'श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।२६

'(अन्ये) अन्य [योगी, ब्रह्मयज्ञ करने वाले योगी] (श्रोत्र-आदीनि इन्द्रियाणि)

श्रोत्रादि इन्द्रियों को (सम्-यम-अग्निषु) सं-यमरूप अग्नियों में (जुह्वति) होमते हैं। (अन्ये) अन्य [योगी, दैव यज्ञ करनेवाले योगी] (शब्द-आदीन् विषयान्) शब्दादि विषयों को (इन्द्रिय-अग्निषु) इन्द्रियरूप अग्नियों में (जुह्वति) होमते हैं।

विषयेन्द्रियां पांच हैं और पांच ही हैं उनके विषय—

विषयेन्द्रिय	विषय
नेत्र	दर्शन
श्रोत्र	शब्द
घ्राण	गन्ध
रसना	स्वाद
स्पर्श	मैथुन

ब्रह्मयज्ञ के करनेवाले योगी पांचों इन्द्रियों का संयम करके विषयों से उनका निरोध करते हैं। दैव यज्ञ के करनेवाले असंयमी होते हैं और वे इन्द्रियों को विषयों में आसक्त करते हैं। संयम और असंयम, दोनों ही अग्नि हैं। पांचों इन्द्रियों की पांच संयमाग्नियां हैं और पांच ही असंयमाग्नियां हैं। संयमाग्नियां कल्याणकारिणी हैं और असंयमाग्नियां अकल्याणकारिणी हैं। संयमाग्नियां मानवजीवन को कुन्दन बनाती हैं। असंयमाग्नियां मानवजीवन को ध्वस्त कर देती हैं।

१८९ 'सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ।२७

'(च) और (अपरे) अन्य [योगी, ब्रह्मयज्ञ करनेवाले योगी] (सर्वाणि इन्द्रिय-कर्माणि) सब इन्द्रिय-कर्मों को [तथा] (प्राण-कर्माणि) प्राण-कर्मों को (ज्ञान-दीपिते आत्म-सम्-यम-योग-अग्नौ) ज्ञान से दीप्त आत्म-सं-यमरूपयोग-अग्नि में (जुह्वति) होमते हैं।

ब्रह्मयज्ञ के करनेवाले योगी अपनी सभी इन्द्रियों की चेष्टाओं को तथा श्वास, प्रश्वास, उदान, आदि प्राण की समस्त गतियों को ज्ञान से दीप्त संयमरूप अग्नि में होमते हैं। दैव यज्ञ के करनेवाले अपनी इन्द्रियों की चेष्टाओं और प्राण की गतियों को असंयमाग्नि में जलाते हैं।

१९० 'द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ।२८

'(अपरे) दूसरे (द्रव्य-यज्ञाः) द्रव्य-याजी [हैं, कोई] (तपः-यज्ञाः) तपो-याग करनेवाले [हैं] (तथा) और [कोई] (योग-यज्ञाः) योग-याजक [हैं]। (च) किन्तु (सम्-शित-व्रताः यतयः) तीक्ष्ण-व्रती यति (स्वाध्याय-ज्ञान-यज्ञाः) स्वाध्याय और ज्ञान यज्ञ करनेवाले [होते हैं]।

यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म । श्रेष्ठतम कर्म का नाम *यज्ञ* है। श्रेष्ठतम कर्म अथ वा यज्ञीय साधनाएं अनेक हैं। यज्ञ नानारूप हैं। भिन्न भिन्न याजक भिन्न भिन्न प्रकार के यज्ञ करते हैं।

द्रव्ययाजी द्रव्ययज्ञ करते हैं। वे वेदमन्त्रों से अग्नि में नाना प्रकार के द्रव्यों की आहुतियां देते हैं, ब्रह्मा और ऋत्विजों को दक्षिणा देते हैं और यज्ञ में सम्मिलित होनेवालों को यज्ञप्रसाद बांटते हैं।

तपोयाजी तपोयज्ञ करते हैं। व्रतों के पालन के लिए तप किया जाता है। उत्तमोत्तम व्रतों को धारण करके उनके निर्वहनार्थ मन के वशीकार के साथ जो कठोर श्रमसाधना की जाती है उसका नाम तपोयाग है।

योगयाजी योगयज्ञ करते हैं। वे यम नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, योग के इन आठों अङ्गों का अनुष्ठान करते हैं।

यतयः शब्द का प्रयोग यहां आत्मसंयम करनेवालों के लिए हुआ है। *यति* का अर्थ है यमन, नियमन, नियन्त्रण, संयम करनेवाला। स्वयं इस श्लोक में ही *यति* की परिभाषा करदी गयी है। *यतयः संशितव्रताः।* *संशित* का अर्थ है तीक्ष्ण, तीव्र। तीक्ष्ण और तीव्र व्रतियों का नाम यति है। यति तीक्ष्णव्रती और तीव्रव्रती होते हैं। जो तीक्ष्णता और तीव्रता के साथ आत्मव्रतों की साधना में लगते हैं वे यति हैं।

यति यमयाग करते हैं। यमयाग का अनुष्ठान सर्वोपरि अनुष्ठान है। यमयाग के द्वारा यम बनकर यमयाजी विश्व का नियन्त्रण तथा विश्व का कल्याण करता है। यमयाग के दो प्रमुख अङ्ग हैं स्वाध्याय और ज्ञान।

स्वाध्याय का अर्थ है स्व+अधि+अय=पूर्ण आत्म-चिन्तन। *ज्ञान* से तात्पर्य विवेक से है।

संशितव्रती यति निरन्तर आत्मचिन्तन करते हुए अपने जीवनों में परिपूर्णता का सम्पादन करते हैं और विवेक के द्वारा समस्त आसक्तियों, लेपों, कामनाओं तथा स्पृहाओं का निर्मूलन करके निर्ममता तथा समाहिति के साथ स्व, पर का परम कल्याण करते हैं।

१६१ 'अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।२६

'(अपरे) कोई (प्राण-आ-याम-पर-अयनाः) प्राणायाम-परायण [जन] (प्राण-अपान-गती रुद्ध्वा) प्राण और अपान की गतियों को रोककर (अपाने प्राणम् तथा प्राणे अपानम्) अपान में प्राण को और प्राण में अपान को (जुह्वति) होमते हैं।

नासिका द्वारा जो प्राणवायु जीवनशक्ति लिए हुए अन्दर जाता है उसे प्राण कहते हैं। शरीर के मल को लिए हुए जो अपानवायु नासिका द्वारा बाहर निकलता है उसे अपान कहते हैं। प्राण और अपान की गतियों का नियमन करके जो आयाम किया जाता है उसे प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम में अपान में प्राण की आहुति दी जाती है और प्राण में अपान की। सम्पूर्ण अपान को बाहर निकालकर आकाशव्यापी प्राणवायु में विलीन कर देना ही अपान की प्राण में आहुति है। शुद्ध प्राणवायु को अन्दर भरकर सम्पूर्ण शरीर में व्याप देना प्राण की अपान में आहुति है।

१९२ 'अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति।
सर्वे ऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः।३०

'(अपरे) कोई (नियत-आ-हाराः) नियताहारी (प्राणान् प्राणेषु जुह्वति) प्राणों को प्राणों में होमते हैं।

(एते सर्वे अपि यज्ञ-विदः) ये सब ही यज्ञ-विद् (यज्ञ-क्षपित-कल्मषाः) यज्ञ-क्षपित-कल्मष हैं।

नियताहार से तात्पर्य मिताहार से नहीं है। मिताहारी मित—सीमित मात्रा में आहार करते हैं। नियताहारी नियत वस्तुओं का सेवन करते हैं। नियताहारी उन गिनी-चुनी वस्तुओं का ही सेवन करते हैं जो प्राणों के बल को बढ़ाती हैं। शरीर के भीतर जो ग्यारह प्राण [प्राण, अपान, व्यान और आठ चक्रों के आठ प्राण] हैं उन सबके बल को सुस्थिर और सुदृढ़ रखना ही प्राणों को प्राणों में होमना है। इसी का नाम प्राणयज्ञ है। प्राणयज्ञ करनेवाला निष्प्राणों में प्राण का और निर्जीवों में जीवन का संचार करता है।

प्राणयज्ञ तथा अन्य सब यज्ञ कल्मष [कालिमा, पाप, मल] का नाश करनेवाले हैं। जो किसी भी प्रकार के यज्ञ के द्वारा स्व, पर के कल्मष का नाश करते हैं वे सब *यज्ञ-क्षपित-कल्मषाः* [यज्ञ के द्वारा कल्मष का नाश करनेवाले] हैं।

१९३ 'यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोको ऽस्त्ययज्ञस्य कुतो ऽन्यः कुरुसत्तम।३१

'(कुरु-सत्-तम) कुरु-कुलभूषण [अर्जुन] ! (यज्ञ-शिष्ट-अ-मृत-भुजः) यज्ञशेषामृतभोजी (सनातनम् ब्रह्म यान्ति) सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। (अ-यज्ञस्य) अ-याजी का (अयम् लोकः न अस्ति) यह लोक नहीं है, (अन्यः कुतः) परलोक कहां से !

यज्ञ का शिष्ट क्या है ? यज्ञीयता। यज्ञ से यज्ञीयता की प्राप्ति होती है। यज्ञशील का जीवन यज्ञीय होता है। जीवन के यज्ञीय होजाने पर अनायास ही

सनातन ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

पृथिवी 'यह लोक' है। ब्रह्म 'वह लोक' है। यज्ञशील इह लोक और वह लोक, पृथिवी लोक और ब्रह्म लोक, दोनों लोकों में सफलकाम होता है। पृथिवी पर यज्ञ करके वह ब्रह्म लोक में शाश्वत स्थिति प्राप्त करता है।

जो यज्ञविहीन है, यज्ञविमुख है वह आसुरी वृत्ति से युक्त रहता है। पृथिवी लोक में वह तामस कर्म करता है और देह त्यागने पर वह अन्धकार से आच्छन्न तामस लोकों [अवस्थाओं] को प्राप्त होता है। अयाजी का यह लोक, यह जन्म भी भ्रष्ट होजाता है और अन्य लोक [दूसरा जन्म] भी बिगड़ जाता है।

१९४ 'एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।३२

'(एवम्) इस प्रकार (बहु-विधाः यज्ञाः) बहु-विध यज्ञ (ब्रह्मणः मुखे वि-तताः) ब्रह्म के मुख में फैले हुए [हैं]। (तान् सर्वान्) उन सब [यज्ञों] को तू (कर्म-जान् विद्धि) कर्म से उत्पन्न जान। (एवं ज्ञात्वा वि-मोक्ष्यसे) इस प्रकार जानकर तू मुक्त होजाएगा।

यज्ञ दो प्रकार के होते हैं, कर्मयज्ञ और ज्ञानयज्ञ। उपर्युक्त सम्पूर्ण यज्ञ कर्मयज्ञ हैं। जिस प्रकार कर्म से ज्ञान की प्राप्ति होती है उसी प्रकार कर्मयज्ञ से ज्ञानयज्ञ की उपलब्धि होती है। कर्म से तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है और तत्त्वज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है। इसी से यहां कहा गया है कि इन कर्मज यज्ञों को जानकर तू सर्वथा मुक्त होजाएगा।

'सब प्रकार के कर्मज यज्ञ ब्रह्म के मुख में फैले हुए हैं,' इस कथन का तात्पर्य यह है कि कर्मज यज्ञ ज्ञान प्राप्त करानेवाले हैं और ज्ञान से ब्रह्म की प्राप्ति होती है। अतः समस्त कर्मज यज्ञ ब्रह्म के मुख में हैं, अर्थात्, ब्रह्ममुख हैं, ब्रह्मसाक्षात्कार करानेवाले हैं।

१९५ 'श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।३३

'(परम्-तप) महा-प्रतापवान् [अर्जुन]! (द्रव्य-मयात् यज्ञात् ज्ञान-यज्ञः श्रेयान्) द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञानमय यज्ञ श्रेष्ठतर [है]। (पार्थ) अर्जुन! (सर्वम् अ-खिलम् कर्म ज्ञाने परि-सम्-आप्यते) सब सम्पूर्ण कर्म ज्ञान में परि-समाप्त होता है।

प्रत्यक्षतः द्रव्यमय यज्ञों से ज्ञानयज्ञ बहुत अधिक श्रेष्ठ है। द्रव्ययज्ञ सब कर्मपरक अथवा कर्मजन्य हैं और उनकी परिसमाप्ति ज्ञान में होती है। उनका परिणाम ज्ञान की उपलब्धि है। ज्ञान की प्राप्ति पर ज्ञानी ज्ञानयज्ञ ही करता है; द्रव्ययज्ञ समाप्त होजाते हैं।

१९६ 'तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।३४
१९७ 'यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ।३५

'(प्र-नि-पातेन परि-प्रश्नेन सेवया) प्र-णाम, परि-प्रश्न [और] सेवा के द्वारा (तत् विद्धि) वह जान। (तत्त्व-दर्शिनः ज्ञानिनः ते ज्ञानम् उप-देक्ष्यन्ति) तत्त्वदर्शी ज्ञानी तेरे प्रति ज्ञान उप-देशेंगे, (यत् ज्ञात्वा) जिसे जानकर, (पाण्डव) अर्जुन ! तू (पुनः एवम् मोहम् न यास्यसि) फिर इस प्रकार मोह को नहीं प्राप्त होगा [और] (येन) जिससे तू (भूतानि) [सब] भूतों को (अ-शेषेण) अ-शेषतया—सम्पूर्णतया (आत्मनि अथो मयि) परमात्मा में अथ वा मुझमें (द्रक्ष्यसि) देखेगा।

कर्म और ज्ञान, कर्मजन्य यज्ञ और ज्ञानमय यज्ञ, अथ वा कर्मयज्ञ और ज्ञान के तत्त्व का साक्षात्कार प्रणाम, परिप्रश्न और सेवा के द्वारा होता है। इस मर्म को जानने की इच्छा रखनेवाले जिज्ञासु को चाहिए कि वह तत्त्वदर्शी, ज्ञानी जनों के चरणों में पुनः पुनः उपस्थित होकर उनकी श्रद्धापूर्वक सेवा करे और सप्रणाम उनसे जिज्ञासापूर्वक प्रश्न, प्रप्रश्न करे। वे जो समाधान करें उसे वह आत्मैकाग्रता के साथ सुने और समझे। इस प्रकार तत्त्वज्ञान होने पर ज्ञानी पुनः कभी मोह को प्राप्त नहीं होता है और सब भूतों अथ वा भूतमात्र को परमात्मा में देखता है। तात्स्थ्य स्थिति में *आत्मनि अथो मयि* से तात्पर्य 'मत्स्थ परमात्मा में' है।

१९८ 'अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यति ।३६

'तू (चेत्) यदि (सर्वेभ्यः पापेभ्यः अपि पाप-कृत्तमः) सब पापियों से भी अधिक पापी (असि) है (एव) तो (ज्ञान प्लवेन) ज्ञान-नौका द्वारा (सर्वम् वृजिनम्) सब पाप को (सम्-तरिष्यति) तर जायेगा।

सूर्य की अनुपस्थिति में ही अन्धकार छाता है। सूर्य उदय हुआ कि अन्धकार पलायन कर जाता है। एवमेव, ज्ञानतरणि के अभाव में ही मनुष्य पापसागर में डूबता है। ज्ञानतरणि में स्थित होते ही मनुष्य सब प्रकार के पापों से तर जाता है। जहां सूर्य है वहां अन्धकार का क्या काम ! जहां ज्ञान है वहां पाप कैसा ! इसी भाव से कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं,

१९९ 'यथैधांसि समिद्धो ऽग्निर्भस्मसात् कुरुते ऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ।३७

'(अर्जुन) अर्जुन ! (सम्-इद्धः अग्निः यथा एधांसि भस्म-सात् कुरुते) प्र-ज्वलित

अग्नि जिस प्रकार इंधनों को भस्म-सात् कर देता है, (ज्ञान-अग्निः तथा सर्व-कर्माणि भस्म-सात् कुरुते) ज्ञानाग्नि वैसे ही सब कर्मों को भस्म-सात् कर देता है।

ज्ञान शब्द का प्रयोग *गीता* में यहां और सर्वत्र तत्त्वज्ञान अथ वा विवेक अर्थ में हुआ है। जिस प्रकार भाड़ में भुने हुए दाने उपजते नहीं हैं वैसे ही ज्ञानी द्वारा किए हुए कर्म फल नहीं लाते हैं। ज्ञानी जो भी कर्म करता है उन्हें ज्ञानाग्नि में भूनकर दग्ध कर देता है। ज्ञानाग्नि में दग्ध हुए कर्म कभी उपजते नहीं हैं। फिर फल लगने की तो बात ही क्या? अज्ञानी के कर्म फलासक्ति से युक्त होने के कारण फल उपजाते हैं। ज्ञानी द्वारा किए गए कर्म फलासक्ति से रहित होने के कारण फल से सर्वथा मुक्त होते हैं। यही सब कर्मों का भस्म [दग्ध] होना है।

२०० 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।३८

'(ज्ञानेन सदृशम् पवित्रम्) ज्ञान के समान पवित्र (इह) यहां (न हि विद्यते) नहीं ही विद्यमान है। (तत्) उस [ज्ञान] को (योग-सम्-सिद्धः) योग-सं-सिद्ध [योगी] (कालेन) काल से, दीर्घकालीन साधना के द्वारा (आत्मनि) आत्मा में (स्वयम्) अपने आप, अनायास (विन्दति) प्राप्त कर लेता है।

ज्ञान के समान पवित्र इस संसार में, सचमुच, अन्य कुछ भी नहीं है। ज्ञान इतना पवित्र है कि ज्ञानी द्वारा किए कर्मों में फलासक्ति अथ वा फलभोग का मल लेशमात्र नहीं लग पाता है। ज्ञान की प्राप्ति दीर्घकालीन साधना से होती है। ज्ञान की प्राप्ति में काल की वैसी ही और उतनी ही अपेक्षा है जितनी और जैसी किसी भी प्रकार की सम्प्राप्ति में होती है।

२०१ 'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।३९

'(श्रद्धावान् तत्-परः सम्-यत-इन्द्रियः) श्रद्धावान्, तत्-पर और जितेन्द्रिय [योगी] (ज्ञानम् लभते) ज्ञान लाभ करता है। योगी (ज्ञानम् लब्ध्वा) ज्ञान लाभ करके (अ-चिरेण) अ-विलम्ब—सद्यः (पराम् शान्तिम्) पर शान्ति (अधि-गच्छति) प्राप्त करता है।

ज्ञान है शान्ति का अधिष्ठान और अज्ञान अशान्ति का। ज्ञानी को अशान्ति कहां और अज्ञानी को शान्ति कैसी? ज्ञान का उदय होते ही चिर शान्ति की स्थापना हो जाती है। और; यह तो प्रत्यक्ष ही है कि श्रद्धावान्, तत्पर और संयमी योगी ही योगसंसिद्ध होकर ज्ञानप्रसाद पाता है।

२०२ 'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोको ऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।४०

'(अ-ज्ञः) अ-ज्ञानी (च) और (अ-श्रत्-दधानः) अ-श्रद्धालु (च) और (सम्-शय-आत्मा) सं-शय-शील (वि-नश्यति) नष्ट होजाता है। (सम्-शय-आत्मनः) सं-शय-शील का (न अयम् लोकः अस्ति) न यह लोक है, (न परः) न पर [लोक], (न सुखम्) न सुख।

ज्ञान, श्रद्धा और निश्चय, ये तीन साधन हैं सुख, शान्ति और आनन्द की साधना के और ये तीन ही साधन हैं लोक और पर लोक की संसिद्धि के। जहां इन तीन का अभाव होता है वहां, प्रत्यक्षतः, सर्वनाश के अतिरिक्त और क्या हो सकता है! स्पष्ट ही है कि अज्ञान, अश्रद्धा और संशय से सुख, शान्ति, आनन्द, लोक, पर लोक, सब कुछ बिगड़ जाता है। जो अज्ञानी है, श्रद्धाविहीन है और संशयशील है उसका न यह लोक बनता है न पर लोक। उसे न सुख मिलता है न शान्ति। वह न अपना कल्याण कर सकता है न अन्यों का।

२०३ **'योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।**
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।४१

'(धनम्-जय) युद्ध-जयी [अर्जुन]! (योग-सम्-न्यस्त-कर्माणम्) योग-सं-न्यस्त-कर्मा (ज्ञान-सम्-छिन्न-सम्-शयम्) ज्ञान-सं-छिन्न-संशय (आत्मवन्तम्) आत्मवान् को (कर्माणि न नि-बध्नन्ति) कर्म नहीं बांधते हैं।

न्यास का अर्थ है त्याग। *सम्-न्यास* का अर्थ है सम्यक्, पूर्ण त्याग। जो पूर्णतया त्याग देता है कर्मासक्ति को, उसका नाम है संन्यासी। कर्मासक्ति के पूर्ण त्याग का ही नाम है *कर्म-संन्यास-योग*। कर्मसंन्यासयोग की सिद्धि उस आत्मवान् को ही होती है जो ज्ञान के द्वारा संशय को छिन्न-भिन्न कर देता है। जो ज्ञानी है, संशयरहित है और अनासक्त है उसके सब कर्म, निश्चय ही, बन्धनरहित होते हैं। कर्म करता हुआ भी वह कर्मफल से मुक्त रहता है। केवल कर्तव्य के लिए किए गए कर्म कर्ता को किसी भी प्रकार नहीं बांधते हैं।

२०४ **'तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।**
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत।'४२

'(तस्मात्) अतः, (भारत) भरत-कुलोत्पन्न [अर्जुन]! (उत्-तिष्ठ) उठ, (अ-ज्ञान-सम्-भूतम्) अ-ज्ञान से समुत्पन्न, (हृत्-स्थम्) हृदय में स्थित, (आत्मनः एनम् सम्-शयम्) अपने इस सं-शय को (ज्ञान-असिना) ज्ञानरूप तलवार से (छित्त्वा) छेदकर (योगम् आ-तिष्ठ) योग पर आरूढ़ हो।'

अज्ञान संशयमूलक है। ज्ञान निश्चयमूलक है। जिसकी बुद्धि में अज्ञान रहता है उसी के हृदय में संशय निवास करता है। ज्ञान-असि से जो इस अज्ञान से उत्पन्न संशय का छेदन कर देता है वही योग पर आरूढ़ होता है, वही योगस्थ रहकर कर्म करता है और बन्धनमुक्त रहता है।

पांचवां अध्याय

अर्जुन उवाच

२०५ **'संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।**
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ।'१

अर्जुन बोला, '(कृष्ण) कृष्ण ! तू (कर्मणाम् सम्-न्यासम्) कर्मों के सं-न्यास [त्याग] को, (च पुनः) और फिर (योगम्) योग को (शंससि) प्रशंसता है । (एतयोः) इन दोनों में से (यत् एकम् सु-निः-चितम्) जो एक सु-निश्चित (श्रेयः) कल्याणकर [है] (तत् मे ब्रूहि) वह मेरे प्रति कह ।'

विषाद के कारण अर्जुन कुछ का कुछ समझ रहा है । विषाद की स्थिति ऐसी ही होती है । कृष्ण ने अर्जुन से कहा तो यह था कि मनुष्य को प्रत्येक कर्म आसक्तिरहित होकर करना चाहिए । विषाद के कारण उसने समझ यह लिया कि कर्मों का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए । कृष्ण ने कहा तो यह था कि मनुष्य को योगस्थ होकर कर्म करने चाहिएं । अर्जुन ने समझ यह लिया कि कर्मों का त्याग करके मनुष्य को योगारूढ़ रहना चाहिए । अपनी इसी अन्य-मनस्कता की स्थिति में अर्जुन पूछता है, 'कृष्ण ! निश्चित रूप से बता कि कर्मों के त्याग और योग, इन दोनों में से कौन-सा श्रेयस्कर है ।'

श्रीभगवानुवाच

२०६ **'संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयस्करावुभौ ।**
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ।२

कृष्ण उत्तर देते हैं, '(सम्-न्यासः च कर्म-योगः) सं-न्यास और कर्म-योग, (उभौ निः-श्रेयः-करौ) दोनों कल्याण-कारी [हैं] । (तु) तथापि (तयोः) उन दोनों में (कर्म-सम्-न्यासात् कर्म-योगः वि-शिष्यते) कर्म-सं-न्यास से कर्म-योग बढ़कर है ।

संन्यास और *कर्मसंन्यास*, इन दोनों शब्दों का प्रयोग यहां 'कर्मों की आसक्ति का त्याग' अर्थ में हुआ है । *कर्मयोग* शब्द का प्रयोग हुआ है यहां 'योगस्थ होकर कर्म करना' अर्थ में ।

कर्मासक्तित्याग तथा योगस्थकर्म, दोनों ही शुभ और श्रेष्ठ हैं । किन्तु कर्मासक्तित्याग की अपेक्षा योगस्थ होकर कर्म करना श्रेष्ठतर और सहजतर है । इसका एक विशेष हेतु है । जब मनुष्य योगस्थ होकर कर्म करता है तब उसका प्रत्येक कर्म प्रभुप्रेरित होता है । योगस्थ होकर कर्म करने का अर्थ है प्रभु को समर्पित और प्रभु में समाहित होकर कर्म करना । कर्मयोगी अथ वा

योगस्थकर्मा जो भी कर्म करता है, प्रभु का आदेश और प्रभु की सेवा जानकर और अत एव सर्वथा अहंकाररहित होकर करता है। इस कारण उसके प्रत्येक कर्म में स्वभावतः ही संन्यास, कर्मसंन्यास अथ वा कर्मासक्तित्याग होता है। जो मनुष्य योगस्थ हुए विना कर्म की आसक्ति से रहित होकर कर्म करने का प्रयास करता है उसमें अहंकारयुक्त कर्तृपन का संस्कार किसी न किसी अंश में बना ही रहता है। अत एव वह नितान्त कर्मसंन्यासी नहीं बन पाता है।

२०७ **'ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।**
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते ।३

'(महा-बाहो) वीर [अर्जुन] ! (सः नित्य-सम्-न्यासी ज्ञेयः) वह नित्य-सं-न्यासी ज्ञेय [है, उसे सहज-संन्यासी जानना चाहिए] (यः न द्वेष्टि न कांक्षति) जो न द्वेष करता है न आकांक्षा करता है। (निः-द्वन्द्वः) द्वन्द्व-रहित [वह], (हि) निश्चय से, (सुखम् बन्धात् प्र-मुच्यते) सुखपूर्वक बन्धन से मुक्त होता है।

कांक्षा, आकांक्षा, अभिलाषा, इच्छा, ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। इच्छा [कांक्षा] स्वार्थ [स्व-अर्थ] हो वा परार्थ [पर-अर्थ], होती बांधनेवाली ही है। इच्छा ही वह वस्तु है जो द्वेष को जन्म देती है। इच्छा द्वेष की जननी है। इच्छा माता है और द्वेष उसका पुत्र है। इच्छा की पूर्ति में जब जहां कोई बाधक होता है तब तहां द्वेष का सूत्रपात होता है। जहां इच्छा नहीं वहां द्वेष नहीं।

कांक्षारहित होकर कर्म करनेवाला कभी किसी से द्वेष नहीं करता है। यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है। 'क्या इच्छारहित होकर कोई कर्म कर भी सकता है?' यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इसका समाधान पूर्व-श्लोक में प्रयुक्त *कर्मयोग* शब्द से होगा। जैसा कि बताया जा चुका है, कर्मयोग उस स्थिति का नाम है जिसमें योगस्थ होकर कर्म किया जाता है। योगस्थ का प्रत्येक कर्म प्रभुप्रेरित होता है। योगस्थ की न अपनी कोई इच्छा होती है, न अपना कोई कर्म होता है। प्रभु का आदेश, प्रभु की इच्छा वा प्रभु की प्रेरणा ही योगस्थ की इच्छा बन जाती है। प्रभु की प्रेरणा से प्रेरित होकर वह अनायास ही जो कर्म करता है उसमें उसका अपना अहंकार वा कर्तृपन का भाव नहीं होता है। कार्य की सिद्धि और योगक्षेम का भार स्वयं प्रभु पर होता है। जय-पराजय, सफलता-विफलता, आशा-निराशा, हानि-लाभ, यश-अपयश के द्वन्द्व से वह सर्वथा निर्द्वन्द्व रहता है। प्रभु की ही इच्छा और प्रभु का ही कार्य। फिर वह क्यों किसी से द्वेष करे और क्यों किसी से आशा करे? द्वेष और इच्छा से सर्वथा मुक्त रहता हुआ कर्मयोगी सहज-संन्यास से युक्त रहता है और, परिणामस्वरूप, सब द्वन्द्वों से मुक्त रहता हुआ वह सुखपूर्वक सहजतया ही बन्धन से मुक्त होजाता है।

२०८ 'सांख्ययोगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ।४

'(बालाः) बालबुद्धि [लोग] (सांख्य-योगौ) सांख्य और योग को (पृथक् प्र-वदन्ति) पृथक् [पृथक्] बताते हैं, (पण्डिताः न) विद्वान् नहीं। (एकम् अपि सम्यक् आ-स्थितः) एक पर भी सम्यक् स्थित होनेवाला (उभयोः फलम् विन्दते) दोनों के फल को प्राप्त करता है।

सांख्य अर्थात् कर्मासक्तित्याग, तथा *योग* अर्थात् योगस्थ होकर कर्म करना, इन दोनों में कोई अधिक भेद नहीं है। कर्मासक्तित्याग के द्वारा योग, और योग के द्वारा कर्मासक्तित्याग की सिद्धि हो सकती है। इसी लिए दोनों में से किसी एक पर स्थित होकर दूसरी स्थिति सहजतया प्राप्त हो जाती है।

२०९ 'यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।५

'(सांख्यैः यत् स्थानम् प्र-आप्यते) कर्मासक्तित्यागियों द्वारा जो स्थान प्राप्त किया जाता है, (योगैः अपि तत् गम्यते) योगियों द्वारा भी वह प्राप्त किया जाता है। (यः सांख्यम् च योगम् च एकम् पश्यति) जो कर्मासक्तित्याग और योग को समान देखता है (सः पश्यति) वही देखता है।

२१० 'संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ।६

('महा-बाहो) वीर [अर्जुन] ! (अ-योगतः तु) बिना योग तो (सम्-न्यासः आप्तुम् दुःखम्) सं-न्यास प्राप्त करना कठिन [है]। (योग-युक्तः मुनिः) योग-युक्त मुनि (न-चिरेण) [अति] शीघ्र (ब्रह्म अधि गच्छति) ब्रह्म को प्राप्त होता है।

२११ 'योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ।७

'(योग-युक्तः) योग-युक्त [होकर कर्म करनेवाला], (वि-शुद्ध-आत्मा) आत्मना नितान्त शुद्ध, (वि-जित-आत्मा) आत्म-वि-जयी, (जित-इन्द्रियः) इन्द्रियों का जेता—संयमी (सर्व-भूत-आत्म-भूत-आत्मा) सब प्राणियों के आत्मा के साथ एकात्मता को प्राप्त [होजाता है]। वह (कुर्वन् अपि न लिप्यते) करता हुआ भी लिप्त नहीं होता है।

योगयुक्त योगी अनवरत ब्रह्म में समाहित रहने के कारण नितान्त शुद्ध, आत्मस्थ, जितेन्द्रिय तो होता ही है, प्राणिमात्र के साथ भी उसकी एकात्मता हो जाती है। इसी का नाम *ब्राह्मी स्थिति* है। ब्राह्मी स्थिति में संस्थित होकर कर्म करने के कारण उसमें कर्म का लेप नहीं होता है। ब्राह्मी स्थिति में अहंकार निर्मूल होजाता है। अहंकार के निर्मूलन के कारण योगयुक्त का

प्रत्येक कर्म ब्रह्मप्रेरित और उसकी प्रत्येक चेष्टा ब्रह्मकृत होती है। ऐसी अवस्था में योगयुक्त योगी के जीवन में स्वयं ब्रह्म ही कर्म कर रहा होता है। अत एव उसमें कर्म का लेप हो ही नहीं सकता है। ब्रह्म स्वरूप से निर्लेप है। अतः उसमें कर्म के लेप का प्रश्न ही नहीं उठता। नर में *नारायण* का यही आशय है।

२१२ **'नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।**
पश्यञ्श्रृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपञ्श्वसन्।८

२१३ **'प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन् निमिषन्नपि।**
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।९

'(तत्त्व-वित् युक्तः) तत्त्व-ज्ञानी, योगयुक्त [होकर कर्म करनेवाला योगी] (पश्यन्) देखता हुआ, (श्रृण्वन्) सुनता हुआ, (स्पृशन्) छूता हुआ, (जिघ्रन्) सूंघता हुआ, (अश्नन्) खाता हुआ, (गच्छन्) चलता हुआ, (स्वपन्) सोता हुआ, (श्वसन्) सांस लेता हुआ, (प्र-लपन्) बोलता हुआ, (वि-सृजन्) वि-सर्जन करता हुआ, (गृह्णन्) ग्रहण करता हुआ, (उत्-मिषन्) पलक ऊपर उठाता हुआ, (नि-मिषन्) पलक बन्द करता हुआ (अपि) भी, '(इन्द्रियाणि इन्द्रिय-अर्थेषु वर्तन्ते) इन्द्रियां इन्द्रियों के अर्थों में वर्त रही हैं,' (इति धारयन्) ऐसी धारणा रखता हुआ, (इति मन्येत) ऐसा माने कि मैं (किम् चित् एव न करोमि) कुछ भी नहीं करता हूं।

योगयुक्त समाहित योगी इन्द्रियातीत होजाता है। इन्द्रियातीत के लिए ही *त्रिगुणातीत* शब्द का प्रयोग होता है। सूक्ष्म [बुद्धि, मेधा, मन, चित्त] तथा स्थूल [ज्ञानेन्द्रियां व कर्मेन्द्रियां], समस्त इन्द्रियां त्रिगुणात्मक प्रकृति से बनती हैं। जब तक जीवन का संचालन अन्तःकरण [बुद्धि, मेधा मन और चित्त] के द्वारा होता है तब तक मनुष्य की समस्त इन्द्रियों का व्यवहार त्रिगुणात्मक रहता है। आत्मविवेक के उदय होने पर जब मनुष्य भौतिक भोगों से सर्वथा वियुक्त और ब्रह्म से नितान्त नियुक्त होजाता है तब वह इन्द्रियातीत अथ वा त्रिगुणातीत हुआ हुआ सारथिवत् इन्द्रियों का संचालन करता है। सारथि अश्वों को चलाता है, यद्यपि रथ पर आरूढ़ हुआ वह स्वयं भी अश्वों के साथ यात्रा कर रहा होता है। चलने की थकान और भार का कष्ट अश्वों को ही होरहा होता है, सारथि को नहीं। इसी प्रकार, योगयुक्त, निर्लेप आत्मा इन्द्रियनिग्रह के साथ इन्द्रियों से इन्द्रियों का दिव्य भाग वहन करा रहा होता है। वह स्वयं कुछ नहीं कर रहा होता है।

२१४ **'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।**
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।१०

'(यः कर्माणि करोति) जो कर्मों को करता है, (ब्रह्मणि आ-धाय) ब्रह्म में आ-धान करके, ब्रह्म को समर्पित होकर [तथा] (सङ्गम् त्यक्त्वा) आसक्ति को त्यागकर, (सः पापेन न लिप्यते) वह पाप से लिप्त नहीं होता है, (अम्भसा पद्म-पत्रम्-इव) जैसे जल से पद्म-पत्र।

योगयुक्त योगी के समस्त कर्म ब्रह्मार्पित होकर किए जाते हैं। वह जो कुछ करता है, ब्रह्म की प्रेरणा से करता है, आत्म-अहंकार से नहीं। अत एव उसके सब काम आसक्तिरहित तथा ब्रह्मार्पित होते हैं। परिणामस्वरूप, वह कर्मों को करते हुए पाप से उसी प्रकार निर्लेप रहता है जिस प्रकार कमलपुष्प जल से ऊपर उठा रहता है। वह इतना निष्पाप होजाता है कि पाप उसका स्पर्श नहीं कर सकता।

कमल का सम्पूर्ण शरीर जल में डूबा रहता है, फिर भी कमल का पुष्प जल में सर्वथा ऊपर उठा हुआ जल से सर्वथा निर्लेप रहता है। एवमेव, ब्राह्मी स्थिति में स्थित रहकर योगयुक्त योगी शरीर से कर्तव्य कर्म करता हुआ भी आत्मना कर्मफल से सर्वथा निर्लेप रहता है क्योंकि कर्मों में उसकी न देहासक्ति होती है, न आत्मासक्ति।

२१५ 'कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये।११

'(योगिनः) योगी (कायेन, मनसा, बुद्ध्या) शरीर, मन [और] बुद्धि से (अपि) अपि च (केवलैः इन्द्रियैः) केवल इन्द्रियों से (कर्म कुर्वन्ति) कर्म करते हैं, (सङ्गम् त्यक्त्वा) आसक्ति त्यागकर, (आत्म-शुद्धये) आत्मशुद्धि के लिए।

योगयुक्त योगी कर्म करते ही क्यों हैं? *आत्म-शुद्धये*, आत्मशुद्धि के लिए। शुद्ध रहने के लिए कर्म करना अनिवार्य है। जो वस्तु काम में नहीं आती वह खराब होजाती है। जो चाक़ू काम में नहीं लाया जाता उसे जंग लग जाता है। कर्मानुष्ठान के बिना योगी अपवित्र होजाता है। योगी कर्म करता है किन्तु संग त्यागकर करता है, सर्वथा अनासक्त रहता हुआ करता है। आत्मा से वह ब्रह्म में समाहित रहता है और केवल शरीर, मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों से वह कर्म करता है। इसी लिए कर्म करता हुआ वह आत्मना शुद्ध रहता है। यदि योगी कर्म न करे तो उसका जीवन निष्क्रिय, निकम्मा और प्रमादयुक्त होजाता है और, परिणामस्वरूप, उसकी अपार आत्महानि होती है।

२१६ 'युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते। १२

'(युक्तः) [योग]युक्त [कर्मयोगी] (कर्म-फलम् त्यक्त्वा) कर्म-फल को त्यागकर (नैष्ठिकीम् शान्तिम्) नैष्ठिकी शान्ति को (आप्नोति) प्राप्त करता है।

(अ-युक्तः) अ-योगी (काम-कारेण) काम-कार—आसक्ति से (सक्तः) आसक्त होकर (फले नि-बध्यते) [कर्म]फल में बंधता है ।

ब्रह्म में समाहित होने पर जो निर्बाध शान्ति प्राप्त होती है उसका नाम नैष्ठिकी शान्ति है। आत्मना ब्रह्म से युक्त रहते हुए जो कर्म करता है वह युक्त कहाता है। तद्विपरीत अयुक्त कहाता है। युक्त पुरुष क्यों कि फल और परिणाम से निरपेक्ष होकर कर्म करता है अत एव वह निर्बाध शान्ति को प्राप्त रहता है।

**२१७ 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन् न कारयन् ।१३**

'(वशी) [आत्म]वशी (सर्व-कर्माणि) सब कर्मों को (मनसा सम्-न्यस्य) मन से त्यागकर (सुखम् आस्ते) सुखपूर्वक स्थित—समाहित रहता है। (देही) आत्मा (नव-द्वारे पुरे) नौ द्वारों वाले पुर में (न एव कुर्वन् न कारयन्) न ही करता हुआ न कराता हुआ [न करता न कराता] है।

आत्मवशी योगी शरीर से नहीं मन से सब कर्मों का त्याग कर देता है। शरीर से कर्म करते हुए भी उसके मन में कर्म और कर्मफल, दोनों ही की आसक्ति नहीं रहती। न तो उसके मन में किसी कर्म के करने की आसक्ति होती है, न ही कृत कर्म के परिणाम की उसे चिन्ता रहती है। वह अनायास-कर्मा होजाता है। उसके जीवन में और उसके जीवन से जो कुछ होरहा होता है, ब्रह्म की प्रेरणा से होरहा होता है। देहरूप नवद्वार पुर में स्थित ऐसा आत्मा सब कुछ करता-कराता हुआ न कुछ कर रहा होता है न कुछ करा रहा होता है।

**२१८ 'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ।१४**

'(प्र-भुः) प्र-भु (लोकस्य) लोक के (न कर्तृत्वम् सृजति) न कर्तृत्व को सृजता है, (न कर्माणि) न कर्मों को, (न कर्म-फल-सम्-योगम्) न कर्म के फलों के भोग को। [कर्तृत्व और कर्मों का चक्र] (तु) तो (स्व-भावः) स्व-भाव [बनकर] (प्र-वर्तते) प्र वृत्त हो रहा होता है।

कर्तृत्व का अर्थ है करने की क्षमता। *स्वभाव* का अर्थ है स्व-भाव, स्व-प्रकृति।

जैसी जिसकी स्व-प्रकृति होती है वैसी ही उसकी कार्यक्षमता होती है। जैसी जिसकी कार्यक्षमता होती है वैसे ही वह कर्म करता है। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, प्रत्येक में स्वभाव [स्व स्व प्रकृति] के अनुरूप कर्तृत्व है और कर्तृत्व के अनुरूप ही प्रत्येक के सब कर्म होते हैं। जल का स्वभाव

सींचना है। जल सेचनशील है। उसमें सींचने की क्षमता है। जल के समस्त कर्म उसी के अनुसार होरहे हैं। इसी प्रकार अन्य चारों तत्त्व कर्मों का निर्वहन कररहे हैं। चेतन-जगत् में भी प्रत्येक आत्मा का अपना अपना स्वभाव है और तदनुसार ही प्रत्येक आत्मा का कर्तृत्व है। अपने अपने कर्तृत्व के अनुसार ही उसके सब कर्म होते हैं।

प्रकृति और आत्मा, दोनों ही अनादि हैं। स्व स्व स्वभाव-संस्कार से प्रेरित हुए वे स्वतन्त्रतापूर्वक निज निज कर्तृत्व के आश्रय से कार्य कररहे हैं। परमात्मा ने संसार में न कर्तृत्व को उत्पन्न किया है, न कर्मों को, न ही कर्मों के फलों के संयोग [भोग] को। प्रभु की व्याप्तिमात्र से स्वभावतः ही प्राणी कर्मों के फल को भोगते हैं।

२१९ 'नादत्ते कस्य चित् पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।१५

(वि-भुः) सर्व-व्यापी [प्रभु] (न कस्य चित् पापम् च न एव सु-कृतम्) न किसी के पाप को और न ही सु-कर्म को (आ-दत्ते) लेता है। (अ-ज्ञानेन ज्ञानम् आ-वृतम्) अज्ञान से ज्ञान ढंपा हुआ [है]। (तेन जन्तवः मुह्यन्ति) उससे प्राणी मोहित होते हैं।

सब कर्म दो कोटियों में विभक्त हैं, कुकर्म और सुकर्म। कुकर्म का ही नाम है पाप और सुकर्म का ही नाम है पुण्य। विभु न किसी के पाप को लेता है, न किसी के पुण्य को, यह एक बड़े रहस्य की बात है। कुछ लोगों की ऐसी मान्यता है कि कर्म करो और कृत कर्म को प्रभु को समर्पित करदो। इस बात का यहां प्रतिवाद है। प्रभु किसी के कुकर्म अथ वा सुकर्म को कदापि स्वीकार नहीं करता है। वह किसी के समर्पित पाप-पुण्य को जब स्वीकार ही नहीं करता, तब समर्पण का लाभ क्या ? प्रभु किसी के भी कर्म को स्वीकार भी क्यों करे। उसे किसी के कर्मों का करना भी क्या है ? आत्मना प्रभु की प्रेरणा से कर्म करना, यह तो समझ में आनेवाली बात है। किन्तु कृत कर्म प्रभु को समर्पित करना, यह समझ में आनेवाली बात नहीं। यदि ऐसा होने लगे तब तो बड़ी भारी अव्यवस्था फैल जाएगी। तब प्रभु न्यायकारी न रहेगा और कर्म करनेवाला पाप-पुण्य के फल से साफ़ छूट जाएगा।

एक दूसरी दृष्टि से भी यह विषय विचारने योग्य है। यदि प्रभु समर्पक के बुरे-भले कर्मों को स्वीकार करने लगे तो कर्तृत्व का कोई महत्त्व ही न रहेगा। कोई चाहे जैसा कर्म करके प्रभु को समर्पित करदेगा और उसके बुरे-भले फल से बच जाएगा। परिणाम यह होगा कि लोग निर्भय होकर पाप की ओर प्रवृत्त होंगे।

यहां आदत्ते शब्द मे एक और ही तात्पर्य है। विभु को न किसी के कुकृत से कुछ लेना है, न सुकृत से। परमात्मा न किसी से पाप कराता है, न पुण्य। बुरा वा भला कर्म करके जो यह कह देते हैं, 'परमात्मा की इच्छा', यह सही नहीं है। कर्मसंयोग से होनेवाली भवितव्यता, निस्सन्देह, बलवान् होती है, किन्तु यह कहना कि पाप-पुण्य, सब कुछ स्वयं परमात्मा कराता है, सर्वथा ग़लत है।

पाप और पुण्य का कारण, वास्तव में, अज्ञान और ज्ञान है। मनुष्य का ज्ञान जब अज्ञान से आवृत होजाता है तब वह पाप कर्म करता है। जब उसका ज्ञान अज्ञान से अनावृत होता है तब वह पुण्य कर्म करता है। ज्ञान एक प्रकाश है। अज्ञान एक अन्धकार है। प्रकाश में प्रत्येक कार्य ठीक ठीक होता है। अंधेरे में कोई कार्य ठीक नहीं होता है। ज्ञान से सुकर्म, अज्ञान से कुकर्म, यह अकाट्य सत्य है।

ज्ञान से तात्पर्य यहां सामान्य जानकारी से नहीं है अपि तु अन्तर्ज्ञान अथ वा विवेक से है। विवेकोदय होने पर न कुकर्म रहता है न सुकर्म क्यों कि कु और सु, दोनों ही प्रकार के कर्म बन्धन के हेतु हैं। कुकर्म का फल दुःख है तो सुकर्म का फल सुख है। दुःख और सुख, दोनों ही बांधनेवाले हैं। विवेकी न कुकर्म करता है, न सुकर्म। वह तो प्राणवत् विवेकजन्य, सहज कर्म करता है।

शरीर में प्राण सबसे अधिक कर्म करता है। प्राण अनवरत कर्म करता है, निरन्तर कर्म करता है। सोते समय सारी इन्द्रियां कर्म से उपराम हो जाती हैं; प्राण तब भी कार्य कर रहा होता है। तो भी प्राण कुकर्म और सुकर्म से सर्वथा निर्लेप रहता है। समस्त इन्द्रियों का अपना अपना विषय है, पर अविरामी प्राण का कोई विषय नहीं। विषय ही कु वा सु का प्रेरक है। विषय ही है जो बुराई भी कराता है और भलाई भी। जहां कोई विषय नहीं, वहां कु और सु का, पाप और पुण्य का काम क्या?

ज्ञानी जन प्राणवत् निर्विषय होने के कारण पाप-पुण्य से ऊपर उठे हुए कर्म करते हैं। अज्ञानी जन अज्ञान के कारण विषयासक्त होकर कर्म करते हैं, अत एव मोहित होजाते हैं और पाप-पुण्य करके फलभोग के भागी बनते हैं।

२२० 'ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत् परम्।१६

'(येषाम् तु) जिनका तो (आत्मनः तत् अ-ज्ञानम्) आत्मा का वह अ-ज्ञान (ज्ञानेन) ज्ञान द्वारा (नाशितम्) नष्ट होगया (तेषाम् ज्ञानम्) उनका ज्ञान (आदित्य-वत्) सूर्य-वत् (तत् परम्) उस पर [पर ब्रह्म] को (प्र-काशयति) प्र-काशता है।

पूर्व-श्लोक में कहा गया है कि अज्ञान से ज्ञान के ढके रहने से प्राणी मोहित होते हैं। यहां कहा जारहा है कि ज्ञानोदय द्वारा जिनके आत्मा का अज्ञान तिरोहित होजाता है उनका ज्ञान सूर्य के समान प्रकाशता है और उस प्रकाश में वह परम तत्त्व और पर ब्रह्म का साक्षात्कार करता है।

ज्ञान से तात्पर्य यहां आत्मज्ञान से है। आत्मा स्व स्वरूप से सूर्य के समान प्रकाशमय है। जिस प्रकार बादल के व्यवधान से सूर्य का प्रकाश रुक जाता है वैसे ही अज्ञान के आवरण से आत्मा का स्व स्वरूप का ज्ञान मोहावृत होजाता है। अज्ञान के तिरोहित होने पर आत्मा सूर्यवत् प्रकाशने लगता है और उस आत्मप्रकाश में परम तत्त्व और पर ब्रह्म, दोनों का निर्भ्रान्ति दर्शन होता है।

२२१ 'तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः।१७

(तत्-बुद्धयः) तत्-बुद्धि, (तत्-आत्मानः) तत्-आत्मा, (तत्-निष्ठाः) तत्-निष्ठ, (तत्-पर-अयनाः) तत्-परायण (ज्ञान-निः-धूत-कल्मषाः) ज्ञान द्वारा पाप से रहित (अ-पुनः-आ-वृत्तिम् गच्छन्ति) मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

तत् शब्द का अर्थ है 'वह'। तत् से तात्पर्य यहां उस पर ब्रह्म से है जिसका उल्लेख पूर्व-श्लोक में किया गया है।

तत्-बुद्धयः, वे जिनकी बुद्धि उस पर ब्रह्म के बोध से सदा प्रबुद्ध रहती है, जो सदा उस ब्रह्म का ही चिन्तन करते हैं।

तत्-आत्मनः, वे जिनका आत्मा उस पर ब्रह्म में सतत समाहित रहता है।

तत्-निष्ठाः, वे जिनकी आस्था निरन्तर उस पर ब्रह्म में संस्थित रहती है।

तत्-परायणाः, वे जो सन्तत उस पर ब्रह्म के प्रति पूर्णतया लीन रहते हैं।

कल्मष का अर्थ है मल, पाप। *निः-धूत* का अर्थ है हिला कर बाहर निकाला हुआ। ज्ञान की प्रेरणा द्वारा जो मल और पाप को पृथक् कर देते हैं वे निर्मल, निष्पाप जन ज्ञाननिर्धूत-कल्मष हैं।

जो जैसे का चिन्तन करता है वह वैसा ही होजाता है। ब्रह्म नितान्त निर्मल, निष्पाप और मुक्त है। अतः स्वभावतः ही तद्बुद्धि, तदात्मा, तन्निष्ठ और तत्परायण ज्ञानी जन तद्रूप, अर्थात्, निर्मल, निष्पाप और मुक्त होजाते हैं। मल और पाप बन्धन के हेतु हैं। ब्रह्मचिन्तन, ब्रह्मसमाहिति, ब्रह्मनिष्ठा तथा ब्रह्मलीनता से मल और पाप का सर्वथा क्षय होजाता है और ब्रह्ममयता

की सिद्धि होती है। ब्रह्ममयता का परिणाम होता है आत्मना ब्रह्म में प्रविष्ट होकर जन्म-मरण के चक्र से छूट जाना।

२२२ 'विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।१८

'(पण्डिताः) ज्ञानी [जन] (विद्या-वि-नय-सम्-पन्ने ब्राह्मणे) विद्या और वि-नय से सम्पन्न विद्वान् में, (गवि हस्तिनि शुनि च) गौ, हाथी और कुत्ते में (च) और (श्व-पाके) श्व-पाकी—चाण्डाल में (एव) निश्चय ही (सम-दर्शिनः) सम-दर्शी [होते हैं]।

श्लोक में समदर्शी शब्द का प्रयोग हुआ है, समवर्ती का नहीं। समदर्शी का अर्थ है समान दृष्टि से देखनेवाले। ज्ञानी की दृष्टि तत्त्व का दर्शन करनेवाली होती है। वह जानता है कि सभी प्राणियों का शरीर पंच तत्त्वों से बना है और वे प्रकृति के त्रिगुणों से प्रेरित हैं। सभी त्रिगुणात्मक चोलों में ब्रह्म समान रूप से व्याप रहा है। जीवात्मा स्व स्व कर्म और संस्कार के अनुसार विविध योनियों में उस पर ब्रह्म की ओर यात्रा कर रहे हैं। सबमें समान आत्माओं का अधिष्ठान और एक पर ब्रह्म की व्याप्ति का भान करता हुआ तत्त्वज्ञानी सबको समदृष्टि से देखता है। किन्तु वह वर्तता सबके साथ यथा-योग्य रीति से है।

२२३ 'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ।१९

'(येषाम् मनः साम्ये स्थितम्) जिनका मन समता में स्थित [होगया] (तैः इह एव सर्गः जितः) उनके द्वारा यहां ही [संसार] सर्ग जीत लिया गया। (हि ब्रह्म निः-दोषम् समम्) क्यों कि ब्रह्म निर्दोष [और] सम [है], (तस्मात् ते ब्रह्मणि स्थिताः) उस [कारण] से वे ब्रह्म में स्थित [रहते हैं]।

जो जिसमें स्थित होता है वह तद्रूप होजाता है। जो जिसमें समाता है वह वैसा ही होजाता है। कोयला अग्नि में स्थित होता है तो अग्निरूप होजाता है और जल में समाता है तो शीतल होजाता है। ब्रह्म क्यों कि सम और निर्दोष है, समाहित मन से ब्रह्म में स्थित रहनेवाले ब्रह्म के समान सम और निर्दोष होजाते हैं। जिनके मन समता में स्थित होजाते हैं वे यहां, इस संसार में और इसी जीवन में इस त्रिगुणात्मक विकारमय संसारचक्र को विजय कर लेते हैं, इससे मुक्त होजाते हैं।

ब्रह्म सम है। प्रकृति विषम है। ब्रह्म निर्दोष, निर्विकार है। प्रकृति त्रिगुणात्मक, सदोष और सविकार है। प्रकृति में लीन रहने के कारण अज्ञानी विकार, विषमता को प्राप्त रहते हैं और माया के चक्र में भ्रमते रहते

हैं, मायाजन्य भोग-विलास और गमनागमन में निरत रहते हैं। ज्ञानी जन समाहित मन से निर्दोष और सम ब्रह्म में स्थित रहते हैं और परिणामस्वरूप तद्रूप होकर मायाचक्र से मुक्त होजाते हैं।

२२४ 'न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः।२०

'(स्थिर-बुद्धिः ब्रह्म-वित्) स्थिर-मति ब्रह्म-वेत्ता (अ-सम्-मूढः) मोह-रहित होकर (ब्रह्मणि स्थितः) ब्रह्म में स्थित हुआ (न प्रियम् प्र-आप्य प्र-हृष्येत्) न प्रिय को प्राप्त करके हर्षित होवे, (च न अ-प्रियम् प्र-आप्य उत्-विजेत्) और न अ-प्रिय को प्राप्त करके बेचैन होवे।

सम ब्रह्म में स्थित होकर ज्ञानी समता को प्राप्त होजाता है। उसके लिए प्रिय और अप्रिय, सब समान हैं। प्रिय और अप्रिय बाह्य प्रभावों और परिणामों से सम्बन्ध रखते हैं। ब्रह्म में स्थित होकर उसे अन्तःस्थिति प्राप्त होजाती है। उस कारण वह बाह्य मोहकताओं से अप्रभावित रहता है।

२२५ 'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत् सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते।२१

'(बाह्य-स्पर्शेषु अ-सक्त-आत्मा) बाह्य-स्पर्शों में अनासक्त आत्मज्ञानी (विन्दति) प्राप्त करता है [उस] (सुखम्) सुख को (यत् आत्मनि) जो आत्मा में [है]। (सः ब्रह्म-योग-युक्त-आत्मा) वह ब्रह्म-योग से युक्त रहनेवाला आत्मज्ञानी (अ-क्षयम् सुखम् अश्नुते) अ-क्षय सुख को सेवन करता है।

सुख का प्रयोग यहां आत्मसुख अथ वा आत्मानन्द के लिए हुआ है।

स्पर्श दो प्रकार के होते हैं। प्रथम इन्द्रियस्पर्श, अर्थात्, इन्द्रिय द्वारा स्पर्श। दूसरा ध्यानस्पर्श अथ वा चिन्तनस्पर्श।

नेत्रेन्द्रिय द्वारा रूप का स्पर्श होता है। श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा शब्द का स्पर्श होता है। रसनेन्द्रिय द्वारा रस [स्वाद] का स्पर्श होता है। घ्राणेन्द्रिय द्वारा गन्ध का स्पर्श होता है। त्वगिन्द्रिय द्वारा शरीर अथ वा वस्तु का स्पर्श होता है।

चिन्तन द्वारा उपर्युक्त पांचों ही विषयों का स्पर्श होता है। मनुष्य जिसके रूप पर मुग्ध होता है उसके अनुपस्थित होने पर वह उसके चिन्तन द्वारा ही उसके रूप का स्पर्श करता है, उसकी बातों का स्मरण करता है, उसके रस का आस्वादन करता है, उसकी गन्ध का अनुसेवन करता है और उसके आकार का आलिंगन करता है। स्वप्नावस्था में भी वह केवल चिन्तन के द्वारा पांचों विषयों का स्पर्श-सेवन करता है।

चिन्तन और एकमात्र चिन्तन ही इन बाह्य विषयों का उत्तेजक है। जब

मनुष्य के चिन्तन का विषय आत्मा और ब्रह्म बन जाते हैं तब बाह्य विषयों का चिन्तन समाप्त हो जाता है। जब मनुष्य बाह्य विषयों के चिन्तन का परित्याग करके आत्मचिन्तन और ब्रह्मचिन्तन करने लग जाता है तब वह आत्मना ब्रह्म से आसक्त रहने लगता है। उस अवस्था में वह जो आत्मसुख लाभ करता है वह अक्षय होता है।

आसक्ति दो प्रकार की है, बाह्य विषयों की आसक्ति और अन्तः-आसक्ति अथ वा ब्रह्मासक्ति। बाह्य आसक्ति से जो इन्द्रियसुख मिलता है वह सीमित और समाप्त होनेवाला होता है। ब्रह्मासक्ति से जो आत्मानन्द प्राप्त होता है वह अनन्त और अक्षय होता है।

२२६ 'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।२२

'(हि) निस्सन्देह, (ये सम्-स्पर्श-जाः भोगाः) जो सं-स्पर्श-जन्य भोग [हैं] (ते दुःख-योनयः आदि-अन्तवन्तः एव) वे दुःखों के घर और आदि-अन्तवाले ही [हैं]। (कौन्तेय) कुन्तीपुत्र [अर्जुन]! (बुधः तेषु न रमते) विवेकी उनमें नहीं रमता है।

जैसा कि पूर्व-श्लोक की व्याख्या में बताया जा चुका है, नेत्रेन्द्रिय से रूप का, श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द का, रसनेन्द्रिय से रस का, घ्राणेन्द्रिय से गन्ध का और त्वगिन्द्रिय से त्वचा [शरीर] का स्पर्श किया जाता है। नेत्र, श्रोत्र, रसना, घ्राण तथा त्वक्, इन पांच इन्द्रियों को विषयेन्द्रियां अथ वा भोगेन्द्रियां कहते हैं। रूप, शब्द, रस, गन्ध और स्पर्श, ये इनके विषय अथ वा भोग हैं। इन विषयों अथ वा भोगों में जो पुरुष आसक्त होता है, इनके अभाव में वह चिन्तन अथ वा ध्यान द्वारा इनका स्पर्श [भोग] करता है। चिन्तन अथ वा ध्यान के परिणामस्वरूप ही वह कभी कभी स्वप्नावस्था में इन विषयों के अभाव में भी इनका सेवन करता है।

संस्पर्शजाः भोगाः से तात्पर्य इन पांच इन्द्रियों के संस्पर्श से भोगेजानेवाले भोगों से है। जितने भी संस्पर्शजन्य भोग हैं वे सब दुःखों के घर और आदि-अन्तवाले हैं। भोगों से रोग और रोगों से दुःख तो होते ही हैं, इनकी प्राप्ति भी दुःखसाध्य और पापसाध्य है। इनकी प्राप्ति पर जितना सुख अनुभव होता है, इनके छिन जाने पर उससे कहीं अधिक दुःख, क्लेश और विषाद होता है। अतः विवेकी पुरुष इनसे आकृष्ट, मोहित और सेवित नहीं होता है। वह इनसे सर्वथा मुक्त रहता है।

२२७ 'शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः।२३

'(इह एव) यहां ही, इस [जीवन] में ही, (यः) जो (शरीर-वि-मोक्षणात् प्राक्) शरीर-त्याग से पूर्व, जीते-जी (काम-क्रोध-उद्-भवम् वेगम्) काम, क्रोध [,आदि] से उत्पन्न होनेवाले वेग को (सोढुम् शक्नोति)सहन—शमन कर सकता है (सः युक्तः) वह योगी [है], (सः सुखी नरः) वह सुखी मानव [है]।

पंच विषयों के सेवन अथ वा पंच भोगों के भोग से पंच विकारों की उत्पत्ति होती है। विषयों के चिन्तन और सेवन से काम का वेग बढ़ता है। काम के सेवन के लिए साज-संवार, सजावट-शृंगार, भक्ष्याभक्ष्य और ऐश के सामान चाहिएं। उनकी पूर्ति के लिए धन की इच्छा होती है। धनेच्छा से लोभ का वेग बढ़ता है और साथ ही कान्ता अथ वा कान्त के प्रति मोह बढ़ता है। काम, लोभ और मोह से अहंकार का वेग बढ़ता है। अहंकार से क्रोध की उत्पत्ति होती है। मनुष्य ज्यों ज्यों विषयों का सेवन अथ वा भोगों का भोग करता है त्यों त्यों काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार का वेग बढ़ता चला जाता है। श्लोक में केवल काम और क्रोध का उल्लेख है। ऐसा उपलक्षण से किया गया है। *कामक्रोधोद्भव* वेग से तात्पर्य काम, क्रोध, आदि पंच विकारों से उत्पन्न होनेवाले वेगों से है।

पंच भोग और पंच विकार सदा साथ साथ चलते हैं। इतना ही नहीं, पांचों भोग भी सदा साथ साथ रहते हैं और पांचों विकार भी सदा साथ साथ चलते हैं। पंच भोग और पंच विकार ही वे दश ग्रीवा वा दश शृंग हैं जो मनुष्य को राक्षस बना देते हैं। राक्षसों के ये ही दस सींग हैं जो वेगरूप से टकराकर स्व-पर का नाश करते हैं। जो विवेकी संस्पर्शजन्य पंच विकारों का जीते-जी शमन कर लेता है वह, निस्सन्देह, सच्चा योगी है और वही सच्चे अर्थों में सुखी मानव है। शरीरत्याग करने पर वही परम गति को प्राप्त होता है।

२२८ **'यो ऽन्तःसुखो ऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।**
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतो ऽधिगच्छति।२४

(यः अन्तः-सुखः अन्तः-आ-रामः) जो अन्तः-सुख, अन्तः-आ-राम [और] (यः एव) जो भी (अन्तः-ज्योतिः) अन्तः ज्योति [है] (सः ब्रह्म-भूतः योगी) वह ब्रह्म-भूत योगी (ब्रह्म-निः-वानम् अधि-गच्छति) ब्रह्म-निर्वाण को प्राप्त करता है।

पूर्व-श्लोक में कहा गया है कि जो मनुष्य काम, क्रोध, आदि विकारों के वेग को शमन कर लेता है वही योगयुक्त होता है और वही सुखी होता है।

उसी प्रसङ्ग को जारी रखते हुए यहां कहा जा रहा है कि विकारों के वेग से मुक्त योगी ही अन्तःसुख को प्राप्त होता है और वैसा योगी ही अन्तःज्योति

को प्राप्त करता है। अन्तःज्योति को प्राप्त योगी ब्रह्मभूत होकर ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करता है।

अन्तःज्योति का प्रयोग यहां ब्रह्मज्योति के लिए हुआ है। जो ब्रह्मज्योति को प्राप्त कर लेता है वह आत्मना ब्रह्मलीन रहने लगता है और शरीर त्यागने पर आत्मना ब्रह्म में स्थित होकर ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त हो जाता है।

श्लोक २३ और २४ में दो बड़े रहस्य की बातें कही गई हैं। यहां उनका उद्घाटन करना आत्मस्थों के लिए उपयोगी होगा।

यह नहीं कहा गया है कि जो मनुष्य काम, क्रोध, आदि विकारों का दमन अथ वा निर्मूलन करलेता है वह योगी है अपि तु यह कहा गया है कि जो इनका शमन कर सकता है वही योगी है। वास्तव में, काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार, इन पांचों विकारों का न दमन होता है न निर्मूलन। इनका केवल शमन होता है। मनुष्य कितना भी संसिद्ध योगी क्यों न हो जाए, बीजरूप से इन पांचों विकारों का मूल अथ वा संस्कार उसमें वना ही रहता है। पंच तत्त्वों से वने शरीर में पंच विकारों का उन्मूलन हो ही नहीं सकता। न ही दमन करने से इन विकारों को दबाया जा सकता है। ज्वालामुखी के दवाने से जिस प्रकार ज्वालामुखी और अधिक वेग से फटता है उसी प्रकार विकारों को दवाने से विकार और अधिक वेग के साथ आक्रमण करते हैं।

आप क्रोध का कुछ दिन दमन कीजिए। दमन किया हुआ क्रोध किसी दिन ऐसे वेग के साथ फटेगा कि ज्वालामुखी के फटने को मात कर देगा। दमन किया हुआ काम अवसर पाकर ऐसे वेग से उभरता है कि सव किया-कराया बेकार हो जाता है। यही अवस्था लोभ, मोह और अहंकार की है। जो समझते हैं कि काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार का उन्मूलन अथ वा दमन किया जा सकता है वे या तो अज्ञ हैं अथ वा दम्भी हैं।

विकारों का न उन्मूलन हो सकता है न दमन। इनका तो शमन ही हो सकता है। विकारों के वेग जीवन के अन्तिम क्षण तक बने रहेंगे। योगी जन सतत, सन्तत, निरन्तर इनका शमन करते रहते हैं। विकारों के वेग का शमन आत्मनिरीक्षण, आत्मशोधन, आत्मवोधन, अन्तर्मुखता तथा विवेकप्रज्वलन, इन पंच साधनों से होता है। संसिद्ध योगी भी यदि इन पंच साधनों में शिथिलता करता है तो विकारों के वेग उसे भी धर दवाते हैं। विकारों के वेग में दुःख और अशान्ति का निवास होता है। जहां दुःख और अशान्ति है वहां ज्योति कैसी और निर्वाण कैसा! विकारों के शमन से सुख और शान्ति की उपलब्धि होती है। सुखपूर्वक शान्ति के साथ आत्मसाधना करने से अन्तः-ज्योति की प्राप्ति होती है। अन्तःज्योति से ब्रह्मनिर्वाण मिलता है।

मुक्ति अथ वा मोक्ष पर्यायवाची शब्द हैं किन्तु *निर्वाण* शब्द सर्वथा भिन्न अर्थ का द्योतक है। मुक्ति अथ वा मोक्ष का सम्बन्ध बन्धन से है। जो बद्ध है वही मुक्त हो सकता है। जो मुक्त है वह पुनः बद्ध भी हो सकता है। मुक्ति और बन्धन, दोनों से नितान्त मुक्त अवस्था का नाम *निर्वाण* है। मुक्ति और पुनरावृत्ति का चक्र भी गमनागमन का ही रूप है। गमनागमन से नितान्त मुक्ति तभी होती है जब मुक्ति और पुनरावृत्ति से भी पीछा छूट जाए। मुक्ति और पुनरावृत्ति से पीछा तभी छूटता है जब आत्मा ब्रह्मभूत [ब्रह्म से एकाकार] होकर शरीर का त्याग करता है। ब्रह्मभूत होकर शरीर का त्याग करने पर आत्मा ब्रह्म में शाश्वत स्थिति प्राप्त करता है; इसी का नाम ब्रह्मनिर्वाण है। ब्रह्मभूत योगी ही ब्रह्मनिर्वाण के अधिकारी होते हैं। यह *गीता* का अभिमत है।

मुक्ति, पुनरावृत्ति और निर्वाण, यह विषय सदा विवादास्पद रहा है और सदा रहेगा। जहां तक युक्ति और तर्क की पहुंच है और जहां तक बुद्धि तथा मन की दौड़ है, यह विषय उन सबसे बहुत परे का है। युक्ति और तर्क से तो यही सिद्ध होता है कि मुक्ति के बाद पुनरावृत्ति अनिवार्य है और उपर्युक्त निर्वाण असम्भव है। नदियों का जल सागर में विलीन होकर मुक्त हो जाता है। कालान्तर में वही जल बादल बनकर फिर दूर दूर बरसता है और नदीरूप होकर बहता है। प्रलय अवस्था में परमाणु सर्वथा मुक्त होजाते हैं। वे ही परमाणु कालान्तर में पुनः सृष्टिरूप में बद्ध होजाते हैं। हमारा तर्क बुद्धि, मन और प्रकृति पर आश्रित है। बुद्धि, मन और प्रकृति, तीनों ही भौतिक अथ वा पांचभौतिक हैं। परे की वास्तविक स्थिति का निश्चय और निर्णय तो उसी को होगा जो भौतिक जीवन से ऊपर और भौतिक जगत् से परे जाकर सत्य का साक्षात् दर्शन करेगा। आइए, तब तक वादविवाद से ऊपर उठकर हम आत्मसाधना करके उस लोक में पहुंचें जहां पहुंचकर हम निर्णय कर सकेंगे कि वहां से वापस आना है वा नहीं। *सूत न कपास कोरिया से लठालठी क्यों करना!*

२२९ 'लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः।२५

'(क्षीण-कल्मषाः छिन्न-द्वैधाः यत-आत्मानः सर्व-भूत-हिते रताः ऋषयः) क्षीण-कल्मष, द्विधा-छिन्न, यत-आत्मा, सर्व-भूत-हित-रत ऋषि (ब्रह्म-निर्वाणम् लभन्ते) ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त करते हैं।

ऋषि ही ब्रह्मनिर्वाण के अधिकारी होते हैं, यह इस श्लोक से स्पष्ट ध्वनित होरहा है। ऋषि ब्रह्मवेत्ता होते हैं और इसी कारण वे ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करते

हैं। ब्रह्मवेत्ता होने के अतिरिक्त, ऋषियों में श्लोक-वर्णित निम्न सिद्धियां होती हैं—

१) *ऋषयः क्षीणकल्मषाः।* ऋषि क्षीण-कल्मष होते हैं। कल्मष नाम पाप का है। जिनके कल्मष क्षीण होजाते हैं, जिनके पाप नष्ट हो जाते हैं जो नितान्त निष्पाप होते हैं वे ऋषि हैं।

२) *ऋषयः छिन्नद्वैधाः।* जिनकी द्विधा छिन्न-भिन्न होगई है, जो संशयरहित होगए हैं, जिन्होंने सत्य और तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है, जो नितान्त निर्भ्रान्ति और निर्भय होगए हैं वे ऋषि हैं।

३) *ऋषयः यतात्मानः।* जो यतात्मा हैं, जो आत्मयती हैं, जो आत्मजयी हैं, जिन्होंने अपने आपको जीत लिया है वे ऋषि हैं।

४) *ऋषयः सर्वभूतहिते रताः।* जो प्राणिमात्र के हित में रत हैं, जो सर्वमय होगए हैं वे ऋषि हैं।

२३० 'कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्।२६

'(काम-क्रोध-वि-युक्तानाम् यत-चेतसाम् विदित-आत्मनाम् यतीनाम्) काम-क्रोध-से-मुक्त, जित-चित्त, आत्म-वित् यतियों का (अभितः ब्रह्म-निः-वानम् वर्तते) सर्वतः ब्रह्म-निर्वाण वर्तता है।

काम, क्रोध, आदि पांचों विकारों से जो मुक्त होजाते हैं उनकी निर्विकार स्थिति होती है। निर्विकार होने पर मानव का अपने चित्त पर पूर्ण अधिकार होजाता है और उसकी चेतना निर्भ्रान्त और निर्बाध होजाती है। चेतना के निर्भ्रान्त और निर्बाध होने पर मनुष्य *विदित-आत्मा* होजाता है, वह आत्म-ज्ञानी अथ वा ब्रह्मज्ञानी बन जाता है।

निर्विकार, चेतनासम्पन्न और आत्मज्ञानी यतियों के लिए सर्वतः सर्वत्र ब्रह्मनिर्वाण ही ब्रह्मनिर्वाण है, इसमें सन्देह ही क्या है! वे जीते-जी जीवन्मुक्त विदेह रहते हैं और शरीर त्यागने पर ब्रह्म में शाश्वत स्थिति प्राप्त करते हैं।

२३१ 'स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ।२७

२३२ 'यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः।२८

'(यः मोक्ष-पर-अयनः मुनिः) जो मोक्ष-परायण मुनि (बाह्यान् स्पर्शान्, बहिः) बाह्य प्रभावों को बाहर (च एव) अपि च (चक्षुः भ्रुवोः अन्तरे) दृष्टि को भौंओं के बीच (कृत्वा) करके (नासा-अभ्यन्तर-चारिणौ प्राण-अपानौ समौ कृत्वा) नासिका के भीतर चलनेवाले श्वास-प्रश्वास को स्थिर करके (यत-

इन्द्रिय-मनः-बुद्धिः) इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि को जीतनेवाला [और] (वि-गत-इच्छा-भय-क्रोधः) इच्छा, भय और क्रोध से पृथक् रहनेवाला [है] (सः सदा एव मुक्तः) वह सदा ही ब्रह्मनिर्वाणप्राप्त [है]।

इन दो श्लोकों में ब्रह्मनिर्वाणप्राप्ति के अधिकारियों के लक्षण बताए गए हैं।

ब्रह्मनिर्वाणप्राप्ति के अधिकारी मोक्षपरायण पुरुष में निम्न गुण होते हैं,

१) वह मुनि [मितभाषी] होता है।

२) बाहर से आनेवाले विषयजन्य प्रभावों को वह बाहर ही रोक देता है। उन्हें अपने भीतर प्रविष्ट नहीं होने देता है।

३) उसकी दृष्टि दोनों भ्रुकुटियों के बीच में ऊर्ध्वमुख रहती है। वह उत्थानोन्मुख होता है।

४) उसका श्वास-प्रश्वास स्थिर रहता है।

५) उसकी इन्द्रियां संयत होती हैं, उसका मन समाहित होता है और उसकी बुद्धि प्रबुद्ध होती है।

६) वह निरिच्छ, निर्भय और अक्रोध होता है।

'निरिच्छ' से तात्पर्य बन्धनकारिणी-विषयेच्छाराहित्य से है। नितान्त निरिच्छ न कोई हुआ है, न होगा। मोक्षपरायण में भी मोक्ष की तथा ब्रह्मनिर्वाण की इच्छा तो होती ही है।

२३३ **'भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।**
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।२९

'[मोक्षपरायण मुनि] (माम् यज्ञ-तपसाम् भोक्तारम् सर्व-भूतानाम् सु-हृदम् सर्व-लोक-महा-ईश्वरम् ज्ञात्वा) मुझ यज्ञ और तप का सेवन करनेवाले, सब प्राणियों के सु-स्नेही, सब लोकों के महेश्वर को जानकर (शान्तिम् ऋच्छति) शान्ति प्राप्त करता है।

इस श्लोक का कथन तात्स्थ्य स्थिति अथ वा पात्रपद्धति में किया गया है। या यों कहिए कि *गीताकार* ने यह श्लोक कृष्ण को परमात्मा का पात्र बनाकर कहलवाया है।

मोक्षपरायण मुनि जब ब्रह्म को साक्षात् जान लेता है तब वह उस शाश्वत शान्ति को प्राप्त होता है जो परम सुख और आनन्द की देनेवाली है।

ब्रह्म की प्राप्ति से ही ब्रह्मनिर्वाण की प्राप्ति होती है। 'ब्रह्म की प्राप्ति के लिए जो यज्ञ [साधन, साधना] और तप [सतत अभ्यास] किए जाते हैं उन सबका सेवन करनेवाला स्वयं ब्रह्म है,' इस कथन का आशय यही है कि यज्ञ और तप ब्रह्म की प्राप्ति में सहायक होते हैं। वह सब आत्माओं का पिता-

माता, बन्धु-भ्राता, सखा-त्राता है। निस्सन्देह, वह सभी आत्माओं का सुस्नेही सखा है। और सब लोकों का महेश्वर [महान् स्वामी] तो वह है ही।

छठा अध्याय

श्रीभगवानुवाच

२३४ 'अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।१

'(यः) जो व्यक्ति (कर्म-फलम् अन्-आ-श्रितः) कर्म-फल को आ-श्रय न करता हुआ (कार्यम् कर्म करोति) करणीय कर्म करता है (सः सम्-नि-आसी च योगी च) वही सं-न्यासी [है] और [वही] योगी [है], (न निः-अग्निः न च अ-क्रियः) न निरग्नि और न अ-क्रिय।

संन्यासी किसे कहते हैं और योगी कौन है, इस प्रश्न की मीमांसा निम्न प्रकार की गई है,

१) वह संन्यासी है और वही योगी है जो कर्मफल को आश्रय न करता हुआ करणीय कर्म का सम्पादन करता है।

२) निरग्नि तथा अक्रिय व्यक्ति न संन्यासी है, न योगी है।

कर्मफल-त्याग और कर्मफल-अनाश्रय में बड़ा अन्तर है। अनाश्रय-अवस्था त्याग-अवस्था से बहुत ऊंची अवस्था है, नितान्त उच्च अवस्था।

एक व्यक्ति आम का पौधा लगाता है। वह उसे नित्य सींचता और पोषता है। पौधा वृक्ष होता चला जारहा है। उस पर बौर भरता है। और उस पर आम लगते और पकते हैं। उसके सामने आम आते हैं। वह स्वयं एक भी आम नहीं खाता है, सारे आमों को अपने परिवार, परिजन वा जनता को खिला देता है। वह चाहता था कि पौधा फले, फूले और उस पर आम लगें। आरंभ से ही उसकी भावना फलों को स्वयं खाने की न थी, दूसरों को खिलाने की थी। वैसा ही उसने किया। यह कर्मफल का त्याग है। इसी का नाम परार्थ कर्म है। यहां परोपकार की भावना निहित है, स्वार्थ की नहीं। पर उसकी इच्छा थी कि फल लगें और वह उन्हें स्वयं न खाकर अन्यों को खिलाए।

एक दूसरा व्यक्ति है। वह किसी के बाग़ में काम करता है। बाग़ के स्वामी की इच्छानुसार वह अनेक प्रकार के अनेक पौधे लगाता है। उन्हें

वह बड़े प्रेम से सींचता और पोषता है। अनायास ही उसका स्वामी उसे अपने बाग़ से पृथक् कर देता है। वह किसी दूसरे बाग़ में जाकर उसी प्रकार कार्य करने लगता है। फल कब लगेंगे, कौन उन्हें खाएगा, इस प्रकार का उसे विचार तक नहीं आता। जहां जाना, जहां रहना वहीं उसे स्वामी की इच्छानुसार अपना करणीय कर्म कर देना है। यह कर्मफल के प्रति अनाश्रय है। इसी का नाम अनायास अथ वा सहजस्वभाव कर्म है।

कर्मफल-त्याग और कर्मफल-अनाश्रय, दोनों ही अध्यात्म-क्षेत्र की उच्च अवस्थाएं हैं। कर्मफल-त्याग में कर्ता की अपनी इच्छा कार्य कररही होती है। कर्मफल-अनाश्रय में स्वामी [परमात्मा] की इच्छा कार्य कररही होती है। अपनी इच्छा से कर्म करने में अहंकार तथा आसक्ति का सूक्ष्म संस्कार निहित होता है। स्वामी की इच्छानुसार कर्म करने में कर्ता सर्वथा निरहंकार और निरासक्त रहता है। प्रत्यक्षतः, कर्मफल-अनाश्रय को स्थिति परमोत्कृष्ट और परमोच्च स्थिति है। और इसी लिए यहां कहा गया है कि जो कर्मफल का आश्रय न रखकर कर्म करता है, वही सं-न्यासी है और वही योगी है।

संन्यासाश्रम की साम्प्रदायिक मान्यता यह है कि संन्यासी निरग्नि तथा अक्रिय होता है। कृष्ण इस मान्यता का यहां स्पष्ट शब्दों में निषेध कररहे हैं। यह जो कहा जाता है कि संन्यासी अग्नि के निकट भी न बैठे, यह जो कहा जाता है कि संन्यासी के लिए कोई कर्तव्य कर्म नहीं है, यह कथन नितान्त भ्रान्त और ग़लत है। कृष्ण के मत में साग्नि और सक्रिय रहते हुए भी जो चतुर्थाश्रमी कर्मफल से अनाश्रित रहता हुआ करणीय कर्म करता है वह सच्चा संन्यासी और सच्चा योगी है। यही नहीं, किसी भी आश्रम का वह व्यक्ति जो कर्मफल से सर्वथा अनाश्रित रहता हुआ करणीय कर्म का अनुष्ठान करता है, आदर्श संन्यासी और आदर्श योगी है।

२३५ 'यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन।२

(पाण्डव) पाण्डुपुत्र [अर्जुन]! (यम्) जिसे (सम्-नि-आसम्) 'सं-न्यास' (इति प्र-आहुः) ऐसा कहते हैं, तू (योगम् तम् विद्धि) योग उसे जान। (हि) निश्चय [ही], (अ-सम्-नि-अस्त-सम्-कल्पः) अ-सं-न्यस्त-सं-कल्प (कः चन) कोई भी (योगी न भवति) योगी नहीं होता है।

सम् का अर्थ है सम्यक्, नितान्त, और *न्यास* का अर्थ है त्याग। *गीता* की परिभाषा में *संन्यास* तथा *योग*, दोनों पर्यायवाची शब्द हैं और *गीताकार* की सम्मति में संकल्परहित हो जाने पर ही मनुष्य संन्यासी अथ वा योगी बन सकता है।

श्लोक में पठित *अ-संन्यस्तसंकल्प* शब्द का अर्थ जानने के लिए *संन्यस्त-संकल्प* शब्द का अर्थ समझना चाहिए।

कर्म दो प्रकार से किए जाते हैं, ससंकल्प और असंकल्प। संकल्प का अधिष्ठान मन है। मन की मनीषा से जो कर्म किए जाते हैं उन्हें ससंकल्प कर्म कहते हैं। मन की मनीषा के बिना, अनायास ही जो कर्म किए जाते हैं उन्हें असंकल्प कर्म कहते हैं।

जब कर्ता सर्वथा संकल्परहित होजाता है तब उसकी संज्ञा संन्यस्त-संकल्प होती है। संन्यस्त-संकल्प कहते हैं उस कार्यकर्ता को जिसने संकल्प का नितान्त शमन कर लिया है। अ-संन्यस्तसंकल्प है वह कार्यकर्ता जिसने संकल्प का शमन नहीं किया है। या एक शब्द में *संन्यस्त-संकल्प* का अर्थ है संकल्परहित और *अ-संन्यस्तसंकल्प* का अर्थ है संकल्पसहित।

इस श्लोक में दो गुह्य रहस्यों का उद्घाटन किया गया है,

१) योग क्या है ? योग नाम संन्यास का है।

२) संन्यास क्या है ? संकल्प का न्यास, संकल्प का शमन।

ससंकल्प कर्म में कर्ता की अपनी इच्छा कार्य करती है। संकल्परहित कर्म में स्वामी [परमात्मा] की इच्छा कार्य कररही होती है। ससंकल्प कर्म में कर्ता के भीतर कर्तापन का अहंकार निहित होता है। असंकल्प वा संकल्परहित कर्म में कर्ता के भीतर स्वयं स्वामी [ब्रह्म] कार्य कररहा होता है। ससंकल्प कर्म में कर्ता की अपनी मनीषा कार्य कररही होती है। असंकल्प कर्म में स्वामी की अन्तःप्रेरणा कार्य कररही होती है। ससंकल्प कर्म में अहं च मम, मैं और मेरा भाव होता है। असंकल्प कर्म में त्वं च तव, तू और तेरा भाव होता है। ससंकल्प कर्म में कर्ता *मैं* और *मेरा*, इन दो शब्दों का प्रयोग अपने लिए कररहा होता है। असंकल्प कर्म में कर्ता इन दोनों शब्दों का प्रयोग तात्स्थ्य स्थिति में करता है, स्वामी के स्थान में स्थित होकर स्वामी की ओर से करता है। ससंकल्प कर्म में कर्ता की वाणी से स्वयं कर्ता बोल रहा होता है। असंकल्प कर्म में कर्ता की वाणी से स्वयं स्वामी बोल रहा होता है।

कर्मफल का आश्रय तभी होता है जब कर्ता अपने संकल्प से कार्य करता है, अपनी इच्छा से कार्य करता है, अपने अहंकार से कार्यारम्भ करता है, जहां उसका अहं और *मम* कार्य करता है, जहां वह स्वयं बोलता है। जहां कर्ता स्वामी की इच्छापूर्ति के लिए कार्य कररहा है, स्वामी की प्रेरणा से प्रेरित होकर अनायास कार्य कररहा है, अहंकार से रहित होकर बोलरहा है वहां कर्मफल का लेशमात्र आश्रय नहीं है।

यहां एक प्रश्न उठ खड़ा होता है। संकल्प मन का धर्म है और कर्म का

प्रेरक हैं। संकल्प के बिना कोई कर्म नहीं किया जा सकता। फिर यह कैसे कहा जा रहा है कि संन्यास वा संकल्प के त्याग का नाम योग है। उत्तर सहज और सरल है। आज्ञाकारी, साधु सेवक अक्षरशः अपने साधु स्वामी की प्रेरणा तथा आज्ञा के अनुसार, अपने लिए नहीं अपने स्वामी के लिए कार्य करता है और अपने संकल्प को तनिक भी काम में नहीं लाता है। स्वामी जिस कार्य के लिए आदेश देता है और जिस प्रकार कार्य करने को कहता है वह वही और उसी प्रकार करता है। वैसे ही, योगी को अनायास ही प्रभुप्रेरित जो जो कर्म, साध वा साधना जब जब सम्प्राप्त होती है वह उसे यथावत् करता है और प्रभु की अन्तःप्रेरणा के अनुसार ही उसका सम्पादन करता है।

कर्मफल-अनाश्रय तथा संकल्प-राहित्य का परस्पर अभिन्न सम्बन्ध है। जहां स्वामी की प्रेरणा के अनुसार स्वामी का कार्य किया जाता है वहां संकल्प और कर्मफल के आश्रय का प्रश्न ही नहीं उठता। जहां कर्ता का कर्म में अहंकार होता है, जहां कर्ता अपना कार्य करता है और अपने लिए कार्य करता है वहीं संकल्प होता है और वहीं कर्मफल का आश्रय होता है।

जहां कर्मफल का आश्रय होता है वहीं संकल्प की आवश्यकता होती है। जहां कर्मफल का आश्रय नहीं होता है वहां संकल्प की आवश्यकता ही नहीं होती। इसी लिए पूर्व-श्लोक में कर्मफल के अनाश्रय की शिक्षा देकर इस श्लोक में संकल्प के त्याग की शिक्षा दी गई है।

२३६ 'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।३

'(योगम् आ-रुरुक्षोः मुनेः कर्म) योग पर आ-रूढ़ होने की इच्छा करने वाले मुनि का कर्म (कारणम् उच्यते) कारण कहा जाता है। (तस्य योगम्-आ-रूढस्य शमः एव) उस योगारूढ़ का शम ही (कारणम् उच्यते) कारण कहाता है।

पूर्व दो श्लोकों में कहा गया है कि वह व्यक्ति ही संन्यासी है और वही योगी है जो कर्मफल के प्रति अनाश्रित होकर करणीय कर्म करता है और जिसने संकल्प का सर्वथा त्याग कर दिया है। इस श्लोक में बताया गया है कि योगारूढ होने की इच्छा का कारण है कर्म और योगारूढ होने का कारण है शम।

इस श्लोक में *कर्म* शब्द का प्रयोग उस करणीय कर्म के लिए हुआ है जो कर्मफल से अनाश्रित तथा संकल्परहित होकर किया जाता है। *शम* से तात्पर्य है शमन, शान्ति।

योगारूढ होने की इच्छा के काल में योगेच्छु की योगेच्छा का कारण होता है कर्मफल-अनाश्रित, संकल्परहित कर्म। दूसरे शब्दों में, जब ज्ञानी कर्मफल-अनाश्रित और संकल्परहित होकर कर्म करता है तब उसे योगारूढ

होने की इच्छा होती है। कालान्तर में जब वह योगारूढ अथ वा योगस्थ हो जाता है तब उसे शम, शमन अथ वा शान्ति की सिद्धि होती है। दूसरे शब्दों में, जब उसे शम, शमन वा शान्ति की सिद्धि होजाती है तब वह योगारूढ अथ वा योगस्थ होजाता है।

२३७ 'यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ।४

'ज्ञानी (यदा) जब (न इन्द्रिय-अर्थेषु, न हि कर्मसु) न [तो] इन्द्रियों के विषयों में, न ही कर्मों में (अनु-सज्जते) अनु-रक्त—आसक्त होता है वह (तदा) तब (सर्व-सम्-कल्प-सम्-नि-आसी योग-आ-रूढः उच्यते) सब सं-कल्पों को त्यागनेवाला योगारूढ [योगी] कहाता है।

सर्वसंकल्पत्यागी योगी न तो इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होता है, न कर्मों में। जैसा कि श्लोक १,२ की व्याख्या में बताया गया है, वह अनायासी अथ वा अनायासकर्मा होजाता है।

२३८ 'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।५

'ज्ञानी (उत्-हरेत् आत्मना आत्मानम्) उद्धारे आत्मा से आत्मा को, (न आत्मानम् अव-सादयेत्) नहीं आत्मा को नीचे गिराए (हि) क्योंकि (आत्मा एव आत्मनः बन्धुः) आत्मा ही आत्मा का बन्धु [है], (आत्मा एव आत्मनः रिपुः) आत्मा ही आत्मा का शत्रु [है]।

कृष्ण कहते हैं, 'अर्जुन ! मेरा यह सब उपदेश आत्मोद्धार का मार्ग है। ज्ञानी को चाहिए कि मेरे उपदेशानुसार वह आत्मना अपने आत्मा का उद्धार करे, वह आत्मना अपने आत्मा को ऊंचा उठाए। ज्ञानी को चाहिए कि वह अपना आत्मपतन न होने दे, वह अपने आत्मा का पतन न करे।'

'अर्जुन ! आत्मा ही आत्मा का बन्धु है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है। जो आत्मना अपने आत्मा का उद्धार करता है वह अपने आत्मा का बन्धु है। जो आत्मना अपने आत्मा का उद्धार न करके आत्मपतन कररहा है वह अपने आत्मा का शत्रु है।'

आत्मोद्धार का मार्ग आत्मनिर्भरता का मार्ग है। गुरु मार्ग का निर्देश करता है। साधक को चलना तो अपने पैरों पर खड़ा होकर ही है। गुरु चलना सिखा देता है किन्तु मञ्ज़िल तय करने के लिए निरन्तर चलते रहना तो साधक का ही कार्य है।

जागो, उठो, खड़े होजाओ और तब तक निरन्तर चलते रहो जब तक कि अभीष्ट की प्राप्ति न होजाए।

२३६ 'बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ।६

'(बन्धुः आत्मा आत्मनः) बन्धु [है] आत्मा आत्मा का, (येन) जिसके द्वारा (आत्मना एव) आत्मा से ही (तस्य आत्मा जितः) उसका [अपना] आत्मा जित—विजित [है]। (तु) किन्तु (अन्-आत्मनः) अनात्मा का (आत्मा एव) आत्मा ही (शत्रु-त्वे) शत्रु-ता में (शत्रु-वत् वर्तेत) शत्रु-वत् वर्ते ।

पूर्व-श्लोक में कहा गया था, 'आत्मा ही आत्मा का बन्धु है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है ।'

कौन आत्मा आत्मा का बन्धु है और कौन आत्मा आत्मा का शत्रु है, इस प्रश्न का उत्तर इस श्लोक में निम्न प्रकार दिया गया है,

१) जिस आत्मा ने आत्मना अपने आपको विजय कर लिया है वह आत्मा अपना बन्धु है ।

२) जिस आत्मा ने आत्मना अपने आपको विजय नहीं किया है वह आत्मा अपना शत्रु है ।

सहोदर अथ वा सजात का नाम बन्धु नहीं है। प्रेमबन्धन से जो बंधा हो वही बन्धु है। भाई होते हुए भी जो प्रेमविहीन होकर हानि करता है वह शत्रु है। रावण और विभीषण सहोदर तो थे पर वे परस्पर बन्धु नहीं, शत्रु थे क्यों कि वे प्रेमबन्धन में एक दूसरे से बंधे हुए नहीं थे। राम और भरत अथ वा राम और लक्ष्मण सहोदर तो न थे पर वे एक दूसरे के बन्धु थे क्यों कि वे परस्पर प्रेमबन्धन में बंधे हुए थे ।

जो जिसका बन्धु होता है, जो जिसके बन्धन में बंधा होता है वह उससे प्रेम करता है, उसका हित सम्पादन करता है, उसकी सुसेवा करता है, उसका कल्याण करता है ।

जो जिसका शत्रु होता है वह न उससे प्रेम करता है, न उसका हित सम्पादन करता है, न उसकी सुसेवा करता है, न उसका कल्याण करता है ।

क्या आप अपने आत्मा से प्रेम करते हैं, क्या आप अपने आत्मा का हित सम्पादन करते हैं, क्या आप आत्मसुसेवा अथ वा आत्मसाधना करते हैं, क्या आप आत्मकल्याण करते हैं? यदि आपका इन प्रश्नों का उत्तर 'हां' है तो आप आत्मबन्धु हैं। यदि इन प्रश्नों का आपका उत्तर 'नहीं' है तो आप आत्मशत्रु हैं ।

प्रत्येक मानव का जीवन एक राज्य अथ वा राष्ट्र है, इन्द्रियां जिसके नागरिक अथ वा प्रजा हैं। जो आत्मबन्धु अथ वा आत्मकल्याणकामी है वह इस जीवनराज्य पर विजय प्राप्त करता है और इस जीवनराष्ट्र को आत्मानुशासन

में रखता है। जो अनात्मा अथ वा आत्मशत्रु है वह न अपने जीवनराज्य पर विजय प्राप्त करता है, न जीवनराष्ट्र पर आत्मानुशासन स्थापित करता है।

जो अपने आपको जीत लेता है वह लोक और पर लोक में विजय प्राप्त करके आत्मकल्याण सम्पादन करता है। जो अपने आपसे पराजित है वह आत्महन जन है, वह अनात्मा है, वह आत्मशत्रु है, वह अपना सर्वनाश कररहा है।

रथ के संयत अश्वों के समान जिसने अपनी इन्द्रियों पर निग्रह, वशीकार और अनुशासन स्थापित कर लिया है वह जितात्मा है। उच्छृङ्खल अश्वों के समान जिसकी इन्द्रियां विषयारण्यों में स्वच्छन्द विचर रही हैं वह अनात्मा, पराजितात्मा है। आत्मविजय सर्वोपरि विजय है। आत्मपराजय में सर्वपराजय निहित है। आत्मजयी प्रत्येक क्षेत्र और प्रत्येक पार्श्व में सफलकाम होता है। आत्मपराजित प्रत्येक क्षेत्र और प्रत्येक पार्श्व में पराजय का मुंह देखता है।

जिसने आत्मविजय सम्पादन करली है, जिसने सम्पूर्णतया अपने आपको जीत लिया है उसकी सुन्दर स्थिति की ज़रा कल्पना तो कीजिए। उसका मस्तिष्क अनुत्तेजित, शान्त और परिष्कृत है। उसका चिन्तन एकाग्र, गहन और शालीन है। उसकी दृष्टि पवित्र और निर्विकार है। उसका श्रवण भद्र, श्लील, शुद्ध और सात्त्विक है। उसका प्राण सम है। उसका घ्राण सुवासित है। उसकी वाणी प्रिय और कल्याणी है। उसका खान-पान पवित्र, पौष्टिक और सात्त्विक है। उसका सत्त्व शुद्ध है। उसके कर्म सुकर्म हैं। उसकी भावनाएं भव्य हैं। उसके हृदय में स्नेह, श्रद्धा और विशालता है। उसका मन शिवसंकल्पमय है। उसका चित्त शान्त और प्रचेतनामय है। उसके पग सुपथगामी हैं। पंच विकारों से वह विनिर्मुक्त है। विषय-वासनाओं से वह रिक्त है। उसका आत्मा आत्म-अवस्थित और समाहित है। कितना आनन्दित है वह ! धन्य है यह आत्मजित् आत्मा। यह, सचमुच, अपने आत्मा का आत्मबन्धु है।

अब, टुक, उस आत्मा की ओर देखिए जो आत्मपराजित है, जो अपने आपसे हारा हुआ है, जो असंयत और अव्यवस्थित है। उसका मस्तिष्क मलिन और उत्तेजित है। उसका चिन्तन क्षुद्र और अश्लील है। उसकी दृष्टि अपवित्र और विकृत है। उसका श्रवण अभद्र और दूषित है। उसका प्राण विषम है। उसका घ्राण दुर्वासित है। उसकी वाणी कटु और अकल्याणी है। उसका खान-पान अपवित्र और मादक है। उसके कर्म दुष्कर्म हैं। उसकी भावनाएं आसुरी हैं। उसका हृदय मलिन, श्रद्धाहीन और विशालताविहीन है। उसका

मन अशिव है। उसका चित्त अशान्त है। वह पंच विकारों से विकृत है। वह विषय-वासनाओं में लिप्त है। उसका जीवन जल रहा है। उसका आत्मा विषादयुक्त और क्लेशपीड़ित है। अपने आपसे पराजित हुआ यह आत्मा अनात्मा है, आत्मशत्रु है। यह आत्मा अपने आत्मा से शत्रुवत् वर्त रहा है, शत्रुता कररहा है। वह आत्मबन्धुत्व में नहीं, आत्मशत्रुत्व में स्थित है।

२४० 'जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः।७

"(शीत-उष्ण-सुख-दुःखेषु) शीत, उष्ण, सुख और दुःख में (तथा) और (मान-अप-मानयोः) मान-अप-मान में (जित-आत्मनः प्र-शान्तस्य) जितात्मा, प्र-शान्त का (परम-आत्मा) परम-आत्मा (सम्-आ-हितः) समाहित रहता है।

जिसने आत्मना अपने आपको जीत लिया है वह आत्मजयी आत्मा गर्म-सर्द में, सुख-दुःख में, मान-अपमान में, प्रत्येक अवस्था में शान्त—समाहित रहता है। ऐसे आत्मा के लिए श्लोक में *परमात्मा* शब्द का प्रयोग हुआ है। यहां इस शब्द का प्रयोग 'परम-आत्मा' अर्थ में हुआ है। 'परम-आत्मा' से तात्पर्य है यहां 'परमोच्च स्थिति को प्राप्त आत्मा।' जितात्मा योगी के आत्मा की स्थिति साधारण नहीं, परम होती है। उसका आत्मा परम पवित्र, परम शुद्ध, परम प्रचेतित, परम प्रबुद्ध, परम मुक्त, परम प्राज्ञ, परम ज्योतिर्मय, परम प्रकाशमय, परम पराक्रमशाली, परम शान्त होजाता है। और अपने परमत्व के कारण वह सदा नितान्त शान्त—प्रशान्त, आत्म-अवस्थित, ध्रुव, अविचल, अचल, समाहित रहता है।

एवमेव *शीत* और *उष्ण* शब्दों का प्रयोग भी यहां ऋतुओं के लिए न होकर अवस्थाविशेष के लिए हुआ है। सर्दी और गर्मी का सम्बन्ध शरीर से है, आत्मा से नहीं। यहां प्रकरण जितात्मा का चल रहा है, शरीर का नहीं। योगी का शरीर कितना भी पुष्ट और प्रबल क्यों न हो, शरद् ऋतु में सर्दी और ग्रीष्म ऋतु में गर्मी उसे लगेगी ही और ऋत्वनुसार भोजन-छादन तथा रहन-सहन की व्यवस्था भी उसे करनी ही होगी। यहां *शीत* से तात्पर्य अनुत्तेजित, शान्त वातावरण से है और *उष्ण* से तात्पर्य उत्तेजित, अशान्त वातावरण से है। परम स्थिति को प्राप्त आत्मा के चारों ओर संसार का वातावरण कितना भी शान्त वा अशान्त क्यों न हो, उसके चारों ओर चाहे दुःख की काली घटाएं छारही हों, चाहे सुख की वृष्टि होरही हो, उसका सर्वत्र मान होरहा हो वा अपमान, वह जितात्मा परम-आत्मा सदा समान रूप से शान्त—प्रशान्त और आत्म-अवस्थित, समाहित रहता है।

२४१ 'ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।८

'(ज्ञान-वि-ज्ञान-तृप्त-आत्मा) ज्ञान-विज्ञान-तृप्त-आत्मा, (कूट-स्थः) निर्विकार-स्थ, (वि-जित-इन्द्रियः) वि-जित-इन्द्रिय, (सम-लोष्ट-अश्म-काञ्चनः) सम-मिट्टी-पत्थर-सुवर्ण (योगी) योगी (युक्तः) 'युक्त'—(इति उच्यते) ऐसा कहा जाता है ।

शरीर के सम्पूर्ण व्यासंगों से सर्वथा मुक्त, स्वरूप में अवस्थित और आत्मना ब्रह्म में समाहित योगी का नाम युक्त है । पूर्व-श्लोक में जिस आत्मजयी के लिए *परम-आत्मा* शब्द का प्रयोग हुआ है उसी के लिए इस श्लोक में युक्त शब्द का प्रयोग किया गया है ।

आत्मजित्, प्रशान्त, समाहित परम-आत्मा ज्ञान और विज्ञान से तृप्त रहता है । वेद की दो शाखाएं हैं, ज्ञान और विज्ञान । आत्मदर्शन तथा ब्रह्मसाक्षात्कार का नाम है ज्ञान और प्रकृति के संदर्शन का नाम है विज्ञान । जिसे *साइंस* कहते हैं उसका नाम विज्ञान नहीं है; उसे तो पदार्थ-विद्या कहते हैं । विज्ञान नाम उस विद्या का है जिसके अभ्यास के द्वारा योगी प्रकृति के तीनों गुणों से मुक्त होकर त्रिगुणातीत अथ वा निस्त्रैगुण्य बनता है । योग की दो सम्प्रवाहित धाराएं हैं । पहली धारा वह है जिसके सम्प्रवाह से प्रवाहित होकर योगी आत्मदर्शन तथा ब्रह्मसाक्षात्कार की दिशा में बढ़ता है । दूसरी धारा वह है जिसके सम्प्रवाह से प्रवाहित होकर योगी प्रकृतिजन्य तीनों गुणों से मुक्त होकर निर्विकार होने का सम्प्रयास करता है । योगी की परि-भाषा में पहली धारा का नाम है *संयम* और दूसरी धारा का नाम है *अभ्यास* । धारणा, ध्यान और समाधि के संयोग का नाम संयम है । यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार के संयोग का नाम अभ्यास है । संयम से ज्ञान [आत्मदर्शन तथा ब्रह्मसाक्षात्कार] की सिद्धि होती है । अभ्यास से विज्ञान [निस्त्रैगुण्यता] की सिद्धि होती है । संयम और अभ्यास, दोनों की सहसाधना से ज्ञान-विज्ञान की सिद्धि होने पर आत्मा *ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा* बनता है ।

ज्ञान से आत्म-अवस्थित और विज्ञान से निस्त्रैगुण्य होकर युक्त योगी का आत्मा तृप्त होजाता है । अज्ञान और भोग, ये दो ही अतृप्ति का मूल थे । अज्ञान के कारण भय और संशय सताते थे । भोग के कारण तृष्णा तड़पाती थी । भय, संशय और तृष्णा, इन तीन कारणों से आत्मा सदा अतृप्त रहता था । ज्ञान की सिद्धि से अज्ञान का नाश होगया । विज्ञान की सिद्धि से त्रिगुणात्मक प्रकृति के भोग समाप्त होगए । अतृप्ति के तीनों कारण नष्ट होगए । ज्ञान और विज्ञान की सिद्धि से आत्मा नितान्त तृप्त होगया है ।

ज्ञान-विज्ञान से युक्त होकर, युक्त योगी जहां आत्मना तृप्त होजाता है वहां स्वभावतः ही वह अन्तःकरण से निर्विकार और ज्ञान-कर्मेन्द्रियों से नितान्त जितेन्द्रिय होजाता है। उसके लिए मिट्टी, पत्थर और सोना एक जैसा है। पार्थिव होने से तीनों एक-समान हैं।

२४२ 'सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ।९

(सु-हृत्-मित्र-अरि-उत्-आसीन-मध्य-स्थ-द्वेष्य-बन्धुषु) सु-हृत्, मित्र, अरि, उदासीन, मध्य-स्थ, द्वेष्य और बन्धु में, (च) और (साधुषु पापेषु अपि) साधुओं और पापियों में भी (सम-बुद्धिः) सम-बुद्धिवाला (वि-शिष्यते) वि-शिष्ट, अतिशय श्रेष्ठ योगी है।

सुहृत्=हृदय को अच्छा लगनेवाला, प्रिय। जो स्नेह करता है और त्राण करता है उसे *मित्र* कहते हैं। मित्र में स्नेह और त्राण का संयोग होता है। वह स्नेह किस काम का जिससे त्राण और कल्याण न हो! स्नेह हृदय का स्वाभाविक गुण है। प्यार मित्रता का आधार है। पर प्यार का मूल्य तब है जब मित्र मित्र को तारे, व्यसनों से तारे, दुरितों से तारे, संकट से तारे। *अरि* नाम शत्रु का है। *उदासीन*=उत् [ऊपर, ऊंचा]+आसीन [बैठा हुआ]। ऊपर, ऊंचे पर बैठा हुआ, जो आती-जाती दुनिया को और घटनाओं को द्रष्टृवत् तटस्थता के साथ देख रहा है। *मध्यस्थ* उदासीन का उलटा है किन्तु उदासीन से बहुत बड़ा है। मध्यस्थ=मध्य-स्थ=मध्ये-स्थित=मध्य में स्थित। उदासीन ऊपर वा किनारे पर बैठकर केवल देखता है, पर कुछ करता-धरता नहीं है। मध्यस्थ संसार के संघर्षों में स्थित हुआ, संसार की घटनाओं को सतर्कता के साथ अवलोकन करता हुआ, संसार की वास्तविकताओं से टक्कर लेता है और समस्याओं का समाधान करता है। *द्वेष्य* नाम द्वेष किए जाने योग्य व्यक्ति का है। सामान्यतः *बन्धु* का अर्थ होता है भाई। वास्तव में बन्धु वही है जो प्रेम के बन्धन से बंधा हुआ है। भाई होना साधारण बात है पर बन्धु होना बहुत कठिन है। भाई कई प्रकार के होते हैं। पर सब भाइयों में से बन्धु आपका वही है जो आपके साथ आत्मिक प्रेम के सुदृढ़ बन्धन से बंधा हुआ है। भिन्नोदर होने पर भी राम, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न एक दूसरे के बन्धु थे क्यों कि वे परस्पर प्रेम के अटूट बन्धन से बंधे हुए थे। सहोदर होने पर भी रावण और विभीषण एक दूसरे के बन्धु नहीं थे क्यों कि वे परस्पर प्रेमबन्धन से बंधे हुए न थे।

साधु और *पापी* एक दूसरे का उलट है। जो आस्तिक, सदाचारी और सर्वहितसाधक होते हैं वे साधु हैं। जो वैसे नहीं हैं वे पापी हैं।

श्लोक में सम-भाव का प्रयोग नहीं हुआ है, सम-बुद्धि का प्रयोग हुआ है। समुदार योगी उपर्युक्त सभी प्रकार के लोगों के प्रति समबुद्धि रखता है, सम-भाव नहीं। बुद्धि का अधिष्ठान मस्तिष्क है। भाव का अधिष्ठान हृदय है। समोदार योगी सब प्रकार के व्यक्तियों के प्रति समबोध के साथ वर्तता है, समभाव के साथ नहीं। योगी को यह बोध होता है कि कौन कैसा है और वह प्रत्येक प्रकार के व्यक्तियों के साथ समबोध के साथ यथायोग्य, शिष्ट, हितकारक व्यवहार करता है, यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति के प्रति उसका भाव वैसा ही है जैसा वह व्यक्ति है।

२४३ 'योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः।१०

'(यत-चित्त-आत्मा निर्-आशीः अ-परि-ग्रहः योगी) यत-चित्त-आत्मा, निः-आशीः, अ-परि-ग्रह योगी (रहसि एकाकी स्थितः) एकान्त में अकेला-स्थित [होकर] (आत्मानम् सततम् युञ्जीत) आत्मा को निरन्तर युक्त करे, नित्य ब्रह्म में समाहित करे।

यतचित्तात्मा = यत + चित्त + आत्मा। जिसने चित्त और आत्मा को यत [संयत, नियन्त्रित] कर लिया है उसे *यतचित्तात्मा* कहते हैं।

निराशीः = निः-आशीः = आशीः-रहित। *आशीः* नाम वासनाजन्य इच्छाओं का है। इच्छाएं वासनाओं की वृद्धि करती हैं और वासनाएं इच्छाओं की। इच्छाओं के शमन से वासनाओं का शमन होता है और वासनाओं के शमन से इच्छाओं का शमन होता है। जिसने अपनी वासनाजन्य इच्छाओं का सर्वथा निराकरण कर दिया है उसे *निराशीः* कहते हैं।

जो परिग्रहण अथ वा संग्रह नहीं करता है उसे अपरिग्रहः कहते हैं। जितना आए, सब शुभ कार्यों में लग जाए। इस हाथ लेना, उस हाथ देना। इधर आया, उधर गया। इस प्रकार के व्यक्ति का नाम अपरिग्रहः है। एक शब्द में अपरिग्रहः का अर्थ है निर्लोभ।

यहां योगी की तीन सुन्दर स्थितियों का संकेत किया गया है। *योगी यतचित्तात्मा*। जिसका चित्त और आत्मा संयत है वह योगी है। *योगी निराशीः*। वासनाजन्य इच्छाओं का जिसने त्याग कर दिया है वह योगी है। *योगी अपरिग्रहः*। जो निर्लोभ है वह योगी है। योग की इन तीन स्थितियों से युक्त होकर, योगी अकेला एकान्त स्थान में स्थित होकर बिना व्यवधान नित्य अपने आत्मा को ब्रह्म से युक्त करे, योगयुक्त होकर आत्मना ब्रह्म में स्थित होने का अभ्यास करे।

श्लोक में प्रयुक्त युञ्जीत [युक्त करे] शब्द रहस्यपूर्ण है। युक्त होने के

लिए दो का होना आवश्यक है, एक वह जो युक्त होता है और दूसरा वह जिससे युक्त हुआ जाता है। योगी आत्मा को युक्त करे, यह तो श्लोक में कहा गया है। किससे युक्त करे, यह नहीं बताया गया है। योगी अपने आत्मा को सदा ब्रह्म से युक्त करे, प्रत्यक्षत: यह भाव अन्तर्निहित है।

२४४ 'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमानसमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ।११
२४५ 'तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद् योगमात्मविशुद्धये ।१२

'(शुचौ देशे) पवित्र देश में (आत्मनः) अपने (स्थिरम्) स्थिर (न अति-उत्-श्रितम् न अति-नीचम्) न अति-ऊंचे न अतिनीचे, सम (चैल-अजिन-कुश-उत्तरम्) कुश-मृगछाला-वस्त्र-उत्तर (आसनम्) आसन को (प्रति-स्थाप्य) प्र-स्थापित करके, जमाकर।

योगी (तत्र) वहां (आसने) आसन पर (उप-विश्य) बैठ-कर (मनः एक-अग्रम् कृत्वा) मन एकाग्र करके (यत-चित्त-इन्द्रिय-क्रियः) चित्त और इन्द्रियों को संयत किए हुए (आत्म-वि-शुद्धये) आत्म-शुद्धि के लिए (योगम् युञ्ज्यात्) योग को युक्त, अपने आपको योगयुक्त, धारणा-ध्यान-समाधि का अभ्यास करे।

'पवित्र देश' से तात्पर्य उस स्थान से है जहां का वातावरण सब ओर अतिशय पवित्र हो। *चैलाजिनकुशोत्तर आसन* उस आसन को कहते हैं जिसमें प्रतिक्रम से सबसे नीचे कुशासन बिछा हो, कुशासन के ऊपर मृगछाला बिछी हो, मृगछाला के ऊपर सूती वस्त्र बिछा हो। मृगछाला बहुत गरम होती है। गरम आसन पर बैठने से प्राय: बवासीर रोग होजाता है। गरम आसन पर आसीन होने से कामोत्तेजन भी होता है। हिरन को मारकर फ़ौरन उसकी खाल उतारी जाती है और उस खाल से मृगछाला तैयार की जाती है। इस प्रकार मृगछाला हिंसासिद्ध आसन है। योगाभ्यास के लिए मृगछाला का उपयोग करना अष्टाङ्ग योग के सिद्धान्त के विरुद्ध है। अष्टाङ्ग योग का प्रथम अङ्ग *यम* है जिसके पांच साधनों में से प्रथम साधन *अहिंसा* है। रोग वा दुर्घटना से मरे मृग की खाल सदा कठोर और दुर्गन्धित रहती है। वैसे भी, किसी की खाल पर बैठना निर्दयता है। मैं *गीता*कार से, सही तौर पर, असहमत हूं। सच्चा योगासन वह है जिसमें सबसे नीचे कुशासन वा शीतल पट्टी हो, उसके ऊपर चार तह की हुई सूती चादर और चादर के ऊपर सूती उपवस्त्र।

२४६ 'समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ।१३

२४७ 'प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ।१४

'(काय-शिरः-ग्रीवम् समम्) शरीर-शिर-गर्दन को सम करके (अ-चलम् धारयन्) अ-चल धारता हुआ, (स्थिरः) स्थिर होकर, (स्वम् नासिका-अग्रम् सम्-प्र-ईक्ष्य) अपनी नासिका के अग्र भाग को सम्यक् देखकर, (च) और (दिशः अन्-अव-लोकयन्) दिशाओं को न अव-लोकता हुआ,

(प्र-शान्त-आत्मा) प्र-शान्त-आत्मा, (वि-गत-भीः) वि-गत-भय, (ब्रह्म-चारि-व्रते स्थितः) ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित, (मनः सम्-यम्य) मन को सं-यत करके (मत्-चित्तः) मत्-चित्त, (मत्-परः) मत्-परायण, (युक्तः आसीत) युक्त होवे ।

श्लोक १३ में आसन जमाने की विधि बताई गई है और श्लोक १४ में ध्यान जमाने की ।

अपना आसन जमाने के लिए प्रथम अपने दोनों नितम्बों तथा दोनों पैरों को पद्मासन, अर्धपद्मासन, सिद्धासन वा सुखासन में जमाकर उसके ऊपर अपने शरीर, अपनी गर्दन और अपने शिर को सम [सीधी रेखा में] कीजिए । *काया* का सामान्य अर्थ है शरीर । किन्तु यहां इस शब्द का प्रयोग धड़ के लिये हुआ है । आपका धड़, गर्दन और शिर सीधी रेखा में है वा नहीं, इसकी जानकारी के लिए आप अपने नेत्रों से अपनी नासिका के अग्र भाग पर दृष्टि डालिए, दृष्टिपात कीजिए । यदि आपको अपनी नासिका का अग्र भाग स्पष्ट दिखाई देता है तो आपका आसन ठीक प्रकार से लगा है । यदि नहीं, तो अपनी हनू [ठोड़ी] को नीचे-ऊपर करके देखिए । जिस समय आपकी हनू आपकी ग्रीवामूल के सामने ठीक प्रकार से स्थित होगी उस अवस्था में आपको अपनी नासिका का अग्र भाग स्पष्ट दिखाई देगा ।

इस प्रकार ठीक रीति से आसन जम जाने पर अचल [बिना हिले-जुले], सुखपूर्वक, स्थिरता के साथ आसनस्थ रहते हुए न अपने नासिकाग्र को देखिए, न आगे-पीछे, दायें-बायें देखिए । नेत्र बन्द कर लीजिए । नेत्र बन्द कर लेने पर ही समस्त दिशाओं का अवलोकन सम्भव होता है, अन्यथा नहीं । *संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वम्* का अर्थ है 'अपने नासिकाग्र को देखकर ।' इसका तात्पर्य यह है कि नासिकाग्र को देखकर योगाभ्यासी अपने आसन की स्थिति को ठीक करे । इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि *नासिकाग्र पर दृष्टि जमाए वा ध्यान लगाए । दिशः* अनवलोकयन् कहकर स्पष्ट कर दिया है कि अपने नेत्रों को बन्द कर किसी भी दिशा का अवलोकन न करे, न अपने आगे की ओर देखे न पीछे की ओर, न अपनी दायीं ओर देखे न अपनी बायीं ओर ।

ध्यानावस्थित होने के लिए निम्न शीलों का विधान किया गया है,

१) योगी का पहला शील है *प्रशान्तात्मा होना*। योगी को आत्मना प्रशान्त होना चाहिए। अभ्यासी के शील में जब तक शान्ति की स्थापना नहीं होती, स्वभावतः जब तक वह अपने आपको सर्वथा शान्त नहीं बना लेता तब तक वह ध्यानयोग का पात्र नहीं बन पाता है। योगी के स्वभाव में लेशमात्र उत्तेजना नहीं होनी चाहिए।

२) योगी का दूसरा शील है *विगत-भीः होना*। भयभीत प्रकृति का, डरपोक व्यक्ति योगपथ का पथिक नहीं बन सकता। योगपथ तो निर्भय पथ है जिस पर भयशील व्यक्ति एक पग भी नहीं चल सकता।

३) योगी का तीसरा शील है *ब्रह्मचर्य*। ब्रह्मचर्य के विना योग कैसा! ब्रह्मवत् जो आचरण करता है उसे ब्रह्मचारी कहते हैं। जो अपने आपको ब्रह्मवत् पवित्र, निर्विकार, वासनारहित, निरासक्त और निर्लेप बना लेता है वही योगारूढ़ रह सकता है।

४) योगी का चौथा शील है *मनःसंयम*। मन को ब्रह्म में समाहित रखते हुए मायाजन्य विषयों से सर्वथा मुक्त रहने का नाम मनःसंयम है।

५) योगी का पांचवां शील है *चित्त का ब्रह्म के प्रति अनुरक्त रहना*। मत्-चित्त से तात्पर्य है ब्रह्म-चित्त होना। *मत्-चित्त* का यहां तात्स्थ्य-स्थिति में प्रयोग किया गया है। चित्त के ब्रह्म में नितान्त रम जाने पर ध्यानयोग, निस्सन्देह, सहजगम्य होजाता है।

६) योगी का छठा शील है *मत् परायण* [ब्रह्म-परायण] होना। यहां तात्स्थ्य-पद्धति से मत् से तात्पर्य ब्रह्म से है।

इन छह शीलों से युक्त होने पर योगी ध्यान में सहजतया आत्मसमाहिति को प्राप्त होजाता है। वह जब ध्यान करने बैठता है तो कुछ ही क्षणों में समाधिस्थ होजाता है।

२४८ 'युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ।१५

'(नि-यत-मानसः योगी) नि-यत-मानस योगी (एवम्) इस प्रकार [पूर्व-श्लोकों में कहे अनुसार], (आत्मानम्) आत्मा को (सदा युञ्जन्) सदा युक्त रखता हुआ (निर्-वान-परमाम् मत्-सम्-स्थाम् शान्तिम्) निर्वाण-परमा, मत्-सं-स्था शान्ति को (अधि-गच्छति) प्राप्त होता है।

पूर्व-श्लोक में वर्णित योग के षट् शीलों से युक्त योगी आत्मना ब्रह्म से युक्त रहता है। योग के इन षट् शीलों से युक्त योगी को इस श्लोक में *नियतमानस योगी* कहा गया है। जो अपने मानस [मन] की इन षट् शीलों

से नि-यत [नितराम् युक्त] रखता है उसी के लिए यहां *नियतमानस* शब्द का प्रयोग किया गया है।

नियतमानस योगी निर्वाणपरमा तथा मत्संस्था शान्ति को प्राप्त होता है। शान्ति के लिए यहां दो महत्त्वपूर्ण विशेषणों का प्रयोग किया गया है, *निर्वाणपरमा, मत्संस्था* ।

निर्वाणपरमा शान्ति उस शान्ति का नाम है जो परम निर्वाण की प्राप्ति से प्राप्त होती है। *निर्वाणपरमा* के लिए पर्यायवाची शब्द है *जीवन्मुक्त-विदेह-अवस्था* ।

मत् शब्द का प्रयोग *गीता* में सर्वत्र तात्स्थ्य-स्थिति में ब्रह्म के लिए हुआ है। मत्संस्था शान्ति उस शान्ति का नाम है जो ब्रह्मस्थ होने से प्राप्त होती है।

नियतमानस योगी सदा ब्रह्मस्थ रहता है। ब्रह्मस्थ योगी सदा ब्राह्मी स्थिति में संस्थित रहता है। ब्राह्मी स्थिति में संस्थित रहने से योगी जीवन्मुक्त विदेह होकर मायाजन्य देहद्वन्द्वों से मुक्त रहता है। परिणामस्वरूप, उसे निर्वाण-परमा, ब्रह्मसंस्था शान्ति की सतत उपलब्धि रहती है।

२४६ 'नात्यश्नतस्तु योगो ऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।१६

'(अर्जुन) अर्जुन ! (योगः अस्ति) योग है (न तु अति-अश्नतः) न तो अधिक खानेवाले का, (च न एक-अन्तम् अन्-अश्नतः) और न एकान्त-अ-सेवी का, (च न अति-स्वप्न-शीलस्य) और न अति-स्वप्न-शील का, (च न एव जाग्रतः) और न ही जागनेवाले का।

योग शब्द का प्रयोग यहां योगयुक्त जीवन के लिए हुआ है। अधिक खाना, एकान्तसेवी न होना, अधिक सोना और अधिक जागना, योगाभ्यासी के लिए ये चार बड़े विषम दोष हैं।

योगपथ के पथिक के लिए मिताहारी होना अनिवार्य है। अधिक खाने वाला व्यक्ति ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कदापि नहीं कर सकता। अधिक खाने से रोगों की वृद्धि होती है। अधिक खाने से आलस्य और प्रमाद बढ़ता है।

एकान्तसेवन योग का परम सोपान है। एकान्तसेवन से आन्तरिक शक्तियों का विकास तथा अन्तर्ज्योतियों का प्रकाश होता है। एकान्तसेवन से चिन्तनशीलता तथा बोध का जागरण होता है। आत्मसेवी ही आत्मचिन्तन तथा आत्मनिरीक्षण कर पाता है।

अधिक सोने से अभ्यासहीनता होती है तो अधिक जागने से चिन्तनशून्यता, व्यग्रता तथा अक्षमता की वृद्धि होती है। योगी के लिए आवश्यक है कि कम से कम छह घण्टे रात्रि में और एक घण्टा दिन में अवश्य शयन करे।

२५० 'युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगी भवति दुःखहा ।१७

'(युक्त-आ-हार-वि-हारस्य) युक्ताहार-वि-हारी का, (कर्मसु युक्त-चेष्टस्य) कर्मों में युक्त-चेष्टी का, (युक्त-स्वप्न-अव-बोधस्य) युक्त-स्वप्न-अव-बोधी का (योगः) योग (दुःख-हा भवति) दुःख-नाशक होता है ।

युक्त शब्द का प्रयोग यहां मित अर्थ में हुआ है । *मित* का अर्थ है नियत, उचित मात्रा में ।

ओषधि कितनी भी स्वादिष्ट अथ वा अस्वादिष्ट क्यों न हो, उसके नियत तथा उचित मात्रा में सेवन से ही रोग का शमन होता है । नियत और उचित मात्रा में सेवन किए जाने पर ही ओषधि रोगनिवारक सिद्ध होती है ।

योग के क्षेत्र में भी यह परम आवश्यक है कि योगी अपने जीवन के प्रत्येक पार्श्व में युक्त, मित, नियत और उचित मात्रावाला हो । युक्त आहार, युक्त विहार, युक्त कर्मचेष्टा, युक्त शयन, युक्त जागरण जिसकी साधना का अंग बन जाता है उसी योगाभ्यासी का योग उसके दुःखों का निवारक होता है ।

योगी को चाहिए, वह युक्त-आहार-विहारी हो । यहां योगी के लिए आहार और विहार, दोनों का विधान है । आहार और विहार, दोनों ही योगी के लिए विहित हैं । आजकल के योगी इसलिए भी रोगी हैं कि उन्होंने अपने आपको विहार से वियुक्त कर लिया है । आहार की तरह विहार भी योग का अंग है । हां, यह ठीक है कि जहां योगी का आहार मित हो, वहां उसका विहार भी मित हो ।

योगी को चाहिए कि वह मितचेष्ट और मितकर्म हो । मित चेष्टा और मित कर्म योगी के जीवन में समत्व बनाए रखते हैं । समत्व से स्थायित्व, स्थैर्य और नैरन्तर्य की सहज सिद्धि होती है । अमित चेष्टा और अमित कर्म से योगी के जीवन में असन्तुलन पैदा होता है । असन्तुलन से चित्तविक्षेप होता है । चित्तविक्षेप से मस्तिष्क और हृदय अशान्तिधाम बन जाते हैं । अशान्त को योग की प्राप्ति कहां ?

योगी का स्वप्न [शयन] तथा अवबोध [जागरण] भी मित होना चाहिए । नियत समय पर, निश्चय ही, सो जाना चाहिए और नियत समय पर, निश्चय ही, जगकर उठ जाना चाहिए । जिसका शयन और जागरण नियमित रूप से नहीं होता उसका चौबीसों घण्टों का जीवन अनियमित और अस्त-व्यस्त रहता है । अनियमित और अस्त-व्यस्त व्यक्ति योग के पथ पर चल ही नहीं सकता ।

२५१ 'यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ।१८

'(यदा) जब (वि-नि-यतम् चित्तम्) वि-नि-यत चित्त (आत्मनि एव) आत्मा में ही (अव-तिष्ठते) अव-स्थित होजाता है (तदा) तब (सर्व-कामेभ्यः निः-स्पृहः) सब कामनाओं से इच्छा-रहित [होकर] (युक्तः) 'युक्त'—(इति उच्यते) ऐसा कहा जाता है ।

योगी का चित्त जब वि-नियत होजाता है, जब उसकी चित्तवृत्तियों का सर्वथा संयमन अथ वा निरोध होजाता है तब उसका चित्त उसके अपने आत्मा में ही अवस्थित होजाता है । चित्त के आत्मा में अवस्थित होने पर योगी को आत्म-अवस्थिति की सिद्धि होती है । आत्म-अवस्थित होने पर योगी की सब कामनाएं शान्त होजाती हैं और वह नितान्त इच्छारहित होजाता है । योग की इस अवस्था में योगी युक्त कहाता है ।

इच्छा आत्मा का लिङ्ग है । आत्मा चेतन है । चेतन में इच्छा का होना स्वाभाविक है । आत्मा नितान्त इच्छारहित कभी नहीं हो सकता । इच्छारहित तो परमात्मा भी नहीं हो सकता क्यों कि वह चेतन है । *सर्वकामेभ्यः निःस्पृहः* से तात्पर्य सब कामजन्य इच्छाओं से इच्छारहित होने से है । कामजन्य अथ वा विषयभोगजन्य इच्छाओं से मुक्त होने पर ही योगी युक्त होता है ।

२५२ 'यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ।१९

'(यथा) जैसे (नि-वात-स्थः दीपः न इङ्गते) वात-रहित स्थान में स्थित दीप नहीं हिलता है—(सा उप-मा) वह उप-मा (आत्मनः योगम् युञ्जतः योगिनः यत-चित्तस्य) आत्मा के योग को युक्त हुए योगी के वशीकृत-चित्त की (स्मृता) स्मृत— स्मरणीय [है] ।

दीप शब्द का प्रयोग यहां दीपक की लौ के लिए हुआ है । दीपक में तैल भरा हुआ है । उसमें रखी बत्ती जल रही है । वात [हवा] बन्द वा मन्द है । दीपक की लौ बिना हिले-जुले अपने आपमें अवस्थित हुई अपनी पूर्ण ज्योत्स्ना से द्योतित हो रही है । हवा चलने लगी । लौ इधर उधर हिलने लगी । उसकी ज्योत्स्ना बुझने लगी । दीपक के स्वामी ने उसे उठाकर ऐसे स्थान में रख दिया जहां हवा नहीं लगती । लौ पुनः समाहित होकर अपनी पूर्ण ज्योत्स्ना से युक्त हो गई ।

ठीक यही अवस्था योगी के चित्त की है । चित्त दीपक है । आत्मा दीप [लौ] है । दीपक में दीप जलरहा है । कामवात से चित्त की वृत्तियां तीव्र गति से दौड़ने लगीं । आत्मदीप अनवस्थित होकर हिल रहा है । योगी ने

आत्मसाधना द्वारा कामवात का उपशमन करके चित्त की वृत्तियों का वशीकार अथ वा निरोध किया। आत्मदीप स्थिर, समाहित होकर आत्म-अवस्थित होगया। आत्मज्योत्स्ना अविचल रूप से जगमगाने लगी। आत्मा अब स्वात्मज्योत्स्ना में तत्त्व का दर्शन कर रहा है। द्रष्टा अब स्वरूप में अवस्थित हुआ युक्त है, आत्मसमाहित है।

२५३ 'यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ।२०

'(यत्र योग-सेवया नि-रुद्धम् चित्तम् उप रमते) जहां योग-सेवन से नि-रुद्ध चित्त उप-रमण करता है, (च यत्र) और जहां [योगी] (आत्मना आत्मानम् पश्यन्) आत्मा से आत्मा को देखता हुआ (आत्मनि एव तुष्यति) आत्मा में ही प्रसन्न रहता है,

२५४ 'सुखमात्यन्तिकं यत् तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ।२१

'(अति-इन्द्रियम् बुद्धि-ग्राह्यम् यत् आत्यन्तिकम् सुखम्) अतीन्द्रिय, बुद्धि-ग्राह्य जो नितान्त सुख [है], [योगी] (तत्) उसे (यत्र वेत्ति) जहां प्राप्त करता है, (च) और [जहां] (स्थितः अयम् तत्त्वतः न एव चलति) स्थित [हुआ] यह [योगी] तत्त्वतः चलायमान नहीं होता है,

२५५ 'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ।२२

'योगी (यम् लब्ध्वा ततः अधिकम् अ-परम् लाभम् न मन्यते) जिसे पाकर उससे अधिक अनन्य लाभ नहीं मानता है, (च) और (यस्मिन् स्थितः गुरुणा दुःखेन अपि) जिसमें स्थित [होकर] गुरु दुःख से भी (न वि-चाल्यते) चलायमान नहीं होता है,

२५६ 'तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगो ऽनिर्विण्णचेतसा ।२३

'[मनुष्य] (दुःख-सम्-योग-वि-योगम् योग-सम्-ज्ञितम् तम् विद्यात्) दुःख-सं-योग से वि-युक्त, योग-संज्ञक उस [योग] को जाने। (सः योगः) वह योग (अ-निः-विण्ण-चेतसा) अनुकताए चित्त से (निः-चयेन) निश्चयपूर्वक (योक्तव्यः) साधनीय [है]।

प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि वह अनुकताए मन से निश्चय ही उस योग की साधना करे

१) जहां योगसेवन से निरुद्ध चित्त उपरमण करता है।

२) जहां योगी आत्मा से आत्मा को देखता हुआ आत्मा में ही प्रसन्न

रहता है ।
३) जहां अतीन्द्रिय, बुद्धिग्राह्य, नितान्त सुख की अनुभूति होती है ।
४) जिसमें स्थित होकर योगी तत्त्वतः विचलित नहीं होता है ।
५) जिनके लाभ से बढ़कर अन्य कोई लाभ नहीं है ।
६) जिसमें स्थित होकर योगी को बड़े से बड़ा दुःख भी कम्पित नहीं कर पाता है ।
७) जो दुःखसंयोगों से वियुक्त अथ वा मुक्त हैं ।

इन श्लोकों में योग की महिमा का सुन्दर और यथार्थ चित्रण किया गया है ।

१) योगाभ्यास से योगी का चित्त उपरमण करता है । उपरमण का अर्थ है निकट रमण । किसके निकट रमण ? प्रत्येक वस्तु, पदार्थ और प्राणी के निकट । योगी का चित्त प्रत्येक वस्तु, पदार्थ और प्राणी के प्रति रमणीयता का अनुभव करता है । सबमें प्रभु की महिमा और सौन्दर्य का अवलोकन करता हुआ वह सदा सबके प्रति प्रीतिमान् और सुरुचिपूर्ण रहता है ।

२) योग वह स्थिति है जिसमें स्थित हुआ योगी आत्मना आत्मा का संदर्शन करता हुआ सर्वथा तुष्ट, सन्तुष्ट और प्रसन्न रहता है । तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् । योग वह है जिससे द्रष्टा आत्मा स्वरूप का दर्शन करता हुआ स्वरूप में अवस्थित रहता है ।

३) सुख दो प्रकार का होता है । एक वह सुख जो इन्द्रियों द्वारा भोगा जाता है और इन्द्रियों द्वारा जिसका अनुभव होता है । एक वह सुख है जिसका सेवन इन्द्रियों द्वारा नहीं, आत्मा द्वारा किया जाता है और जिसका संवेदन बुद्धि द्वारा होता है । इसी सुख का नाम आनन्द है । यह सुख अथ वा आनन्द योगाभ्यास से ही प्राप्त होता है ।

४) योग में स्थित होकर योगी ऐसा तत्त्ववित् अथ वा तात्त्विक होजाता है कि सांसारिक कोई भी हानि-लाभ, जय-पराजय, मान-अपमान, सफलता-विफलता, आदि उसे लेशमात्र विचलित नहीं करती ।

५) योगलाभ अपने आप में सर्वोपरि लाभ है । भोगलाभ देहलाभ है । योगलाभ आत्मलाभ है । देहलाभ जो कुछ है वह सब नश्वर है । आत्मलाभ सत्य, शाश्वत लाभ है । अत एव योग के लाभ से बढ़कर अन्य कोई लाभ नहीं ।

६) योग की वास्तविक स्थिति में स्थित होने पर योगी बड़े से बड़े दुःख और संकट से तनिक भी कम्पित वा प्रभावित नहीं होता है । योगयुक्त योगी अविचल, अकम्प और सम रहता है । अखिल विश्व का विरोध भी योगी को नहीं हिला सकता किन्तु योगी अपनी योगशक्ति से विश्व को

हिला देता है।

२५७ 'संकल्पप्रभवान् कामाँस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः।२४

'(सम्-कल्प-प्र-भवान् सर्वान् कामान् अ-शेषतः त्यक्त्वा) संकल्प-जन्य सब कामनाओं को निः-शेषतया त्यागकर (मनसा इन्द्रिय-ग्रामम् सम्-अन्ततः एव वि-नि यम्य) मन से इन्द्रिय-समूह को सम्यक्तया ही नि-यन्त्रित करके,

२५८ 'शनैःशनैरुपरमेद् बुद्धया धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।२५

'(धृति-गृहीतया बुद्धया) धैर्य-धृत बुद्धि से (मनः शनैः-शनैः आत्म-सम-स्थम् कृत्वा) मन को धीरे-धीरे आत्म-संस्थित करके (उप-रमेत्) उप-रमण करे, आनन्दित रहे, (किम् चित् अपि न चिन्तयेत्) कुछ भी न चिन्तन करे।

संकल्प और धृति [धैर्य], मानव के पास ये दो ऐसे करण हैं जिनके द्वारा सब कुछ किया जाता है। प्रत्येक कामना की पूर्ति के लिए ये दो अनिवार्य साधन हैं। *गीता*कार बड़ी भारी भूल करता है यदि वह कहता है कि संकल्पों से कामनाओं का प्रभवन [प्रजनन] होता है। प्रत्यक्षतः कामनाएं संकल्पों की जननी हैं, संकल्प कामनाओं के जनक नहीं। जब मनुष्य कोई कामना करता है तो उस कामना की पूर्ति का संकल्प करता है। संकल्प बुद्धि को प्रेरता है। संकल्प से प्रेरित होकर बुद्धि चिन्तन द्वारा विश्लेषण करके योजना निर्धारित करती है। तत्पश्चात् कामना की पूर्ति का साधनोपाय किया जाता है।

कतिपय भाष्यकारों ने *संकल्प-प्रभवान् कामान्* का अर्थ 'संकल्प से प्रेरित कामनाएं' किया है। यह भी ग़लत है क्योंकि संकल्प कामनाओं को नहीं प्रेरता है, कामनाएं संकल्प को प्रेरती हैं। संकल्प बुद्धि को प्रेरता है, बुद्धि योजना बनाती है और इन्द्रियां योजना को क्रियान्वित करती हैं।

श्लोक २४ का प्रायः सभी भाष्यकारों ने जो अर्थ किया है, जान-बूझकर उससे मिलता-जुलता शब्दार्थ ही मैंने ऊपर दिया है। मेरी राय में *संकल्प-प्रभवान् कामान्* का सही अर्थ होना चाहिए 'संकल्पों को उत्पन्न करनेवाली कामनाएं।'

'संकल्पों को उत्पन्न करनेवाली सब कामनाओं को अशेषतः त्यागकर, मन से इन्द्रियसमूह को पूर्णतया नियन्त्रित करके, धैर्य-धृत बुद्धि से मन को धीरे धीरे आत्म-संस्थित करके आनन्दित रहे और कुछ भी न चिन्तन करे,' इस अर्थ में भी कुछ त्रुटि रह जाती है।

कोई भी तो कामना ऐसी नहीं है जो संकल्पों को उत्पन्न न करती हो। स्वयं योग कामना का विषय है। ब्रह्मसाक्षात्कार कामना का विषय है। आत्मसाक्षात्कार भी कामना का विषय है। जब मनुष्य आत्मा तथा परमात्मा के साक्षात्कार की कामना करता है तभी वह योगाभ्यास करने का संकल्प करता है। उस संकल्प की पूर्ति के लिए धीर-बुद्धि से वह मन को आत्मना समाहित करता है। मन के आत्मसंस्थित अथ वा आत्मसमाहित होजाने पर उसे उस आनन्द की प्राप्ति होती है जिसे चिन्तनरहित अथ वा अचिन्त्य कहते हैं।

सब कामनाओं का अशेषतः त्याग कदापि सम्भव नहीं है। वास्तव में, कामनाओं के अशेषतः त्याग से *गीताकार* का आशय विषय-वासनाजन्य कामनाओं से है जिनका शमन इन्द्रियों को सुनियन्त्रित और मन को आत्मस्थ करने से होता है। यह उत्कट साधना धैर्यमयी बुद्धि के द्वारा ही सिद्ध होती है। इस साधना के सिद्ध होने पर कुछ भी चिन्तनीय नहीं रहता क्यों कि मन के आत्मस्थ होने और रहने पर सदा अचिन्त्य का ही चिन्तन रहने लगता है।

अब इन श्लोकों का स्पष्टार्थ होगा, 'वासनाजन्य संकल्पों को उत्पन्न करनेवाली सब विषयकामनाओं को अशेषतः त्यागकर, मन से इन्द्रियसमूह को पूर्णतया नियन्त्रित करके, धृति-गृहीता बुद्धि से मन को धीरे धीरे आत्मा के साथ समाहित करके योगी सदा आनन्दित रहे। इन स्थिति में अचिन्त्य का ही साक्षात् चिन्तन रहता है, अन्य कुछ भी चिन्त्य नहीं रहता।'

२५६ 'यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।२६

'(यतः यतः) जहां जहां से (निः-चरति) बाहर विचरता है (मनः चञ्चलम् अ-स्थिरम्) मन चंचल और अस्थिर, (एतत्) इसे (ततः ततः) वहां वहां से (नि-यम्य) नि-यन्त्रित करके (आत्मनि एव) आत्मा में ही (वशम् नयेत्) वश लेजाए, वशीभूत करे।

मन स्वयं भौतिक है और स्वभावतः ही वह भौतिक विषयों में निरन्तर विचरता रहता है। जागर्ति और स्वप्न में वह निरन्तर किसी न किसी विषय में बाहर घूमता रहता है। केवल सुषुप्ति में वह नितान्त निष्क्रिय रहता है।

सुषुप्ति में मन के निष्क्रिय रहने का कारण यह है कि उस अवस्था में वह आत्मा में लीन होजाता है, आत्मा के साथ सुषुप्त होजाता है। योगी आत्मसाधना द्वारा ऐसा अभ्यास करता है कि जागर्ति में उसका मन आत्म-समाहित होकर कार्य करे। तब योगी का मन स्वप्न में भी आत्मा द्वारा

नियन्त्रित रहता हुआ कार्य करता है।

२६० **'प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।**
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्।२७

'(हि) निश्चय से, (एनम् प्र-शान्त-मनसम् शान्त-रजसम् ब्रह्म-भूतम् अ-कल्मषम् योगिनम्) इस प्रशान्त-मन, शान्त-रज, ब्रह्म-भूत, अ-कल्मष योगी को (उत्-तमम् सुखम्) उत्तम सुख (उप-एति) प्राप्त होता है।

पूर्व श्लोकानुसार, जिस योगी का मन आत्माधीन अथ वा आत्मसमाहित होजाता है उस योगी की विशेषताओं का इस श्लोक में वर्णन किया गया है।

मन के आत्मसमाहित होने पर योगी प्रशान्तमन होजाता है। आत्मसमाहित होने पर योगी का मन चंचलता और अस्थिरता से मुक्त होकर नितान्त शान्त होजाता है। चंचलता और अस्थिरता ही हैं जिनके कारण मन अशान्त रहता है। दूसरी ओर अशान्ति ही है जिसके कारण मन चंचल और अस्थिर रहता है। चंचलता, अस्थिरता और अशान्ति से मुक्त होकर योगी प्रशान्तमन होजाता है। प्रशान्तमन होजाने पर प्रत्यक्षतः योगी को उत्तम सुख की प्राप्ति होती है।

सुख की तीन कोटियां हैं, उत्, उत्तर और उत्तम। शरीरसुख उत् सुख है। मनःसुख उत्तर सुख है। आत्मसुख उत्तम सुख है। उत्तम सुख का ही नाम आनन्द है।

मन के आत्मसमाहित होने पर योगी का मन प्रशान्त होजाता है। मन के प्रशान्त होने पर योगी शान्तरज होजाता है। रजः शब्द का प्रयोग यहां रजोगुण अर्थ में नहीं हुआ है, मल-विक्षेप अर्थ में हुआ है। मन की अशान्त अवस्था में मानव समल और विक्षिप्त रहता है। मन के शान्त होने पर मल-विक्षेप का शमन होजाता है। इसी आशय से *प्रशान्त-मनसं* के बाद *शान्त-रजसं* शब्द का प्रयोग किया गया है।

मल-विक्षेप से मुक्त होने पर योगी कल्मषरहित [निष्पाप] होजाता है। मल-विक्षेप ही कल्मष के कारण होते हैं।

प्रशान्तमन, शान्तरज तथा अकल्मष होने पर योगी सहज ही ब्रह्मभूत [ब्रह्मस्थ] होकर सदा आनन्द को प्राप्त रहता है।

२६१ **'युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।**
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते।२८

'(वि-गत-कल्मशः योगी) निष्पाप योगी (आत्मानम् एवम् सदा युञ्जन्) आत्मा को इस प्रकार सदा युक्त—समाहित रखता हुआ (सुखेन) सहजतया (ब्रह्म-सम्-स्पर्शम् अति-अन्तम् सुखम्) ब्रह्म-संस्पर्शी नितान्त सुख को (अश्नुते)

सेवन करता है।

जो ब्रह्मभूत योगी सर्वभावेन अपने आत्मा को ब्रह्म से युक्त और ब्रह्म में समाहित रखता है वह सहजतया सदा ही ब्रह्मसंस्पर्शी नितान्त सुख को प्राप्त रहता है।

जो सुख सर्वथा निर्बाध और सर्वतः व्यवधानरहित होता है और जिसमें दुःख वा क्लेश की तनिक भी मात्रा न हो उसे अत्यन्त सुख, नितान्त सुख अथ वा आनन्द कहते हैं। ऐसे सुख का आस्वादन तभी होता है जब योगी आत्मना ब्रह्म से संस्पृष्ट रहता है अथ वा अपनी भावना द्वारा ब्रह्म से आत्मयुक्त रहता है।

यथा संस्पर्श तथा सुख। ब्रह्म आनन्दमय है। अतः ब्रह्म के आत्मसंस्पर्श से स्वभावतः ही नितान्त आनन्द की प्राप्ति होती है। माया भोगमयी और रोगमयी है। इसी से, माया के संस्पर्श से दुःख और क्लेश की प्राप्ति होती है।

देह से माया का संस्पर्श करता हुआ योगी यदि आत्मना निर्विकार ब्रह्म से संस्पृष्ट रहता है तो उसकी देह-माया भी निर्विकार होजाती है। परिणामतः, ब्रह्मसंस्पर्शी योगी शरीर से तथा आत्मा से सदा सर्वप्रकार नितान्त सुख से संयुक्त रहता है।

२६२ 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।२९

'(सर्वत्र सम-दर्शनः) सर्वत्र सम-दृष्टि से देखनेवाला (योग-युक्त-आत्मा) योग-युक्त-आत्मा (ईक्षते) देखता है (आत्मानम् सर्व-भूत-स्थम्) आत्मा को सब भूतों में स्थित (च) और (सर्व-भूतानि आत्मनि) सब भूतों को आत्मा में।

ब्रह्मसंस्पर्शी, नितान्त सुख की अनुभूति से युक्त, ब्रह्मसमाहित योगी स्वभावतः सर्वत्र ब्रह्मानुभूति का अनुभव करता है और सबमें, सर्वत्र ब्रह्म को समाया हुआ देखता है। परिणामस्वरूप, वह समदर्शी होजाता है। उसे स्पष्ट दिखाई देने लगता है कि सब भूत और प्राणी परमात्मा में स्थित हैं और परमात्मा सब भूतों और सब प्राणियों में समाया हुआ है। *तदन्तरस्य सर्वस्य; तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्;* वह इस सबके भीतर है और यह सब उसमें प्रतिष्ठित है।

२६३ 'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।३०

'(यः माम् पश्यति सर्वत्र) जो मुझे देखता है सर्वत्र (च) और (सर्वम् मयि पश्यति) सबको मुझमें देखता है (तस्य अहम् न प्र-नश्यामि) उसका मैं नहीं

'अदर्शन करता हूं (च) और (सः मे न प्र-नश्यति) वह मेरा नहीं अदर्शन करता है।

यहां तात्स्थ्य स्थिति में कही गई ब्रह्मस्थ योगी की ब्रह्मोक्ति है। मां, मयि, अहं, मे का प्रयोग यहां 'ब्रह्म' के स्थान में हुआ है।

नश अदर्शने; नश धातु का अर्थ है अदर्शन अथ वा ओझल करना।

जो ब्रह्म को सर्वत्र, सबमें देखता है और सबको ब्रह्म में देखता है, ब्रह्म उसे अपनी दृष्टि से कभी ओझल नहीं करता है और वह अपनी दृष्टि से कभी ब्रह्म को ओझल नहीं करता है।

२६४ 'सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानो ऽपि स योगी मयि वर्तते ।३१

'(यः) जो (एक-त्वम् आ-स्थितः) एक-त्व पर सं-स्थित [हुआ] (माम् सर्व-भूत-स्थितम्) मुझ सर्व-भूत-स्थित को (भजति) सेवता है (सः योगी सर्वथा वर्तमानः अपि) वह योगी सर्वथा वर्तमान हुआ भी (मयि वर्तते) मुझमें वर्तता है।

एकत्व शब्द का प्रयोग यहां एकाकारिता अर्थ में हुआ है। एकत्व अथ वा एकाकारिता एक ही बात है। यहां इस अनन्त, असीम, अखिल सृष्टि में सर्वत्र एकत्व, एकाकारिता है, पृथक्त्व नाम की कोई वस्तु नहीं है। सृष्टि के कण कण में नहीं, परमाणु परमाणु में ब्रह्म व्याप रहा है। आत्मा आत्मा में वह अन्तर्निहित है। न वह किसी से पृथक् है, न उससे कोई पृथक् है। वह सबमें है, सब उसमें हैं।

योग नाम दो पृथकों के मिलन का नहीं है, आत्मसमाहिति का है। मनुष्य जब अपने आपमें आत्मसमाहित होता है तब वह उस एकत्व अथ वा एकाकारिता का साक्षात्कारमात्र करता है जिसका संकेत इस श्लोक में किया गया है।

भज सेवायाम्। भज धातु का अर्थ है सेवा करना, सेवन करना, सेवया सेवन करना, साधना करना। साधनारूप सेवा द्वारा ही योगी एकत्वस्थिति का साक्षात्कार करता है, अन्य किसी प्रकार से नहीं।

आत्मसाधना द्वारा जो योगी एकत्व की संशयरहित, अविचल भावना से ब्रह्मस्थ रहता है वह अपनी सत्ता रखता हुआ भी ब्रह्म की सत्ता से सहसत्तावान् अथ वा एकसत्तावान् रहता है।

२६५ 'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति यो ऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।'३२

'(अर्जुन) अर्जुन! (यः) जो (आत्म-औपम्येन) आत्म-उपमा से (सुखम् वा

यदि वा दुखःम्) सुख को अथ वा तो दुःख को (सर्वत्र) सर्वत्र, सबमें (समम् पश्यति) समान देखता, समझता है (सः परमः योगी मतः) वह परम योगी माना गया है।'

यहां योगी की नहीं, परम योगी की परिभाषा की गई है। जो सतत आत्मना ब्रह्मसमाहित रहता हुआ ब्रह्म की सत्ता से एकसत्तावान् रहता है वह केवल योगी है। जो ब्रह्म की सत्ता से एकसत्तावान् तो रहता ही है, साथ ही आत्मा आत्मा को, प्रत्येक प्राणी को आत्मवत् देखता हुआ सबके सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझता है वह परम योगी है।

ब्रह्मभाव से भावित अथ वा ब्रह्मलीन रहते हुए अपने आत्मानन्द में सन्तुष्ट और मग्न रहना लघु योग है, कृपण योग है, नपुंसक योग है। ब्रह्म की सत्ता से एकसत्तावान् रहते हुए सुखियों के सुख की रक्षा करना और दुःखियों के दुःख को मिटाकर उन्हें सुखी बनाना परम योग है, उदार योग है, पुंसक योग है, ब्राह्म योग है।

अग्नि में प्रविष्ट होकर कोयला जब अग्नि से एकसत्तावान् होजाता है तो उसमें अग्नि के सम्पूर्ण गुण आजाते हैं और वह अग्निरूप होजाता है। अग्निरूप होकर कोयला अग्नि के सम्पूर्ण धर्मों का संवहन तथा अग्नि के सकल कर्मों का निर्वहन करता है।

उसी प्रकार ब्रह्म की अनन्त—असीम सत्ता से एकसत्तावान् होकर योगी ब्रह्म के सम्पूर्ण गुणों से युक्त होजाता है, ब्रह्मरूप होजाता है। ब्रह्मरूप होने पर उसमें सकल ब्राह्म धर्मों तथा अखिल ब्राह्म कर्मों की क्षमता सम्पादित होजाती है। ब्रह्मरूप होकर वह आत्मा आत्मा में अपने आत्मा का दर्शन करता है, आत्मा आत्मा में आत्मीयता तथा आत्मनिजता की अनुभूति करता है। इस आत्म-औपम्य, आत्म-उपमा, आत्म-निजता से संयुक्त होकर वह प्रत्येक प्राणी के दुःख को अपना दुःख और प्रत्येक प्राणी के सुख को अपना सुख समझता है। सुखी प्राणियों के सुख को देखकर वह आनन्दित होता है और दुःखी प्राणियों के दुःख को देखकर वह उन्हें सुखी बनाने का सुप्रयास करता है।

सच्चिदानन्द ब्रह्म से एकसत्तावान् रहने के कारण परम योगी सुख-दुःख को समान समझता हुआ सर्वत्र, सदा सुख-दुःख से ऊपर उठा रहता है, सच्चिदानन्द के आनन्द में अनवरत निर्व्यवधान आनन्दमग्न रहता है। अतः सुखियों के सुख की रक्षा करने तथा दुःखियों को सुखी बनाने के संघर्ष में उसे लेशमात्र आत्मपीड़ा नहीं होती है।

सुख और दुःख का सम्बन्ध भौतिक जीवन से है। आनन्द का सम्बन्ध

आत्मा से है। परम योगी, क्यों कि वह देहद्वन्द्व से ऊपर उठ जाता है और ब्राह्म-एकत्व में एकसत्तावान् रहता है, को किसी भी अवस्था में सुख-दुःख की प्रतीति नहीं होती है। स्वयं सुख-दुःख से मुक्त हुआ वह प्राणिमात्र को सुखी और आनन्दी बनाने की दिव्य साधना करता रहता है। वह सिद्ध ही क्या, जो साधना न करे!

ब्रह्म की अनन्त शक्ति से एकसत्तावान् अनन्तशक्त होकर जो विश्वव्यापी साधों की संसाधना करता है, सचमुच, वही परम योगी है।

अर्जुन उवाच

२६६ 'यो ऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिम् स्थिराम्।३३

'(मधु-सूदन) मधु-नाशक [कृष्ण]! (त्वया यः अयम् योगः साम्येन प्र-उक्तः) तेरे द्वारा जो यह योग साम्यता के साथ प्रकृष्टतया कहा गया है, (चंचल-त्वात्) चंचल-ता के कारण (अहम् एतस्य स्थिराम् स्थितिम् न पश्यामि) मैं इसकी स्थिर स्थिति को नहीं देख—समझ पारहा हूं।

कृष्ण के अनेक नामों में से एक नाम *मधुसूदन* है। सभी भाष्यकारों ने यह व्यक्त किया है कि कृष्ण ने मधु नाम के दानव का वध किया था, इसी से कृष्ण का नाम मधु-सूदन पड़ गया था। मैं इस मान्यता से सहमत नहीं हूं। कृष्ण ने कंस का वध भी तो किया था। कृष्ण का नाम 'कंससूदन' क्यों नहीं पड़ा? वास्तव में कृष्ण का नाम मधुसूदन इसलिए पड़ा कि उन्होंने अपने जीवन में से मधु जैसे मधुर कामसुख का सर्वथा निराकरण कर दिया था।

इस श्लोक में अर्जुन ने कृष्ण से जो संवेदन किया है उसे स्पष्टतया समझ लेना चाहिए। श्लोक ३२ में कृष्ण ने अर्जुन को जिस साम्ययोग अथ वा समदर्शिता का संकेत किया है वह मन की साधारण, चंचल स्थिति में संभव नहीं है। वह तो मन की असाधारण, अविचल स्थिति में ही सम्भव है। *गीता*-वार्ता के समय अर्जुन का मन जिस चंचल स्थिति में था उस स्थिति में उसने कृष्ण से कहा है, जितकाम कृष्ण! तूने *साम्येन* जिस समत्व योग का प्रकथन किया है, अपने मन की इस चंचल स्थिति में मैं उस साम्य, स्थिर स्थिति को नहीं देख—समझ पारहा हूं जिस साम्यस्थिति में स्थिर होकर तू मुझे उसका उपदेश कर रहा है।

इस श्लोक में प्रयुक्त *साम्येन* शब्द बड़ा रहस्यपूर्ण है। 'कृष्ण! तूने साम्य के साथ, साम्य-अवस्था में स्थित होकर जिस साम्ययोग का निर्देश किया है, मैं उसे अनुभव नहीं कर पारहा हूं क्यों कि मेरा मन साम्यस्थिति में स्थित नहीं है। तू साम्यसिद्ध है। मैं साम्य-असिद्ध हूं। तूने जो कुछ कहा वह सब ठीक है। लेकिन मेरा मन अन्यमना होरहा है।

२६७ 'चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।'३४

'(कृष्ण) कृष्ण ! (हि) क्यों कि (मनः चञ्चलम् प्र-माथि बलवत् दृढम्) मन चंचल, प्रमथनशील, बलवान् [और] दृढ़ [है], (अहम् तस्य नि-ग्रहम्) मैं उसके वशीकार को (वायोः-इव सु-दुः-करम् मन्ये) वायु के समान सु-दुष्कर मानता हूं ।'

मन का प्रमथनशील, बलवान् तथा दृढ़ होना तो श्रेयस्कर है किन्तु उसका चंचल होना विनाशकारी है । कोई अमथनशील, दुर्बल तथा अदृढ़ व्यक्ति यदि चंचल हो तो उसे वश में करना उतना कठिन नहीं होता है, जितना कठिन एक प्रमथनशील, सशक्त और दृढ़ व्यक्ति को वश में करना होता है । इसी कठिनाई को व्यक्त करते हुए अर्जुन कह रहा है, 'कृष्ण ! यह मन प्रमाथि, बलिष्ठ, दृढ़ और चंचल है । अतः मुझे ऐसा लगता है कि इस मन को वश में करना सरल नहीं है, बहुत कठिन है, उतना कठिन जितना कठिन है वायु के वेग को रोकना ।'

प्रमाथि का अर्थ है प्रथमन करनेवाला, सुमन्थन करनेवाला, प्रकृष्टतया मथनेवाला । समुद्र का मन्थन करके देवजन अमृत का सम्पादन करते हैं । दूध को मथने से मक्खन की प्राप्ति होती है । दही को मथने से घृत की उपलब्धि होती है । अन्तर्मन्थन से तत्त्व का दर्शन और सत्य का साक्षात्कार होता है । मन जब वेदों, शास्त्रों और सद्ग्रन्थों में प्रविष्ट होकर उनका मन्थन करता है तो उनके सारे मर्मों और रहस्यों को खोल देता है । मन जब प्रकृति में प्रविष्ट होकर प्रकृति का मन्थन करता है तो अनेक, असंख्य विज्ञानों का अविष्कार कर देता है । मन जब जटिल समस्याओं तथा उलझी उलझनों में प्रवेश करके उनका प्रमन्थन करता है तो समस्त समस्याओं का समाधान कर देता है और सारी उलझनों को सुलझा देता है ।

मन प्रत्यक्षतः बड़ा बलवान् और दृढ़ भी है ही । मनोबल और मन के दृढ़ संकल्प के सामने बड़ी से बड़ी विघ्न-बाधाएं चूर चूर होजाती हैं । मनोबल और दृढ़ संकल्प पाकर कृशकाय, दुर्बल व्यक्ति भी अथाह ओज, संबल और पराक्रम से युक्त होजाता है । सचमुच, मन में अमित शक्ति है, अमोघ बल है, अटूट दृढ़ता है, किन्तु वह चंचल है । जब यह चंचलता करता है तो यह सुनिर्मित भवनों को एक क्षण में ढा देता है और बने-बनाए कार्यों को निमेषमात्र में बिगाड़ देता है । इसकी चंचलता का वेग वायु के वेग के समान दुर्दमनीय है ।

श्री भगवानुवाच

२६८ 'असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।३५

'(महा-बाहो) वीर [अर्जुन] ! (अ-सम्-शयम्) निस्सन्देह, (मनः दुः-नि-ग्रहम्, चलम्) मन दुर्निग्रह [और] चंचल [है]। (कौन्तेय) कुन्तीपुत्र [अर्जुन] ! वह (अभ्यासेन च वैराग्येण तु) अभ्यास और वैराग्य से तो (गृह्यते) वशीभूत होजाता है।

कृष्ण स्वीकार करते हैं कि मन चंचल है और उसका निग्रह करना बहुत कठिन है। फिर वे यह भी कहते हैं कि अभ्यास और वैराग्य से उसका वशीकार किया जा सकता है।

अभ्यास से पूर्णता का सम्पादन होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। लेकिन वैराग्य से मन का वशीकार न होकर मन की हत्या होती है। यदि वैराग्य का अर्थ 'विवेक' हो सकता है तो ही वैराग्य मन के वशीकार में सहायक होता है। पातञ्जल योगदर्शन के अनुसार 'देखे-सुने विषयों से तृष्णारहित का वैराग्य वशीकार-नामक वैराग्य है। पुरुष-ख्याति अथ वा आत्म-विवेक से जो गुण-वैतृष्ण्य होता है उसे पर वैराग्य कहते हैं।' वास्तव में, विवेकजन्य गुण-वैतृष्ण्य का ही नाम वैराग्य है। विवेक ही है जिसके प्रकाश में तत्त्व का दर्शन करके मन चंचलता से मुक्त होता है। अभ्यास और विवेक, ये दो अमोघ साधन हैं मन के वशीकार के।

२६९ 'असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्यो ऽवाप्तुमुपायतः।'३६

'(अ-सम्-यत-आत्मना योगः दुः-प्र-आपः) अ-सं-यत आत्मा द्वारा योग दुष्प्राप्य [है]। (वशी-आत्मना यतता तु) आत्म-वशी साधक द्वारा तो (उप-अयतः) उपाय करने से [योग] (अव-आप्तुम् शक्यः) प्राप्त होना सम्भव [है]। (इति मे मतिः) ऐसी मेरी मान्यता [है]।'

मानवजीवन में कौन है जो मन को अपने वश में करेगा? मन इन्द्रियों का प्रेरक है। इन्द्रियां मन से प्रेरित हैं। प्रेरित कदापि प्रेरक का वशीकार नहीं कर सकती। जीवन में आत्मा की ही वह परम सत्ता है जो मन के ऊपर है। आत्मा ही है जो मन पर शासन कर सकता है। आत्मा ही है जो आत्मविवेक के प्रकाश में आत्मसंयम के अभ्यास से मन का वशीकार कर सकता है।

आत्मा द्वारा जो मन पर संयम अथ वा शासन करता है वह संयतात्मा है। जिसके मन पर आत्मा का संयम अथ वा शासन नहीं है वह असंयत-आत्मा है। मन पर जिसका आत्मशासन है अथ वा जो आत्मा की शक्ति से मन का

वशीकार करता है वह *वशी-आत्मा* है। *योग* शब्द का प्रयोग यहां 'मन के वशीकार' अर्थ में हुआ है।

केवल *यतता*, यत्न करनेवाले साधक के द्वारा, *उपायतः* उपाय अथ वा साधना करने से ही योग सुप्राप्य नहीं होता है। योग सुप्राप्य तभी होता है जब साधक अपने मन पर अपने आत्मा का शासन स्थापित करता है। इसी आशय को व्यक्त करते हुए यहां कहा गया है, अपने मन और इन्द्रियों पर जिसके आत्मा का शासन है उसी के द्वारा मनोयोग सम्प्राप्त किया जाता है। जिसने अपने जीवनराज्य पर आत्मा का शासन स्थापित नहीं किया है वह इस मनोयोग में सफलकाम नहीं हो सकता है।

अर्जुन उवाच

२७० **'अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।**
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ? ३७

'(कृष्ण) कृष्ण ! (अ-यतिः) अ-यति—असंयत, (श्रत्-धया उप-इतः) श्रद्धा से उपेत, (योगात् चलित-मानसः) योग से विचलित मनवाला, (योग-सम्-सिद्धिम् अ-प्राप्य) योग-सं-सिद्धि को प्राप्त न होकर, (काम् गतिम् गच्छति) किस गति को प्राप्त करता है ?

जो आत्मना अपने मन और इन्द्रियों पर शासन करता है उसकी *यति* संज्ञा है। जो ऐसा नहीं करता है वह *अयति* है।

अर्जुन का मन ठिकाने नहीं है। वह अपने मन से पराजित होरहा है। उसकी समझ में नहीं आरहा है कि प्रमाथि, चंचल मन इसी जन्म में आत्मा के वश में आ भी सकेगा वा नहीं। मन कितना दुर्जेय है ! अर्जुन जैसा वीर योद्धा भी मन से हार मान रहा है। सचमुच, मन का वशीकार, मन पर आत्मा का अनुशासन सरल कार्य नहीं है, सबसे कठिन कार्य है। अर्जुन को शङ्का होती है, उसके दुर्दान्त मन में एक प्रश्न उठ रहा है, 'यदि मैं इसी जन्म में मन का वशीकार करके योगसंसिद्ध न हो पाया तो देहावसान के बाद मेरी क्या गति होगी ?'

वह फिर प्रश्न करता है,

२७१ **'कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ?**
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ? ३८

२७२ **'एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।**
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते।' ३९

'(महा-बाहो) महा-बाहो [कृष्ण] ! (कत् चित्) यदि कोई (ब्रह्मणः पथि) ब्रह्म के पथ में, ब्रह्मप्राप्ति की साधना में, योग में (वि-मूढः) मोहित होकर

(छिन्न-अभ्रम्-इव) छिन्न-बादल की तरह (अ-प्रति-स्थः) अ-स्थिर, विचलित होकर (उभय-वि-भ्रष्टः) उभय-भ्रष्ट [होजाए तो वह] (न नश्यति) नष्ट तो नहीं होजाता, उसकी दुर्गति तो नहीं होती है ?

'(कृष्ण) कृष्ण ! (मे एतत् सम्-शयम्) मेरे इस सं-शय को (अ-शेषतः छेत्तुम् अर्हसि) सम्पूर्णतः छेदन करने को तू समर्थ है। (हि) निश्चय [ही], (अस्य सम्-शयस्य छेत्ता) इस सं-शय का छेदन करनेवाला (त्वत् अन्यः न उप-पद्यते) तुझसे भिन्न उपलब्ध नहीं है।'

उभय से तात्पर्य इस लोक और पर लोक अथ वा इस जन्म और आगामी जन्म से है।

श्रीभगवानुवाच

२७३ 'पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति।४०

'(पार्थ) पृथा-पुत्र [अर्जुन] ! (न एव इह) न तो यहां, (न अमुत्र) न वहां (तस्य वि-नाशः विद्यते) उसका वि-नाश होता है। (हि) निश्चय [ही], (तात) प्यारे ! (कः चित् कल्याण-कृत्) कोई भी कल्याण-कृत् (दुः-गतिम्) दुर्गति को (न गच्छति) नहीं प्राप्त होता है।

जो कल्याणकृत् है, जो भी कल्याणप्रद साधना करता है, जो भी ब्रह्मप्राप्ति के आत्मकल्याणी योगपथ पर चलता है, न तो उसका विनाश होता है, न ही उसकी दुर्गति होती है, न ही उसका अकल्याण होता है। यहां, इस लोक में भी और वहां, उस लोक में भी उसका तो निश्चित कल्याण ही होता है।

२७४ 'प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।४१

'(योग-भ्रष्टः) योग-भ्रष्ट (पुण्य-कृताम् लोकान् प्र-आप्य) पुण्य-कृतों के लोक को प्राप्त करके, (शाश्वतीः समाः उषित्वा) अनेक जन्मों तक [वहां] रहकर (शुचीनाम् श्रीमताम् गेहे) शुद्ध[जीवी] श्रीमानों के गृह में (अभि-जायते) जन्म लेता है।

योगपथ पर चलते हुए योगनिरत योगी के जीवन में एक ऐसी स्थिति आती है जब उसे विभूतियों की सिद्धि होती है। यदि योगी उन सिद्धियों को बाधाओं के समान लांघकर आगे बढ़ा चला जाता है तो वह ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करके स्वेच्छया समाधि अवस्था में देह का त्याग करता है और ब्रह्म में शाश्वत स्थिति प्राप्त करता है।

यदि वह विभूति-पाद [स्थिति] में विभूतियों में आसक्त होकर उनका प्रयोग करता है तो वह आगे न बढ़कर वहीं रुक जाता है। विभूतियों के प्रदर्शन

से उसका मान बढ़ता है। वह तप और संयम से पृथक् होजाता है। देहावसान पर योग और भोग, दोनों से मिश्रित संस्कार वह अपने साथ लेजाता है। ऐसे जन की संज्ञा *योगभ्रष्ट* होती है।

योगभ्रष्ट स्वभावत: पुण्यकृतों के लोकों में जन्म लेता है। *लोक* शब्द का प्रयोग यहां लोगों अथ वा कुलों के अर्थ में हुआ है। योग और भोग, दोनों से युक्त जिनके कृत्य रहते हैं उन्हें *पुण्यकृत्* अथ वा पुण्यात्मा कहते हैं। पुण्यात्मा धर्म और धन, दोनों से सम्पन्न होते हैं। योगभ्रष्ट अनेक जन्मों तक पुण्यात्माओं के कुलों में रहता है। यदि उसके योग के संस्कार प्रबल होते हैं और भोग के दुर्बल तो वह, भोग के संस्कारों का प्रक्षालन करता हुआ, अन्तत: योगयुक्त होकर योग के पथ पर आरूढ़ होजाता है।

२७५ 'अथ वा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ।४२

'(अथ वा) या वह (धीमताम् योगिनाम् कुले एव) ध्यानसिद्ध योगियों के कुल में ही (भवति) जन्मता है। (लोके) संसार में (यत् एतत् ईदृशम् जन्म) जो यह इस प्रकार का जन्म (दुः-लभ-तरम् हि) दुर्लभ-तर ही [होता है]।

देह त्यागते हुए यदि योगभ्रष्ट योगी की वृत्ति अतिशय योगमय होती है तो वह ध्यानसिद्ध योगियों के ही कुल में जन्म लेता है। इस प्रकार के जन्म की उपलब्धि बहुत साधनाशील योगी को ही होती है।

२७६ 'तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ।४३

'(कुरु-नन्दन) कुरुवंशी [अर्जुन]! वह (तत्र) वहां, उस जन्म में (तम् पौर्व-देहिकम् बुद्धि-सम्-योगम्) उस पूर्व-देहज बुद्धि-सं-योग को (लभते) प्राप्त करता है (च) और (ततः) उस [बुद्धि-संयोग] से (सम्-सिद्धौ) सं-सिद्धि में (भूयः) अधिकाधिक (यतते) यत्न—साधना करता है।

संयोग शब्द का प्रयोग यहां तार, सिलसिला अथ वा कनैक्षन अर्थ में हुआ है। जब टैलीफ़ोन का संयोग टूट जाता है तो बात-चीत का सिलसिला कट जाता है। जब पुन: संयोग जोड़ दिया जाता है तो बात-चीत का सिलसिला फिर जारी होजाता है। इसी प्रकार योगभ्रष्ट का ध्यानसिद्ध योगी के कुल में जन्म होता है तो उसे पुन: यौगिक बुद्धिसंयोग की उपलब्धि होती है और वह फिर ब्रह्माभिमुख होकर योग के विशुद्ध राजपथ पर आरूढ़ होजाता है।

२७७ 'पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ।४४

'(अ-वशः अपि सः) अ-संयमी [होता हुआ] भी वह (हि) निश्चय से (तेन पूर्व-

अभ्यासेन एव) उस पूर्व-अभ्यास से ही (ह्रियते) खींचा जाता है। (योगस्य जिज्ञासुः अपि) योग का जिज्ञासु भी (शब्द-ब्रह्म अति-वर्तते) शब्द-ब्रह्म को लांघता है।

योगभ्रष्ट *अवश* [अजितेन्द्रिय, असंयमी, भोगी] होता हुआ भी अपने योग-सम्बन्धी पूर्वजन्म के अभ्यास तथा संस्कार से प्रेरित होकर योग की ओर पुनः आकृष्ट होजाता है।

योगभ्रष्ट ही नहीं, योग का जिज्ञासु भी शब्दब्रह्म को लांघ जाता है। *ब्रह्म* शब्द का प्रयोग यहां ज्ञान अर्थ में हुआ है। योग के शब्दब्रह्म, शब्दज्ञान, शाब्दिक ज्ञान से ऊपर उठकर आगे बढ़ना ही शब्दब्रह्म का लांघना है। योग का जिज्ञासु, प्रथम, योग-सम्बन्धी शाब्दिक ज्ञान सम्पादन करता है। योग के शाब्दिक ज्ञान से योग के अभ्यास का मार्ग प्रशस्त होता है। योगाभ्यास के द्वारा योगजिज्ञासु शब्दब्रह्म को लांघकर तत्त्व की प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है।

२७८ **'प्रयत्नाद् यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिशः।**
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।४५

'(प्र-यत्नात् यतमानः) प्र-यत्न से यत्न करनेवाला (सम्-शुद्ध-किल्बिशः) सं-शुद्ध-पाप, पाप-मुक्त, निष्पाप, निर्मल (अन्-एक-जन्म-सम् सिद्धः) अनेक-जन्म-सं-सिद्ध (योगी तु) योगी तो (ततः) तत्पश्चात् (पराम् गतिम्) परा गति को (याति) प्राप्त करता है।

प्रयत्नपूर्वक यत्न [साधना] करनेवाला योगी सर्वथा निष्पाप होता हुआ अनेक जन्मों के योगाभ्यास से संसिद्धि प्राप्त करता है और तत्पश्चात् परम गति को प्राप्त करता है।

२७९ **'तपस्विभ्यो ऽधिको योगी ज्ञानिभ्यो ऽपि मतो ऽधिकः।**
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन ।४६

'(योगी तपस्विभ्यः अधिकः मतः) योगी तपस्वियों से श्रेष्ठतर माना गया [है], (ज्ञानिभ्यः अपि अधिकः) ज्ञानियों से भी श्रेष्ठतर (च) और (योगी) योगी (कर्मिभ्यः अधिकः) कर्मियों [कर्मशीलों] से श्रेष्ठतर [है]। (तस्मात्) अतः (अर्जुन) अर्जुन ! (योगी भव) योगी हो।

ज्ञान, तप और कर्म, ये तीनों सर्वधार योग के तीन अंगमात्र हैं। योग तो वह सर्वांगीण वस्तु है जो जीवन की प्रत्येक चेष्टा, गति, परिस्थिति से सम्बन्ध रखती है। योगयुक्त जीवन ज्ञान, तप और कर्म के ऊपर आसीन होता है, नीचे नहीं। ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों सहित मस्तिष्क का विषय है। तप मनःसंयम का विषय है। कर्म कर्मेन्द्रियों का विषय है। योग त्रिषय हैं

आत्मा का, जो अन्तःकरण का, ज्ञानेन्द्रियों का तथा कर्मेन्द्रियों का, सबका अधिष्ठाता है। आत्मना ब्रह्मसमाहिति में संस्थित रहते हुए ब्रह्मार्पित होकर जीवननिर्वहन करना योग है।

२८० **'योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।**
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।'४७

'(सर्वेषाम् योगिनाम् अपि) सब योगियों में से भी (यः श्रद्धावान्) जो श्रद्धावान् (मत्-गतेन अन्तः-आत्मना) मुझ-गत, मुझसे युक्त अन्तरात्मा द्वारा (माम् भजते) मुझे भजता है (सः मे युक्त-तमः मतः) वह मेरा युक्त-तम माना गया [है]।'

जैसा कि कई स्थलों पर स्पष्ट किया जा चुका है, तात्स्थ्य-स्थिति में प्रयुक्त मैं, मुझ, आदि शब्दों का तात्पर्य ब्रह्मपरक होता है।

योगियों में से भी जो श्रद्धाविशेष के साथ आत्मना ब्रह्म से अनुरक्त रहता है वह ब्रह्म से युक्ततम माना जाता है।

सातवां अध्याय

श्रीभगवानुवाच

२८१ **'मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रयः।**
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु।१

कृष्ण कहते हैं, '(पार्थ) पृथा-पुत्र [अर्जुन]! (मयि आ-सक्त-मनाः मत्-आ-श्रयः) मुझमें आ-सक्त-मन, मेरे-आ-श्रय (योगम् युञ्जन्) योग को युक्त हुआ तू (यथा माम् सम-अग्रम् अ-सम्-शयम् ज्ञास्यसि) जिस प्रकार मुझे समग्रतया [तथा] सं-शय-रहिततया जानेगा, (तत् शृणु) उसे सुन।

इस सम्पूर्ण अध्याय में कृष्ण योग की तात्स्थ्य-स्थिति में बोल रहे हैं।

जिस योगी का मन ब्रह्म में लीन है और जो योगी सम्पूर्णतया ब्रह्माश्रित है वह योगी ब्रह्म को समग्रता के साथ और संशयरहितता के साथ किस प्रकार जान पाएगा, यह इस अध्याय में बताया गया है।

२८२ **'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।**
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।२

'(अहम्) मैं (ते) तेरे प्रति, तुझसे (इदम् ज्ञानम्) इस ज्ञान को (स-वि-ज्ञानम्) स-वि-ज्ञान, तत्त्वबोधता के साथ, (अ-शेषतः) सम्पूर्णता के साथ (वक्ष्यामि)

कहूंगा, (यत् ज्ञात्वा) जिसे जानकर (इह) यहां (अन्यत् भूयः ज्ञातव्यम्) अन्य अधिक जाननेयोग्य (न अव-शिष्यते) शेष नहीं रहता है।

२८३ 'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।३

'(मनुष्याणाम् सहस्रेषु) मनुष्यों के हज़ारों में, हज़ारों मनुष्यों में से (कः चित् सिद्धये यतति) कोई ही सिद्धि के लिए यत्न करता है। (यतताम् सिद्धानाम् अपि) यत्न करनेवाले सिद्धों में भी (कः चित् माम् तत्त्वतः वेत्ति) कोई ही मुझे यथार्थतः जान पाता है।

२८४ 'भूमिरापो ऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।४

'(भूमिः) पृथिवी, (आपः) जल, (अनलः) अग्नि, (वायुः) पवन, (खम्) आकाश, (मनः) मन, (बुद्धिः एव च अहम्-कारः) बुद्धि अपि च अहं-कार, (इति अष्ट-धा इयम् भिन्ना प्र-कृतिः मे) ऐसी आठ प्रकार की यह विभिन्न प्र-कृति [है] मेरी।

प्रकृति = प्र + कृति। प्र = प्रकृष्ट, श्रेष्ठ, उत्तम। कृति = रचना।

आकाश [अवकाश], अग्नि, वायु, जल, पृथिवी, ये पंच तत्त्व हैं। मन और बुद्धि पंच तत्त्वों का अतिशय सूक्ष्म सार हैं। अहंकार नाम चेतना का है। आठ प्रकार की यह विभिन्न प्र-कृति [सु-रचना] ब्रह्म की है।

वह तत्त्व जिससे ब्रह्म की यह सुरचना ससृष्ट हुई है, परमाणुरूप है। प्रलयावस्था में परमाणु आकाश में व्यापे रहते हैं। रचनाक्रम से परमाणु ही अग्नि, वायु, जल और पृथिवी के रूप में परिणत होजाते हैं और आकाश अपने अवकाश-रूप में प्रस्थित रहता है। मनस्तत्त्व तथा बोधितत्त्व ब्राह्म चेतना से मिश्रित आकाशवत् सर्वव्यापक तत्त्व हैं। प्राणिजगत् में ये दोनों तत्त्व सहज-स्वभाव के रूप में विभिन्न मात्राओं में निहित हैं। तथापि इन दोनों तत्त्वों का पूर्ण विकास मानवजीवन में ही हुआ है। अहम् का अर्थ है मैं। कार का अर्थ है संस्कार। मैं और मेरा का जो संस्कार है वह मानवजीवन में ही पूर्णतया सुविकसित होता है। पशुजगत् में अहंकार स्वभाव के रूप में कार्य करता है। अहंकार का उद्गम मन और बुद्धि के संयोग से होता है।

२८५ 'अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।५

'(महा-बाहो) महा-शूर! (इयम् तु अ-परा) यह [मेरी अष्टधा सुरचना] तो अ-परा [प्रकृति है]। (इतः अन्याम् जीव-भूताम् प्र-कृतिम् मे पराम् विद्धि) इससे अन्य जीव-भूत प्र-कृति को मेरी परा [प्रकृति] जान, (यया इदम् जगत्

धार्यते) जिससे यह जगत् धारण किया जाता है।

जीवभूत प्रकृति से तात्पर्य है प्राणिजगत् अथ वा योनिरूप जगत् से। मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, आदि योनियों की रचना में ब्रह्म के परम कौशल की परा काष्ठा निहित है। अतः ब्रह्म की योनिरूप प्रकृति को परा प्रकृति कहा गया है।

२८६ 'एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।६

'(सर्वाणि भूतानि एतत्-योनीनि) सब भूतों को एतत्-योनि (उप-धारय) समझ। (इति) इस प्रकार (अहम् कृत्स्नस्य जगतः) मैं समस्त जगत् का (प्र-भवः तथा प्र-लयः) प्रभव तथा प्रलय [हूं]।

एतत्-योनीनि भूतानि से तात्पर्य इस अपरा और परा के मिश्रण से निर्मित जड़-चेतन रचनाओं से है।

अपरा से निर्मित पंच भूत, तथा अपरा-परा के संयोग से निर्मित समस्त योनिरूप जीवनियां, सब ब्रह्म में ही प्रादुर्भूत होती हैं और ब्रह्म में ही लीन होती हैं। उसी की सत्ता और उसी के न्याय-नियम से रचना, स्थिति और प्रलय का चक्र चल रहा है। अतः वही इस सबका प्रभव, प्रादुर्भावयिता तथा प्रलय [प्रलयकर्ता] है।

२८७ 'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणाइव ।७

'(धनम्-जय) धन-जय [अर्जुन]! (मत्तः पर-तरम् अन्यत् किम् चित् न अस्ति) मुझसे भिन्न-तर अन्य कुछ भी नहीं है। (सूत्रे मणि-गणाः-इव) सूत्र में मणियों के समान (इदम् सर्वम् मयि प्र-ओतम्) यह सब मुझमें पिरोया हुआ [है]।

जिस प्रकार माला के डोरे में मणि-मनके गुंथे रहते हैं उसी प्रकार अखिल सृष्टि ब्रह्म में ओत-प्रोत है। यह सब ब्रह्म में है और इस सबमें ब्रह्म व्यापक है। ब्रह्म से भिन्नतर अथ वा पृथक् कुछ भी नहीं है।

२८८ 'रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ।८

'(कौन्तेय) कुन्ती-पुत्र [अर्जुन]! (अहम्) मैं (अप्सु रसः) जलों में रस, (शशि-सूर्ययोः प्र-भा) चन्द्र-सूर्य में प्र-काश, (सर्व-वेदेषु प्र-नवः) सब वेदों में प्र-नव, (खे शब्दः) आकाश में शब्द, (नृषु पौरुषम्) नरों में पौरुष (अस्मि) हूं।

जलों में जो सरसता है वह ब्रह्म की है। सूर्य-चन्द्र में जो प्रकाश है वह

उसी का है। वेदों में प्रणव, प्र-नव, प्र-नवीन वही है। आकाश में ध्वनित ध्वनियां उसी के लिए शब्दायमान होरही हैं। मानवों के स्तुतिगान, पशुओं के रम्भन और पक्षियों की चहचहाहट में जो ध्वनियां ध्वनित होरही हैं उस सम्पूर्ण शब्दायमानता का लक्ष्य वह ब्रह्म ही है। नरों में जो नरत्व, पौरुष और संबल है वह सब उसी का है, उसी से है। जो पुरुष उस ब्रह्म से आत्मना जितना युक्त होजाता है, सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की उतनी ही शक्ति उसमें प्रविष्ट रहती है।

२८९ 'पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु।९

'मैं (पृथिव्याम् पुण्यः गन्धः च च वि-भा-वसौ तेजः अस्मि) मैं पृथिवी में पुण्य गन्ध [सुगन्धि] और अग्नि में तेज हूं। मैं (सर्व-भूतेषु जीवनम् च तपस्विषु तपः अस्मि) सब भूतों में जीवन और तपस्वियों में तप हूं।

पृथिवी में जो सुगन्धि है वह ब्रह्म की है। अग्नि में जो तेज है वह ब्रह्म का है। पंच भूतों में तथा प्राणियों में जो जीवन है वह ब्रह्म से ही है। तपस्वियों के तप में ब्रह्म का ही तप है। जिसमें जो गुण है और जीवन है उस सबका आदि-मूल ब्रह्म है।

२९० 'बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।१०

'(पार्थ) पृथा-पुत्र [अर्जुन]! (माम्) मुझे (सर्व-भूतानाम् सनातनम् बीजम् विद्धि) सब भूतों का सनातन बीज जान। (अहम्) मैं (बुद्धिमताम् बुद्धिः, तेजस्विनाम् तेजः अस्मि) बुद्धिमानों की बुद्धि [और] तेजस्वियों का तेज हूं।

ब्रह्म सब भूतों का सनातन बीज है, बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज है। ब्रह्म में सबकी सत्ता निहित होने से और उसी में सब चेष्टाओं और गतियों के होने से सब कुछ वही है।

२९१ 'बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।११

'(भरत-ऋषभ) भरत-श्रेष्ठ [अर्जुन]! (अहम्) मैं (बलवताम् काम-राग-वि-वर्जितम् बलम्) बलवानों का काम-राग-रहित बल (च) तथा (भूतेषु) प्राणियों में (धर्म-अ-वि-रुद्धः कामः) धर्मानुकूल काम (अस्मि) हूं।

बलवानों का काम और अ-सक्ति से मुक्त विशुद्ध बल ब्रह्म का है। प्राणियों में जो धर्मविहित काम का संस्कार है वह उसी के नियमानुसार है।

बल दो प्रकार का होता है, ब्राह्म बल तथा आसुरी बल। ब्राह्म बल काम और राग से सर्वथा मुक्त होता है, जब कि आसुरी बल काम और राग

से युक्त होता है। एवमेव, काम भी दो प्रकार का होता है, धर्म्य तथा अधर्म्य। पवित्र और संयत दाम्पत्य द्वारा सेवित काम ब्राह्म काम है, तद्विपरीत आसुरी।

२९२ **'ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।**
मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि।१२

'(च एव ये सात्त्विकाः भावाः) अपि च जो सात्त्विक भाव [हैं], (च ये राजसाः तामसाः) और जो राजस, तामस [हैं] (तान् 'मत्तः एव') उन्हें 'मुझसे ही,' (इति विद्धि) ऐसा जान, (तु) कि (अहम् तेषु, ते मयि न) मैं उनमें [और] वे मुझमें नहीं [हैं]।

यह संसार त्रिगुणात्मक है। प्रत्येक पदार्थ और योनि में सत्, रज, तम, इन तीनों गुणों का भाव अथ वा प्रभाव है। सत्प्रधान जो कुछ है वह सब सात्त्विक है। रजःप्रधान जो कुछ है वह सब राजस है। तमःप्रधान जो कुछ है वह सब तामस है।

तीन गुण षडंश रूप से प्रत्येक पदार्थ और प्रत्येक योनि में निहित होते हैं। सात्त्विकों में तीन अंश सत्, दो अंश रज, और एक अंश तम होता है। राजसों में तीन अंश रज, दो अंश सत् और एक अंश तम होता है। तामसों में तीन अंश तम, दो अंश रज और एक अंश सत् होता है।

त्रिगुणात्मक सृष्टि ब्रह्मकृत होने से, तीनों गुण भी ब्रह्मकृत अथ वा ब्रह्म से ही हैं। त्रिगुणों से भावित समस्त सत्ताएं ब्रह्म से हैं किन्तु त्रिगुणात्मक वे सब भाव-प्रभाव ब्रह्म में नहीं हैं, न ब्रह्म उनमें है। ब्रह्म की सत्ता भावों, अभावों और प्रभावों से सर्वतः मुक्त और सर्वथा स्वतन्त्र है।

२९३ **'त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।**
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्।१३

'(एभिः त्रिभिः गुण-मयैः भावैः) इन तीन गुणमय भावों से (इदम् सर्वम् जगत् मोहितम्) यह सारा जगत् मोहित [है]। (एभ्यः परम्) इनसे परे (माम् अ-वि-अयम्) मुझ अ-वि-नाशी को [यह जगत्] (न अभि-जानाति) सर्वतः नहीं जानता है।

सत्, रज, तम, तीनों ही गुण भावात्मक अथ वा सतत प्रभावात्मक हैं। यह संसार और इस संसार का प्रत्येक प्राणी तथा पदार्थ तीन गुणों का एक महासागर है जिसके दो किनारे हैं। एक किनारे पर सत् है, दूसरे पर तम। दोनों के मध्य में है रज। जब सत् की ओर से तरङ्गें उठती हैं तो रज को प्रभावित और पार करती हुई रज के प्रभावों को साथ लेती हुई तम को प्रभावित करती हैं। जब तम की ओर से तरङ्गें उठती हैं तो

रज को आच्छादित और प्रभावित करती हुई और रजोमिश्रित प्रभावों को साथ लेती हुई सत् को उत्तेजित करतीं हैं। इन त्रिगुणात्मक तरङ्गों के प्रभाव से ही मानवजीवन में देवासुर-संग्राम चलता रहता है। जब सत् की तरङ्गें प्रभावित कररही होती हैं तो मनुष्य देवत्व को प्राप्त होरहा होता है। जब तम की तरंगें प्रभावित कररही होती हैं तो मनुष्य असुरत्व को प्राप्त होरहा होता है। तम की तरंगें ही हैं जो सन्तों को भी गिरा देती हैं। सत् की तरंगें ही हैं जो पापियों को सन्त बना देती हैं।

तीनगुणमय भावों, प्रभावों अथ वा तरङ्गों में झूलता हुआ संसार विनश्वर व्यासंगों में इतना मोहित रहता है कि वह अविनाशी ब्रह्म को भूला रहता है।

२६४ 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।१४

'(मम एषा गुण-मयी माया) मेरी यह गुणमयी माया, (हि) निश्चय से, (दैवी) लुभावनी [तथा] (दुः-अति-अया) दुस्तर [है]। (ये माम् प्र-पद्यन्ते) जो मुझे अवलम्बते हैं (ते एव एताम् मायाम् तरन्ति) वे ही इस माया को तरते हैं।

प्रभु की यह गुणमयी माया बड़ी ही दैवी है, बड़ी चमकीली और आकर्षक है। यह माया जादुई है। यह छलनेवाली है। यह है कुछ और, और दिखाई देती है कुछ और। काम और कनक का रूप धारण करके यह माया बड़े बड़ों को डिगा देती है। माया को वेद ने *हिरण्मय* [चमकीला] पात्र कहा है। *हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्,* चमकीले पात्र से सत्य का, सत्यस्वरूप ब्रह्म का मुख ओझल होरहा है। वेद ने जिसे *हिरण्मय पात्र* कहा है, *गीता* ने उसी को *दैवी माया* कहा है। माया के तीनों ही गुण डुबाने वाले हैं। उबारनेवाला तो केवल एक ब्रह्म है। त्रिगुणात्मक शरीर में निवास करता हुआ जो साधक सर्वात्मना स्वयं मायापति को अपना एकमात्र अवलम्ब बना लेते हैं वे ही मायारूप महासागर को पार कर पाते हैं।

२६५ 'न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः।१५

'(दुः-कृतिनः) दुष्कर्मा (मूढाः) मूढ (मायया अप-हृत-ज्ञानाः) माया से अप-हृत-ज्ञान (आसुरम् भावम् आ-श्रिताः) आसुरी भाव को आ-श्रय किए हुए (नर-अधमाः) अधम नर (माम् न प्र-पद्यन्ते) मुझे नहीं सेवते हैं।

मूढ़ता [अविवेक] ही है जो प्रभुभक्ति तथा ब्रह्मप्राप्ति में बाधक है। मूढ़ता ही सकल अनिष्टों की जननी है। मूढ़ता के कारण ही मनुष्य दुष्कर्म करता है। मूढ़ता ही है जो मनुष्य के ज्ञान का अपहरण करके उसे माया

से मूर्छित करती है। मूढ़ता ही है जो मनुष्य को आसुरी भाव से भावित करके उसे अधमता के गर्त में गिराती है। सारी भूलों और सारे पापों का मूल यह मूढ़ता ही है। मूढ़ता के प्रविष्ट होते ही धर्म और आस्तिकता दूर भाग जाते हैं।

२६६ 'चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।१६

'(भरत-ऋषभ अर्जुन) भरत-कुलश्रेष्ठ अर्जुन ! (माम् चतुः-विधाः सु-कृतिनः जनाः) मुझे चार प्रकार के सु-कर्मा जन (भजन्ते) भजते हैं—(आर्त्तः, जिज्ञासुः, अर्थ-अर्थी च ज्ञानी) दुःखी, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी।

संसार में बहुत अधिक संख्या ऐसे लोगों की है जो दुःख में प्रभु का स्मरण करते हैं और दुःख दूर होते ही प्रभु को भूल जाते हैं। इस प्रकार के आर्त भक्त निम्न कोटि के भक्त हैं।

आर्त भक्त से कुछ अच्छे हैं अर्थार्थी [ग़रज़मन्द] भक्त। ये बिना मतलब भगवान् से बात नहीं करते हैं। सांसारिक जीवन में कुछ न कुछ आवश्यकताएं बनी ही रहती हैं। कभी यह चाहिए, कभी वह चाहिए। अर्थार्थी भक्त आवश्यकतानुसार प्रभु का स्मरण करते रहते हैं।

जिज्ञासु भक्त जिज्ञासा भाव से प्रभु की भक्ति करते हैं। कौन है और कैसा है वह जिसने यह संसार बनाया है; किसने बनाया, कैसे बनाया, किसलिए बनाया इस प्रकार की जिज्ञासा करनेवाला जिज्ञासु भक्त गवेषणात्मक वृत्ति से प्रभु की निष्काम भक्ति करता है।

जिज्ञासा ज्ञान की प्रेरिका है। जिज्ञासा से ही ज्ञान का विकास होता है। जिज्ञासु की भक्ति का आरम्भ जिज्ञासा से होता है, और यदि उसकी साधना में सातत्य बना रहे तो उसकी जिज्ञासा का अन्त ज्ञानोदय में होता है। जिस प्रकार सूर्योदय से अन्धकार का लोप होता है और अन्धकार के लोप होने से सब कुछ यथार्थ रूप से दिखाई देता है उसी प्रकार ज्ञानोदय से माया का आवरण हट जाता है और ज्ञानी माया से मुक्त होकर आत्मना ब्रह्म से युक्त रहता है।

आर्त तथा अर्थार्थी भक्त उन नास्तिकों से कहीं श्रेष्ठ हैं जो आपत्ति और आवश्यकता में भी भगवान् का स्मरण नहीं करते हैं। जिज्ञासु इन दोनों प्रकार के भक्तों से कहीं अधिक श्रेष्ठ है। यदि वह अपनी साधना में रत रहता है तो अन्ततः आवरणरहित ज्ञान का सम्पादन करता है। ऐसा ज्ञानी स्वतः सदा ही ब्रह्मयुक्त और ब्रह्मनिष्ठ रहता है।

२९७ 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनो ऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।१७

'(तेषाम्) उन [चारों प्रकार के भक्तों] में से (नित्य-युक्तः, एक-भक्तिः ज्ञानी) सदा-युक्त [और] एक-भक्ति ज्ञानी (वि-शिष्यते) बढ़कर है । (हि) निस्सन्देह, (ज्ञानिनः अहम् अति-अर्थम् प्रियः) ज्ञानी का मैं अतिशय प्रिय [हूं] (च) और (सः मम प्रियः) वह मेरा प्रिय ।

ज्ञानी ही है जो सदा सर्वभावेन ब्रह्म से युक्त रहता है और अपनी सम्पूर्ण निष्ठा के साथ एकमात्र ब्रह्म की भक्ति करता है । भाव और निष्ठा भक्त को भगवान् के प्रगाढ़ प्रेम में सर्वतः नियुक्त रखती हैं । ऐसे भक्त के प्रति भगवान् भी स्वयं प्रेमबद्ध रहते हैं ।

२९८ 'उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ।१८

'(एते सर्वे एव उत्-आराः) ये सब ही उदार [उत्+आर=उत्कृष्ट गतिवाले] [हैं] । (ज्ञानी तु मे आत्मा एव [इति मे] मतम्) ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही माना गया [है] । (सः युक्त-आत्मा हि) वह युक्तात्मा [ज्ञानी] ही (माम् अन्-उत्-तमाम् गतिम् एव) मुझ अतिशयोत्तम [परम] गति के प्रति ही (आ-स्थितः) सर्वतः स्थित [है] ।

आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी, चारों ही प्रकार के भक्त अच्छे हैं । किन्तु इनमें से ज्ञानी सर्वातिशय उत्तम है क्यों कि वह आत्मना ब्रह्म से सतत युक्त रहता है ।

आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी, तीनों प्रकार के भक्त प्रभु के प्रेमी तो हैं पर ज्ञानचक्षु के अभाव में अन्धे हैं । वे मानते तो हैं कि परमेश्वर है पर वह उन्हें भासता नहीं है । अत एव वे उससे आत्मयुक्त नहीं रह पाते हैं । ज्ञानी का ज्ञाननेत्र सदैव खुला रहता है । ज्ञानी अपने ज्ञाननेत्र से ब्रह्म का संदर्शन करता हुआ उससे अनवरत आत्मयुक्त रहता है । ज्ञाननेत्र ही त्र्यम्बक का वह तृतीय नेत्र है जिससे सबमें ब्रह्म भासता है । इस तृतीय नेत्र से युक्त ज्ञानी भक्त का आत्मा सदा समाहित रहने से ब्रह्म का आत्मा माना जाता है । ऐसा आत्मा प्रत्यक्षतः ब्राह्म गति अथ वा ब्राह्म स्थिति को प्राप्त रहता है । यह गति परम गति है । यह स्थिति परम स्थिति है ।

२९९ 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।१९

'(ज्ञानवान्) ज्ञानी (बहूनाम् जन्मनाम् अन्ते) बहुत जन्मों के अन्त में (माम् प्र-पद्यते) मुझे प्राप्त होता है । (सर्वम् वासु-देवः) सब वासु-देव [है],

(इति) ऐसा [वह अनुभव करता है]। (सः महात्मा सु-दुः-लभः) वह महात्मा सु-दुर्लभ [है]।

ज्ञान की प्राप्ति यों ही सहजतया नहीं हो जाती है। जन्म-जन्मान्तर आत्मसाधना करते हुए बहुत जन्मों के अन्त में साधक को उस ज्ञान की उपलब्धि होती है जिसके आलोक में वह साक्षात् ब्रह्म को प्राप्त करता है और सबमें, सर्वत्र वासुदेव का दर्शन करता हुआ सबको वासुदेवरूप देखता है। यह सब वासुदेव ही है, वह ऐसा अनुभव करता है। ऐसी स्थिति को प्राप्त करना साधारण आत्मा का काम नहीं है। यह तो असाधारण साधनाशील आत्मा का काम है। ऐसी स्थिति को प्राप्त करना बहुत दुर्लभ [कठिन] है।

वासु शब्द का जन्म जिस धातु से हुआ है वह है वसु, जिसका अर्थ है स्तम्भे, रोकना, सहारना, वश में करना। वासुदेव का अर्थ है वह देव जो सबको सहारे हुए है, वह परमात्मदेव जो अपनी सर्वव्याप्ति से अखिल सृष्टि को वश में किए हुए है। वासुदेव का अर्थ है सर्ववशयिता पर ब्रह्म।

३०० 'कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ।२०

'(हृत-ज्ञानाः) अपहृत-ज्ञान, अ-ज्ञानी [जन] (स्वया प्र-कृत्या नि-यताः) स्व प्रकृति से नियत [होकर] (तैः तैः कामैः) उन उन कामनाओं के साथ (तम् तम् नि-यमम् आ-स्थाय) उस उस नि-यम को आ-स्थित होकर, उस उस नियम के प्रति आ-स्थावान् होकर (अन्य-देवताः प्र-पद्यन्ते) भिन्न भिन्न देवताओं को प्राप्त होते हैं।

ज्ञानी जन एक सर्ववशी पर ब्रह्म को ही उपासते हैं। अज्ञानी जन अपनी अपनी प्रकृति और कल्पना के अनुसार भिन्न भिन्न काल्पनिक देवताओं का निर्माण करते हैं, उनकी पूजा के काल्पनिक नियम बनाते हैं और उसी प्रकार उनकी मान्यता तथा उनका पूजन करते हैं।

बाईबिल का कहना है कि भगवान् ने निजाकृति से मनुष्य को आकृत किया। किन्तु वास्तविकता यह है कि अज्ञानियों ने अपनी अपनी अज्ञानजन्य आस्था में आस्थित होकर अपनी अपनी कल्पना के अनुसार भगवान् को आकृत किया।

सूअरों से आतंकित हुओं ने भगवान् को वराहरूप बना डाला और वराहावतार के रूप में उसकी पूजा करने लगे। एवमेव, किसी ने भगवान् को मत्स्यावतार बनाया, तो किसी ने सिंहावतार। मांसाहारियों और शराबियों ने अपनी प्रकृति के अनुसार एक ऐसी देवी का निर्माण कर लिया जिसे मांस

ग्रौर शराब की बलि दी जाती है। वीरों के पराक्रमों से स्तब्ध होकर ग्रज्ञानियों ने मनुष्यों को भगवान् बना दिया। प्राकृत देवताग्रों की शक्ति से पराभूत होकर लोगों ने उनकी पूजा की विधियां निर्मित कीं।

तेजःकामी सूर्य से तेज की कामना करने लगे। मेघकामी इन्द्र की ग्राराधना करने लगे। धनकामी मघवा की उपासना करने लगे। मांस ग्रौर शराव की कामना करनेवालों ने काली देवी गढ़ डाली। ग्रपनी ग्रपनी ग्रज्ञानपूर्ण प्रकृति, ग्रास्था ग्रौर ग्रावश्यकता के ग्रनुरूप ग्रसंख्य देव-देवियों की रचना ग्रज्ञानियों ने ग्रन्ध कल्पनाग्रों के ग्राश्रय से की है। सत्य केवल एक वासुदेव है, सर्ववशयिता पर ब्रह्म है।

पूर्व-श्लोक में तथा इस श्लोक में एक ग्रद्भुत तुलनात्मक विवेचन है—

१) ज्ञानी जन केवल एक वासुदेव को प्राप्त रहते हैं ग्रौर उसी की उपासना करते हैं।

२) ग्रज्ञानी जन नाना देवताग्रों की कल्पना करते हैं, ग्रपनी ग्रपनी कल्पनाग्रों के ग्रनुसार देवताग्रों की ग्राकृति ग्राकृत करते हैं, उनके प्रति ग्रपनी ग्रास्था प्रस्थापित करते हैं, ग्रास्थानुसार उनकी उपासना के नियम बनाते हैं। कामनाग्रों की सिद्धि के लिए वे तद्वत् उनका पूजन करते हैं।

३०१ **'यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।**
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।२१

'(यः यः भक्तः) जो जो भक्त (याम् याम् तनुम्) जिस जिस आकृति को (श्रत्-धया ग्रर्चितुम् इच्छति) श्रद्धापूर्वक पूजना चाहता है, (तस्य तस्य ताम् श्रत्-धाम् एव) उस उस की उस श्रद्धा को ही (अहम् ग्र-चलाम् विदधामि) मैं अ-चल कर देता हूं।

प्रकर्ता का यह प्राकृत नियम है कि जो जिसके प्रति श्रद्धावान् होजाता है उसी के प्रति उसकी श्रद्धा घनीभूत होती चली जाती है।

श्रद्धा दो प्रकार की होती है, एक, ज्ञानी की, दूसरी, ग्रज्ञानी की। ज्ञानी की श्रद्धा ब्रह्म के सत्य स्वरूप में स्थित होती है। ग्रज्ञानी की श्रद्धा कल्पित देव-देवियों में निहित होती है।

श्रद्धा देवी का यह स्वभाव है कि वह जिससे भी चिमट जाती है उससे फिर छुटाए नहीं छुटती है। ज्ञानी ग्रौर ग्रज्ञानी, दोनों की ही श्रद्धा ग्रपने ग्रपने देव के प्रति ग्रचल—ध्रुव होती है। श्रद्धा विचलित नहीं होती है। ज्ञानी की श्रद्धा सत्य श्रद्धा होती है तो ग्रज्ञानी की श्रद्धा ग्रन्ध श्रद्धा। ग्रौर ग्रन्ध श्रद्धा प्रायः सत्य श्रद्धा की ग्रपेक्षा कहीं ग्रचल होती है।

३०२ 'स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान् मयव विहितान् हि तान् ।२२

'(सः तया श्रत्-धया युक्तः) वह उस श्रद्धा से युक्त [होकर] (तस्य आ-राधनम् ईहते) उसका आ-राधन करता है (च) और (ततः) तत्पश्चात्, कालान्तर में (तान् वि-हितान् कामान्) उन वि-हित कामनाओं को (मया एव हि लभते) मेरे द्वारा ही प्राप्त करता है ।

पूर्व-श्लोकानुसार जो भक्त जिस कल्पित देवता की उपासना करता है उसी देवता में उसकी श्रद्धा ठहर जाती है । उससे आगे यहां कहा जारहा है कि वह भक्त उस श्रद्धा से युक्त होकर उस कल्पित देवता की आराधना करता है । तत्पश्चात् समयानुसार उसकी जो विहित कामनाएं पूरी होती हैं वे सब परमात्मा द्वारा परमात्मा की न्याय-व्यवस्था से सिद्ध होती हैं । किन्तु अन्ध श्रद्धा से उपेत श्रद्धालु भक्त समझता यह है कि उसकी कामनाएं उस कल्पित देवता द्वारा पूरी हुई हैं ।

अन्ध श्रद्धा के वशीभूत हुए कल्पित देवताओं की उपासना करनेवाले की ही नहीं, परमात्मा तो नास्तिकों तथा अधार्मिकों तक की विहित कामनाएं पूरी करता है । परमात्मा न्यायशील है । वह किसी की मज़दूरी नहीं मारता है । परमात्मा तो परमात्मा, एक न्यायशील व्यक्ति भी किसी की मज़दूरी नहीं मारता है । मज़दूर न आपको जानता-पहचानता है, न आपको सलाम करता है । कुछ पैसे पाने की विहित अभिलाषा से वह आपका काम करता है । काम पूरा होजाने पर आप उसे पूरी मज़दूरी देते हैं । कोई काम आपका करे और सलाम दूसरे को करे, तो भी आप उसकी पूरी मज़दूरी दे देते हैं । वैसे ही, कल्पित देवताओं की उपासना करनेवालों की विहित [कर्मफलाश्रित] कामनाओं को परमात्मा ही पूरी करता है, यद्यपि अन्धविश्वासी समझता यह है कि उसके कल्पित देवता ने उसकी कामना पूरी की है ।

३०३ 'अन्तवत् तु फलं तेषां तद् भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ।२३

'(तेषाम् अल्प-मेधसाम्) उन अल्प-बुद्धियों का (तत् फलम् तु अन्त-वत् भवति) वह फल तो अन्त-वत् होता है । (देव-यजः देवान् यान्ति) देव-याजी देवों को प्राप्त होते हैं । (मत्-भक्ताः माम् अपि यान्ति) मेरे भक्त मुझे ही प्राप्त करते हैं ।

अन्तवत् के दो अर्थ हैं, सीमित तथा अन्त-जैसा—न हुए के बराबर । कल्पित देवताओं की आराधना का फल स्वभावतः अन्तवत् [अतिशय सीमित] होता है । कल्पित देवता स्वयं नहीं के बराबर हैं । फिर उनकी उपासना का

फल ही क्या होना है।

एक अन्य कोटि के भक्त हैं जो प्राकृत देवों को दिव्य गुणों का प्रतीक मानकर उसकी उपासना करते हैं। वे उन देवों के दिव्य गुणों को प्राप्त करके वहां के वहीं रह जाते हैं।

अकाय, अजन्मा, अजर, अमर, एकरूप, कूटस्थ पर ब्रह्म के उपासक भक्त ही हैं जो ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करके अनन्त-फल ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करते हैं।

जो जैसे देव की उपासना करता है वह वैसा ही और उतना ही फल पाता है।

३०४ 'अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ।२४

'(मम) मेरे (अ-वि-अयम् अन्-उत्-तमम् परम् भावम् अ-जानन्तः) अ-वि-नाशी, अनुत्तम, पर अस्तित्व को न जानते हुए, (अ-बुद्धयः) बुद्धि-शून्य [जन] (माम् अ-वि-अक्तम्) मुझ अ-व्यक्त को (वि-अक्तिम् आ-पन्नम्) व्यक्तित्व को प्राप्त हुआ (मन्यन्ते) मानते हैं।

ज्ञानेन्द्रियों से जिसकी प्रतीति होती है उसे 'व्यक्त' कहते हैं। ज्ञानेन्द्रियों से जिसकी प्रतीति असम्भव है उसे *अव्यक्त* कहते हैं। व्यक्त वस्तु वा पदार्थ का भाव है *व्यक्ति।* अव्यक्त सत्ता का भाव है अव्यक्ति। व्यक्ति संयोग से बनती है और वियोग से नष्ट होती है। अव्यक्ति न संयोग से बनती है, न वियोग से नष्ट होती है। व्यक्ति व्यय [विनाशी] होती है। अव्यक्ति अव्यय [अविनाशी] होती है। व्यय अपेक्षाकृत उत्तम हो सकता है। किन्तु अव्यय की उत्तमता अनुत्तम [अनुपमेय] है। उत्तम की सत्ता सापेक्ष होती है। अनुत्तम की सत्ता पर *भाव* [परम अस्तित्व] से भावित होती है।

ब्रह्म व्यक्त नहीं है, अव्यक्त है। पंच भूतों से निर्मित व्यक्तित्व का ही ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों से होता है। ब्रह्म अभौतिक है। अतः न उसका व्यक्तित्व है, न इन्द्रियों से उसका ज्ञान होता है। वह तो अव्यक्त, अव्यय आत्मा द्वारा ही साक्षात्कृत होता है। वह ज्ञानियों द्वारा ज्ञानचक्षु से ही देखा जाता है।

निर्बुद्धि जन उस अविनाशी, अनुपम, अव्यक्त, सर्वोपरि सत्ता को, उस अव्यय, अनुत्तम, अतीन्द्रिय ब्रह्म को व्यक्तित्व-प्राप्त व्यक्त सत्ता समझते हैं। अव्यक्त कभी व्यक्तित्व को प्राप्त नहीं होता है। ससीम सान्त वस्तुएं ही व्यक्तित्व को धारण करती हैं। जो अनन्त और असीम है वह व्यक्तित्व को प्राप्त हो ही नहीं सकता।

सरल शब्दों में, *व्यक्ति* का अर्थ है साकार- अथ वा मूर्त-भाव। 'अव्यक्ति' का अर्थ है निराकार अथ वा अमूर्त-भाव। साकार वा मूर्त सत्ता तत्त्वों के संयोग

से अस्तित्व में आती है और उनके वियोग से तत्त्वों में लीन हो जाती है। ब्रह्म निराकार और अमूर्त है। वह संयोग से सत्तायुक्त नहीं हुआ है। अतः उसमें वियोग और विलीनता का प्रश्न ही नहीं उठता है।

इस श्लोक में अबुद्धि [मूर्ख] तथा सुबुद्धि [ज्ञानी] का भेद भी बता दिया गया है। जो लोग ब्रह्म को व्यक्त, भौतिक शरीर धारण करनेवाला, जन्म लेनेवाला मानते हैं वे अबुद्धि हैं। जो उसे अविनाशी, अनुपमेय, अव्यक्ति, जन्म-मरण से मुक्त, अव्यक्त मानते हैं वे ज्ञानी हैं।

३०५ 'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढो ऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ।२५

'(न अहम् प्र-काशः सर्वस्य) नहीं [हूं] मैं प्र-काश सबका। (योग-माया-सम्-आ-वृतः अयम् मूढः लोकः) योग-माया से आ-च्छन्न हुआ यह मूढ़ संसार (माम् अ-जम् अ-वि-अयम् न अभि-जानाति) मुझ अ-जन्मा अ-वि-नाशी को सर्वतः नहीं जानता है।

यहां दो वाक्य हैं जो परस्पर विपरीत प्रतीत होते हैं—

१) मैं सर्व का, इस सबका, इस अखिल विश्व का प्रकाश नहीं हूं।

२) योगमाया से आच्छन्न हुआ यह मूढ़ जगत् मुझ अज, अविनाशी को सर्वतः नहीं जानता है।

इन दो वाक्यों को अधिक स्पष्टता के साथ यों लिखा जा सकता है—

१) सबका, इस सारी सृष्टि का प्रकाश अथ वा प्रकाशक मैं नहीं हूं, अपि तु अजन्मा अविनाशी परमात्मा है। [मैं जन्मने और शरीर धारण करनेवाला हूं, अपने अनेक जन्मों का हाल मुझे ज्ञात है, ऐसा स्वयं कृष्ण ने *गीता* में ही कहा है।]

२) योगमाया से आवृत हुआ यह मूढ़ मानवसमूह मुझे ही इस सारी सृष्टि का प्रकाशक मान रहा है और उस अजन्मा, अविनाशी परमात्मा को नहीं जानता है।

योगमाया शब्द का अर्थ है माया-योग, मिथ्या ज्ञान। इस शब्द का प्रयोग यहां जड़ता, अज्ञान, भ्रम, भ्रान्ति अर्थ में हुआ है।

प्रथम वाक्य में अहम् [मैं] शब्द का प्रयोग कृष्ण ने स्वयं अपने व्यक्तित्व के लिए किया है, और दूसरे वाक्य में *माम्* शब्द का प्रयोग तात्स्थ्य-स्थिति में पर ब्रह्म के लिए हुआ है।

यहां कृष्ण अपने आपको जन्मा, और अविनाशी ब्रह्म को अजन्मा बता रहे हैं। सम्भवतः कृष्ण के जीवनकाल में ही लोक [लोग] उन्हें परमात्मा मानने लगे थे। उस मान्यता के स्पष्ट निराकरण में यह श्लोक है।

३०६ 'वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन।२६

'(अर्जुन) अर्जुन ! (सम्-अति-इतानि च वर्तमानानि च भविष्याणि भूतानि) भूत और वर्तमान और भावी भूतों [सृष्टियों, सत्ताओं] को (अहम् वेद) मैं जानता हूं, (तु माम् कः चन न वेद) किन्तु मुझे कोई भी नहीं जानता है।

ब्रह्म सर्वज्ञ है। वह भूत और वर्तमान के सब भूतों को जानता है और भविष्य में होनेवालों को भी वह जानेगा। भौतिक-अभौतिक, प्राणी-अप्राणी, अखिल भूत मायायोग से मूर्छित होने के कारण ब्रह्म को नहीं जानते हैं। ब्रह्म भूतमात्र को जानता है किन्तु भौतिक विज्ञान ब्रह्म को नहीं जानता है।

३०७ 'इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप।२७

'(परम्-तप भारत) परम तपस्वी ! भरतवंशी [अर्जुन] ! (सर्गे) संसार में (इच्छा-द्वेष-सम्-उत्थेन द्वन्द्व-मोहेन) इच्छा-द्वेष से समुत्पन्न द्वन्द्व-मोह से (सर्व-भूतानि) सब प्राणी (सम्-मोहम् यान्ति) सं-मोह को प्राप्त होरहे हैं।

सुख-दुःख, हानि-लाभ, हर्ष-शोक, जय-पराजय, ममता-परता, सफलता-विफलता, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, यह सब द्वन्द्व का पसारा है। प्रत्यक्षतः सकल प्राणी इच्छा और द्वेष से उत्पन्न हुए द्वन्द्व के मोह से सम्मोहित होरहे हैं। सभी प्राणी मोह की द्विधामयी माया से आत्मविस्मृत हैं।

३०८ 'येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः।२८

'(येषाम् पुण्य-कर्मणाम् जनानाम्) जिन पुण्य-कर्मा जनों का (तु) तो (पापम् अन्त-गतम्) पाप समाप्त हो गया [है] (ते द्वन्द्व-मोह-निः-मुक्ताः दृढ-व्रताः) वे द्वन्द्व-मोह से निर्मुक्त दृढ़-व्रत (माम् भजन्ते) मुझे भजते हैं।

द्वन्द्व-मोह से मोहित सकल प्राणियों में से केवल वे जन जो दृढ़ता के साथ व्रतपूर्वक पुण्य कर्म और पुण्य साधना करते हैं द्वन्द्व-मोह से मुक्त होकर पर ब्रह्म की उपासना करते हैं।

३०९ 'जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद् विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।२९

'(जरा-मरण-मोक्षाय) जरा-मरण से मुक्त होने के लिए (ये माम् आ-श्रित्य) जो मुझे आ-श्रय करके (यतन्ति) साधना करते हैं (ते) वे (तत् ब्रह्म) उस तत्त्वज्ञान को, (कृत्स्नम् अधि-आत्मम्) सम्पूर्ण अधि-आत्म को (च) और (अ-खिलम् कर्म) अ-खिल कर्म को (विदुः) जानते हैं।

पर ब्रह्म की उपासना करनेवालों में से भी जो जन जरा-मृत्यु अथ वा जन्म-मरण से मुक्त होकर ब्रह्मनिर्वाण की प्राप्ति के लिए साधना करते हैं वे ही उस तत्त्वज्ञान को प्राप्त हो पाते हैं जिसमें सम्पूर्ण आध्यात्मिकता निहित है और जिसमें अखिल कर्मशीलता निहित है।

३१० **'साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।**
प्रयाणकाले ऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः।'३०

'(ये माम् स-अधि-भूत-अधि-दैवम् च स-अधि-यज्ञम् विदुः) जो मुझ साधि-भूत, साधि-दैव तथा साधि-यज्ञ को जानते हैं (ते युक्त-चेतसः) वे समाहित-चित्त [योगी] (प्र-यान-काले अपि) प्र-याण-काल में भी (माम् च विदुः) मुझे ही जानते हैं, मुझे ही स्मरते हैं, मुझमें ही समाहित होते हैं।'

साधिभूत का अर्थ है आधिभौतिक, भूतमात्र में, प्राणिमात्र में व्यापक। *साधिदैव* का अर्थ है आधिदैविक, अखिल प्राकृत देवों में व्यापक। *साधियज्ञ* का अर्थ है आत्मा आत्मा से संगत।

मोक्षार्थ यत्न अथ वा साधना करनेवाले, समाहित-चित्त योगी जीते-जी प्राणिमात्र में, प्राकृतिकमात्र में, आत्मा आत्मा में ब्रह्म की संव्याप्ति की साक्षात् अनुभूति से अनुभूत रहते हैं। वे जब शरीर छोड़ रहे होते हैं तब भी केवल ब्रह्म की साक्षात् अनुभूति से अनुभूत हुए यहां से प्रयाण करते हैं।

आठवां अध्याय

अर्जुन उवाच

३११ **'किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।**
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते।१

अर्जुन ने पूछा, '(पुरुष-उत्-तम) नर-श्रेष्ठ! (तत् ब्रह्म किम्, किम् अधि-आत्मम्, किम् कर्म) वह ब्रह्म क्या [है], क्या अध्यात्म [है], क्या कर्म [है]? (च) और (अधि-भूतम् किम् प्र-उक्तम्) अधि-भूत किसे कहा गया [है]? (अधि-दैवम् किम् उच्यते) अधि-दैव क्या कहाता है?

३१२ **'अधियज्ञः कथं को ऽत्र देहे ऽस्मिन् मधुसूदन।**
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयो ऽसि नियतात्मभिः।'२

'(मधु-सूदन) मधु-सूदन [कृष्ण]! (अत्र, अस्मिन् देहे) यहां, इस देह में (अधि-यज्ञः कथम् कः) अधि-यज्ञ कैसे कौन [है]? (च) और (प्र-यान-काले) प्र-याण-

काल में, देहत्याग के समय (नि-यत-आत्मभिः) आत्म-समाहितों द्वारा [तू] (कथम् ज्ञेयः) किस प्रकार जानने-योग्य (असि) है।'

इन श्लोकों में अर्जुन द्वारा किए गए प्रश्न सातवें अध्याय के अन्तिम श्लोक पर आधारित हैं। उनके उत्तर यहां इस अध्याय में मिलेंगे। *पुरुषोत्तम* और *मधुसूदन*, ये दो सम्बोधन हैं जो यहां विचारणीय हैं।

पुरुषोत्तम=पुरुष-उत्तम, उत्तम-पुरुष, उत्-तम पुरुष। *उत्* का अर्थ है उत्कृष्ट, उच्च। *तम* का अर्थ है सर्वाधिक, सबसे अधिक, अतिशय। *पुरुषोत्तम* का अर्थ हुआ अतिशय श्रेष्ठ पुरुष। अर्जुन का कृष्ण के प्रति यह सम्बोधन अर्थपूर्ण है। कृष्ण पुरुष नहीं, उत्तम पुरुष थे, पुरुषसमाज के मूर्धन्य थे। कृष्ण साधारण पुरुष नहीं थे, पुरुषोत्तम थे, मानवसमाज के शिरोमणि थे।

मधुसूदन भी अर्थपूर्ण सम्बोधन है। मधुसूदन=मधु-सूदन। *मधु* से तात्पर्य मधुर सुखभोग तथा विषयविलास से है। *सूदन* का अर्थ है क्षरना, नष्ट वा निराकरण करना। कृष्ण सुमहान् योगी थे, नितान्त जितेन्द्रिय तथा संयमी थे। उन्होंने अपने जीवन में से मधुर सुखभोगों तथा विषय-विलासों का निर्मूलन तथा निराकरण किया हुआ था। इसी से वे *मधुसूदन* कहलाते थे।

श्रीभगवानुवाच

३१३ **'अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।**
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः।३
३१४ **'अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।**
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर।४

कृष्ण ने उत्तर दिया, '(अ-क्षरम् परमम् ब्रह्म स्व-भावः) अविनाशी परम ब्रह्म स्व-भाव (अधि-आत्मम् उच्यते) अध्यात्म कहाता है। (भूत-भाव-उत्-भव-करः वि-सर्गः कर्म-सम्-ज्ञितः) भूत-भाव-उद्भव-कर वि-सर्ग कर्म-सं-ज्ञित [है]।

'(क्षरः भावः अधि-भूतम्) विनाशी भाव अधि-भूत [है] (च) और (पुरुषः अधि-दैवतम्) पुरुष अधि-दैवत [है]। (देह भृताम् वर) देह-धारियों में वरणीय [अर्जुन]! (अत्र, देहे) यहां, देह में (अहम् एव अधि-यज्ञः) 'अहम्' ही अधि-यज्ञ [है]।

अर्जुन के प्रश्नों का यहां मौलिक और तत्त्वपूर्ण उत्तर है।

प्रथम प्रश्न था, अध्यात्म क्या है। उत्तर में कहा गया है, अविनाशी परम ब्रह्म स्व-भाव अध्यात्म है। ब्रह्म अविनाशी परम पुरुष है। अखिल पुर [संसार] में व्यापक होने से परम पुरुष है। उस परम पुरुष में अपने स्व-भाव को, अपने अस्तित्व को, अपनी आत्मसत्ता को संयुक्त—समाहित रखना *अधि-आत्म* है। ब्रह्मसमाहित आत्मस्थिति का नाम अध्यात्म है। यह अखिल सृष्टि

स्व-भाव से, स्व-सत्ता से उस अविनाशी, परम पुरुष ब्रह्म में अन्तर्निहित है। *सर्वं खल्विदं ब्रह्म*, यह सर्व सर्वस्व ब्रह्ममय है, यह सर्व सर्वस्व ब्रह्म स्व-भाव से, स्व-अस्तित्व से अस्तित्वमय है, इस अनुभूति और साक्षात्कृति का ही नाम अध्यात्म है। अखिल प्र-जाओं में, अखिल सृष्टियों में ओत-प्रोत होता हुआ वह इस सबके भीतर भी है और बाहर भी है और अपने विराट् रूप में रूपित हुआ वह कह रहा है, '*अहं ब्रह्मास्मि*, मैं ब्रह्म हूं, मैं ही अविनाशी परम पुरुष हूं, अखिल जड़-चेतन में मेरा स्व-भाव प्र-भावित है।'

दूसरा प्रश्न था, कर्म क्या है। उत्तर में कहा गया है, भूत-भाव-उद्भवकर विसर्ग कर्म-संज्ञित है। कर्म से तात्पर्य यहां ब्राह्म कर्म से है। उद्भव का अर्थ है उत्-पत्ति, प्रादुर्भाव। सम्पूर्ण भौतिक सत्ता उस अभौतिक परम सत्ता में ही निहित है, उसी में, उसी से, उसी के प्राकृतिक नियमों से यह सब प्रादुर्भूत और अन्तर्भूत होता रहता है। सृष्टि का यह सतत—सन्तत—निरन्तर प्रादुर्भवन [सर्ग] और अन्तर्भवन [निःसर्ग] तथा संचालन [विसर्ग] ही परम पुरुष का अनवरत कर्म है।

क्षर भाव, विनश्वर सत्ता, बनने-बिगड़नेवाला पांचभौतिक, मायाजन्य सकल प्रपंच तथा पंच भूतों से निर्मित सकल योनियां, यह सब *अधिभूत* है। भूत नाम पंच भूतों तथा प्राणियों का है। सकल भौतिक जगत् और भौतिक देह अधिभूत ही है।

अधियज्ञो ऽहमेवात्र देहे, यह वाक्य अतिशय तत्त्वबोधक है। यहां देह में अहम् ही अधि-यज्ञ है। अहम् का अर्थ है मैं। जहां मैं है वहीं मेरा है। जहां मेरा है वहीं यज्ञ है। यज्ञस्वरूप प्रभु की यह सारी प्राकृतिक माया यज्ञमय ही है। *यज्ञ* नाम 'श्रेष्ठतम कर्म' का है। यज्ञ नाम पूजा, संगतिकरण और दान का है। यज्ञ नाम कर्तव्य कर्मों के सम्यक् पालन का है। एक सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य के अनेक, अनन्त कर्तव्य कर्म अथ वा करणीय यज्ञ हैं। सारे ही करणीय यज्ञ अहम् पर आधृत हैं, मम पर आश्रित हैं। और पुरुष [मनुष्य] ही सकल वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा वैश्व, सकल अधियज्ञों का अधिदैवत है, अधिष्ठातृदेव है, अधिदेव है।

३१५ 'अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः।५

'(यः च) जो कोई (अन्त-काले माम् एव स्मरन्) अन्त समय में मुझे ही स्मरता हुआ (कलेवरम् मुक्त्वा) देह छोड़कर (प्र-याति) प्र-याण करता है (सः मत्-भावम् याति) वह मेरे भाव को प्राप्त करता है, (अत्र सम्-शयः न अस्ति) इसमें सं-शय नहीं है।

मनुष्य की वृत्ति अथवा आसक्ति जिसमें होती है, जीते-जी भी वह उसी का स्मरण करता है और अन्तकाल में भी उसे उसी की स्मृति होती है। जागर्ति के विषय का स्मरण ही मनुष्य सोते सोते करता है। मृत्यु भी तो एक निद्रा है। जागर्ति में मनुष्य जिस विषय में लिप्त रहा है, निद्रा में लीन होते होते भी उसे उसी विषय का स्मरण रहता है और सोकर उठते हुए भी उसे उसी की स्मृति होती है। एवमेव, जीवनकाल में मनुष्य का जो विषय रहा है उसी का स्मरण करते हुए वह मृत्युरूप निद्रा में प्रवेश करता है और पुनर्जन्मरूप जागरण में वह उसी भाव [संस्कार] से भावित होता है।

३१६ 'यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।६

'(कौन्तेय) कुन्तीपुत्र [अर्जुन]! मनुष्य (अन्ते यम् यम् वा अपि भावम् स्मरन्) अन्त [काल] में जिस जिस भी भाव को स्मरता हुआ (कलेवरम् त्यजति) देह त्यागता है वह (तत्-भाव-भावितः) उस भाव से भावित हुआ (सदा तम् तम् एव एति) सदा उस उसको ही प्राप्त होता है।

यदि मनुष्य एक से अधिक विषयों में आसक्त रहा है तो उसे अन्तकाल में एक एक करके उन सब विषयों का स्मरण होरहा होता है और उन्हीं भावों [संस्कारों] से भावित हुआ वह अगला जन्म धारण करता है।

३१७ 'तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्।७

'(तस्मात्) अतः (सर्वेषु कालेषु माम् अनु-स्मर च युध्य) सब कालों में मुझे निरन्तर स्मर और युद्ध कर। (मयि-अर्पित-मनः-बुद्धिः) मुझमें अर्पित-मन-बुद्धि तू (अ-सम्-शयम् माम् एव एष्यसि) निस्सन्देह, मुझे ही प्राप्त करेगा।

जो जीवन के सब कालों में, सब क्षणों में ब्रह्म का स्मरण करते हैं, जो अपनी बुद्धि के सम्पूर्ण चिन्तन तथा मन [हृदय] के सम्पूर्ण प्यार के साथ ब्रह्मार्पित रहते हैं वे ही ब्रह्मभाव से भावित रहते हैं और वे ही अन्तकाल में भी ब्रह्म का स्मरण करते हैं और शरीर त्यागने पर ब्राह्मी स्थिति अथवा ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। वे मरते नहीं है। वे तो ब्रह्मभाव में, ब्रह्म की सत्ता में प्रविष्ट होते हैं।

३१८ 'अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्।८

'(पार्थ) पृथापुत्र [अर्जुन]! (अभि-आस-योग-युक्तेन) योग-युक्त अभ्यास से [तथा] (न-अन्य-गामिना चेतसा) न-अन्य-गामी चित्त से (अनु-चिन्तयन्)

अनु-चिन्तन [स्मरण] करता हुआ [योगी, साधक] (परमम् दिव्यम् पुरुषम्) परम दिव्य पुरुष को (याति) प्राप्त करता है।

इस श्लोक में प्रयुक्त परम दिव्य पुरुष ब्रह्म ही है जिसमें स्थित—समाहित होकर कृष्ण ने तात्स्थ्य-स्थिति में अहम् [मैं], माम् [मुझे] और मम [मेरा] का प्रयोग किया है।

स्मरण तीन प्रकार का होता है। पहला स्मरण होता है दुःख-, आवश्यकता- वा भाव-विशेष से। दूसरा स्मरण होता है योगाभ्यास को पकाने की दृष्टि से। तीसरा स्मरण होता है आत्मस्नेह से। आत्मस्नेह का जो स्मरण होता है वह अनवरत तथा व्यवधानरहित होता है। दूसरी कोटि के अभ्यास के लिए इस श्लोक में *अभ्यासयोगयुक्तेन* का तथा तीसरी कोटि के लिए *चेतसा नान्यगामिना* का प्रयोग हुआ है। पहले प्रकार का स्मरण संसारी अथ वा भोगी करते हैं। योगियों का स्मरण दूसरे और तीसरे प्रकार का होता है।

३१९ 'कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद् यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।९
३२० 'प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति
दिव्यम्।१०

'(यः भक्त्या युक्तः) जो भक्ति से युक्त [योगी] (प्र-यान-काले) प्र-याण-काल में (कविम्) कवि, (पुराणम्) पुराने, (अनु-शासितारम्) अनु-शासक, (अणोः अणीयांसम्) अणु से अणुतम, (सर्वस्य धातारम्) सबके धारक, (अ-चिन्त्य-रूपम्) अ-चिन्त्य-रूप (आदित्य-वर्णम्) आदित्य-वर्ण, (तमसः परस्तात्) तम से परे, (दिव्यम् परम् पुरुषम्) दिव्य पर ब्रह्म को (भ्रुवोः मध्ये प्राणम् सम्यक् आ-वेश्य) भ्रूकुटियों के मध्य में प्राण को भली प्रकार स्थिर करके, (योग-बलेन च अ-चलेन मनसा) योग-बल से तथा अ-चल मन से (अनु-स्मरेत्) निरन्तर स्मरे, सस्नेह स्मरण करे (सः एव) वही (तम् उप-एति) उसे प्राप्त होता/करता है।

पर पुरुष अथ वा पर ब्रह्म के लिए जो विशेषण प्रयुक्त हुए हैं वे महत्त्वपूर्ण हैं—

१) कवि=इसमें क्रान्तप्रज्ञता, क्रान्तकर्तृत्व तथा क्रान्तदृष्टि का भाव अन्तर्निहित है। क्रान्तप्रज्ञ, क्रान्तकर्मा तथा क्रान्तदर्शी होने से परमात्मा कवि है।

२) पुराण=पुरातन, सनातन, अनादि।

३) *अनुशासिता*=अनु+शासित करनेवाला, सम्पूर्ण सृष्टि को अपने अनुशासन में रखने वाला।

४) *अणोरणीयान्*=अणु से अणुतम, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, सर्वातिशय सूक्ष्म।

५) *सर्वस्य धाता*=अखिल विश्व का धारण करनेवाला।

६) *अ-चिन्त्यरूप*=परमात्मा के निज स्वरूप का चिन्तन नहीं किया जा सकता है। उसका स्वरूप चिन्तन से परे है। उसके निज स्वरूप का साक्षात् होने तक उसका रूप सर्वथा अचिन्त्य रहता है और उसके निज रूप के साक्षात्कार के पश्चात् उसका रूप सदा ही अवर्णनीय रहता है।

७) *आदित्यवर्ण*=अखण्ड-वर्ण। उसका वर्ण अथ वा सौन्दर्य अखण्ड, एकरस, अपरिवर्तनीय है। *आदित्य* नाम सूर्य का भी है। वह सूर्यवर्ण है। सूर्य के समान उसका वर्ण अखिल सृष्टि का प्रकाशक है।

८) *तमसः परस्तात्*=तम से परे। *तम* नाम अन्धकार का है। वह अन्धकार से परे है। उसमें अन्धकार नहीं है, प्रकाश है। प्रकृति तम है। प्राकृतिक जितने भी प्रकाश और सौन्दर्य हैं वह उनका पर-स्रोत, परम-स्रोत आदि-स्रोत है।

९) *दिव्य*=तम, रज, सत्, इन तीनों प्राकृत गुणों से मुक्त और अखिल दिव्यताओं से युक्त होने से वह दिव्य है।

जो स्नेहसिक्त योगी प्रयाणकाल में परमात्मा का स्मरण करते हैं वे स्वभावतः ही पर-भाव से भावित होकर पर ब्रह्म में लीन होकर उसी में समाहित हो जाते हैं।

३२१ 'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद् यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत् ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये।११

'(यत्) जिसे (वेद-विदः) वेदों को जाननेवाले (अ-क्षरम् वदन्ति) अ-विनाशी कहते हैं, (यत्) जिसे/जिसमें (वि-इत-रागाः यतयः) वीत-राग यति (विशन्ति) प्रवेश करते हैं, (यत् इच्छन्तः) जिसे चाहते हुए [साधक] (ब्रह्म-चर्यम् चरन्ति) ब्रह्मचर्य पालन करते हैं, मैं (ते) तेरे प्रति (तत् पदम्) उस पद को (सम्-ग्रहेण प्र-वक्ष्ये) सं-क्षेप से कहूंगा।

३२२ 'सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्।१२

३२३ 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्।१३

'(सर्व-द्वाराणि सम्-यम्य) सब द्वारों को/का सं-यम करके, (मनः हृदि नि-रुध्य) मन को हृदय में रोककर (च) और (आत्मनः प्राणम् मूर्ध्नि आ-धाय) अपने

प्राण को मूर्धा में स्थापन करके (योग-धारणाम् आ-स्थितः) योग-धारण को/में स्थित हुआ (यः) जो [योगी] (ओम् इति माम् एक-अक्षरम् ब्रह्म वि-आ-हरन्) 'ओं', ऐसे मुझ एकाक्षर ब्रह्म को विशेष रूप से प्यार करता हुआ और (अनु-स्मरन्) अनु-स्मरता हुआ (देहम् त्यजन् प्र-याति) देह को त्यागकर प्र-याण करता है, (सः परमाम् गतिम् याति) वह परम गति को प्राप्त करता है।

अन्त समय में जो जिसके भाव में भावित होकर प्रयाण करता है वह वैसी ही गति को प्राप्त होता है। अन्त समय में जो अपनी सम्पूर्ण भावना से ओं-निमग्न होकर देह त्यागता है वह, निस्सन्देह, आत्मना ओं में ही समाहित होजाता है। यही परम गति है।

३२४ 'अनन्यचेताः सततं यों मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।१४

'(पार्थ) ! पृथापुत्र [अर्जुन] ! (यः अन्-अन्य-चेताः) जो अनन्य-चित्त [योगी] (सततम् नित्यशः) निरन्तर नित्य [ही] (माम् स्मरति) मुझे स्मरता है (तस्य नित्य-युक्तस्य योगिनः) उस सदा-समाहित योगी का (अहम् सु-लभः) मैं सु-संगाती हूं।

सर्वव्यापक होने से ओं सदा, सर्वत्र विद्यमान है। वह किसी से भी पृथक् नहीं है। उसे भूले रहना ही उसकी दूरी है और उसका स्मरण रखना ही उसकी समीपता है। जो ओं को सदा याद रखता है, ओं उसका सहज संगाती है। जो उसे भूला हुआ है वह उससे वियुक्त है। स्मरण योग है। विस्मरण वियोग है।

३२५ 'मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धि परमां गताः।१५

'(परमाम् सम्-सिद्धिम् गताः महात्मानः) परम सं-सिद्धि को प्राप्त महात्मा (माम् उप-इत्य) मुझे प्राप्त करके (दुःख-आ-लयम् अ-शाश्वतम् पुनः-जन्म) दुःखालयरूप, विनश्वर पुनर्जन्म को (न आप्नुवन्ति) प्राप्त नहीं होते हैं।

पुनर्जन्म दुःखालय है। मोक्ष सुखालय है। जन्म के बाद मरण होने से, जन्म अशाश्वत है। ब्रह्म सदा मुक्त है। जो बन्धनकारिणी माया से संगत रहता है वह स्वभावतः जन्म-मरण के चक्र में घूमता रहता है। जो मुक्त ब्रह्म से संगत रहता है वह स्वभावतः शाश्वत मोक्ष प्राप्त करता है।

३२६ 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनो ऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।१६

'(अर्जुन) अर्जुन ! (आ-ब्रह्म-भुवनात् लोकाः) विश्व-भुवन से लेकर सारे लोक (पुनः आ-वर्तिनः) पुनः [पुनः] आ-वर्तित होनेवाले [हैं]। (कौन्तेय) कुन्ती-

पुत्र [अर्जुन] ! (माम् उप-इत्य तु) मुझे प्राप्त करके तो (पुनः-जन्म न विद्यते) पुनः जन्म नहीं होता है। [फिर पुनः मृत्यु भी कहां ?]

ब्रह्मभुवन नाम समष्टि सृष्टि का है। सम्पूर्ण सृष्टि से लेकर समस्त लोक-लोकान्तर पुनर्भावी अथ वा पुनर्जन्मा हैं। यह विश्व भुवन और इसमें वर्तमान समस्त लोक पुनः बनते-विगड़ते रहते हैं।

ब्रह्म सदामुक्त है। उसमें समाहित होकर आत्मा जन्म-मरण के चक्र से सर्वथा मुक्त होजाता है। अतः उसका पुनर्जन्म नहीं होता है। मोक्षप्राप्ति की ही इसलिए जाती है कि जन्म-मरण से छूटकर देह के बन्धन से मुक्ति मिले।

मोक्षप्राप्ति के पश्चात् पुनर्जन्म होता है वा नहीं, इस विषय में सदा से विवाद होता चला आरहा है और चलता रहेगा। प्रत्यक्ष विषय में सब एकमत हो सकते हैं पर परोक्ष विषय में विचारभिन्नता का बना रहना स्वाभाविक है।

कोई कहते हैं, मोक्ष सावधि है। मोक्षावधि समाप्त होने पर जीवात्मा पुनः जन्म धारण करके जन्म-मरण के प्रवाह में प्रवृत्त होजाता है। दूसरे कहते हैं, मोक्ष अनवधि है। एक बार मोक्ष प्राप्त करके आत्मा पुनः कभी जन्म नहीं लेता है। किन्हीं का मत है, मोक्ष सावधि भी होती है और अनवधि भी। कर्मयोग से सावधि मोक्ष मिलती है, ज्ञानयोग से अनवधि।

मैं तो यही कह सकता हूं कि प्रथम मोक्ष प्राप्त कर लीजिए। फिर देख लीजियेगा कि पुनरावर्तन होता है वा नहीं।

३२७ 'सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां ते ऽहोरात्रविदो जनाः ।१७

'(ब्रह्मणः यत् अहः) ब्रह्म का जो दिन [वह] (सहस्र-युग-परि-अन्तम्) हजार युग पर्यन्त, और (रात्रिम् युग-सहस्र-अन्ताम्) रात्रि को हजार-युग-अन्ता (ते अहः-रात्र-विदः जनाः विदुः) वे दिन-रात-वेत्ता जन जानते हैं।

मोक्ष की तरह यह दिन-रात का विषय भी बड़ा गहन है। सीधी-सादी बात तो यह है कि यहां ब्रह्म से तात्पर्य ब्रह्माण्ड से है। इस अनन्त, असीम सृष्टि में असंख्य ब्रह्माण्ड हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्ड सहस्र युग स्थित रहता है। उसके प्रलयन तथा पुनः रचन की अवधि भी सहस्र युग के बराबर है। सहस्र का प्रयोग सदा असंख्यार्थ में होता है। ब्रह्माण्ड के स्थितिकाल का नाम ब्राह्म दिन है और उसके प्रलयन- तथा पुनःरचन-काल का नाम रात्रि है। इस रहस्य को कालविज्ञान के वेत्ता ही जानते हैं। सब विज्ञानों का मूलविज्ञान होने के कारण कालविज्ञान परम विज्ञान है। *काले सर्वं प्रतिष्ठितम्,*

सब कुछ काल में प्रतिष्ठित है। काल सबका अतिक्रमण करता है। काल का अतिक्रमण कोई नहीं कर सकता है। काल में ही दिन-रात निहित हैं। काल से ही जीवन और मरण है। जीवन दिन है। मृत्यु रात्रि है। अस्तित्व दिन है। अनस्तित्व मृत्यु है। सत्ता दिन है। असत्ता रात्रि है।

प्राणियों के जीवन-मरण के अनुसार ही ब्रह्माण्डों का जीवन-मरण होता है जिसे स्थिति, प्रलय और पुनः रचन कहते हैं। ऐसी योनियां हैं, सैकण्डों में जिनका जन्म और मरण होता है। उनके दिन-रात सैकण्डों के होते हैं। ऐसी योनियां हैं, मिनटों में जिनका जन्म-मरण होता है। उनके दिन-रात मिनटों के होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक योनि, प्रत्येक लोक और प्रत्येक ब्रह्माण्ड के दिन-रात की अवधि भिन्न भिन्न है। काल की गति गहन है। काल के खेल निराले हैं। शैशव, यौवन, जरा काल की किलोलें हैं। बन्ध और मोक्ष कालक्रम की शृंखलाएं हैं। काल में दिन-रात हैं। दिन-रात की परिधि से काल मुक्त है। काल कोमल भी है, कठोर भी है। काल सुन्दर भी है, विकराल भी है। काल ब्रह्मा है, विष्णु है, महेश है। काल सबसे परे है। काल सें परे केवल ब्रह्म है वा ब्रह्म का वह अहम् है जिसका प्रयोग कृष्ण ने *गीता* में सर्वत्र किया है। काल व्यक्त है, इसी से काल में सब व्यक्तियों का व्यक्तिकरण होता है। ब्रह्म अव्यक्त है किन्तु उसकी व्याप्ति से ही सबका व्यक्तिकरण होता है।

३२८ 'अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ।१८

'(सर्वाः वि-अक्तयः) सब प्रकट (अहः-आ-गमे) दिन के आ-गमन पर (अ-वि-अक्तात्) अ-प्रकट से (प्र-भवन्ति) प्रकट होते हैं [और] (रात्रि-आ-गमे) रात्रि के आ-गमन पर (तत्र) वहां (अ-वि-अक्त-सम्-ज्ञके एव) अप्रकट-संज्ञक में ही (प्र-यलीयन्ते) प्र-लीन होजाते हैं।

जो कुछ भौतिक अथ वा प्रकृतिजन्य है वह सब प्रकट अथ वा व्यक्त-संज्ञक है। उससे परे जो ब्रह्म की सत्ता है वह अप्रकट अथ वा अव्यक्त-संज्ञक है। प्रलय के बाद जब ब्रह्माण्ड की रचना आरम्भ होती है, उसका नाम अहरागमन अथ वा ब्रह्माण्ड की प्रातर्वेला है। ब्रह्माण्ड के स्थितिकाल का नाम ब्राह्म दिन है और उसके प्रलयकाल का नाम ब्राह्म रात्रि है।

प्राणिजगत् में जिस प्रकार असंख्य प्राणी मरते और जन्मते रहते हैं उसी प्रकार सृष्टि में असंख्य ब्रह्माण्ड प्रलय [मृत्यु] को प्राप्त होते रहते हैं और असंख्य ब्रह्माण्ड बनते [जन्मते] रहते हैं। ब्रह्माण्डों का यह जन्म-मरण ब्रह्म की अव्यक्त सत्ता में अनवरत होता रहता है। इसी का नाम व्यक्त का अव्यक्त

से प्रादुर्भूत और व्यक्त का अव्यक्त-लीन होना है।

३२९ 'भूतग्रामः स एवायं भूत्वा-भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमे ऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे।१९

'(पार्थ) पृथापुत्र [अर्जुन] ! (सः अयम् भूत-ग्रामः एव) वह यह भूत-पुञ्ज ही, वह यह भौतिक जगत् ही (अ-वशः) सहजतः (भूत्वा-भूत्वा) हो-होकर (रात्रि-आ-गमे) रात्रि [प्रलय] के आ-गमन पर (प्र-लीयते) प्र-लीन होता रहता है [और] (अहः-आ-गमे) दिन के आ-गमन पर (प्र-भवति) प्रकट होता रहता है।

३३० 'परस्तस्मात् तु भावो ऽन्यो ऽव्यक्तो ऽव्यक्तात् सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति।२०

'(तस्मात् परः तु) उस [भूतग्राम] से परे तो (यः अन्यः अ-वि-अक्तात् अ-वि-अक्तः सनातनः भावः) जो भिन्न, अ-व्यक्त से अ-व्यक्त सनातन भाव[—सत्ता है], (सः) वह (सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु) सब भूतों का नाश, सब भौतिक वस्तुओं के विनष्ट होजाने पर (न वि-नश्यति) नष्ट नहीं होता है।

भौतिक जो कुछ है वह सब विनाशी है। भूतग्राम से परे, भौतिक से परे जो सत्ता है वह अविनाशी है, रचना और प्रलय से सदा नितान्त मुक्त है।

३३१ 'अव्यक्तो ऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम।२१

'वह (अ-वि-अक्तः) अ-व्यक्त [भाव—सत्ता] (अ-क्षरः) अ-विनाशी [है], (इति उक्तः) ऐसा कहा गया [है]। (तम्) उसी [अव्यक्त सत्ता] को (परमाम् गतिम् आहुः) परम गति कहते हैं (यम् प्र-आप्य न नि-वर्तन्ते) जिसे प्राप्त करके वापस नहीं आते, पुनः जन्म नहीं लेते हैं। (तत्) वह [परम गति] (मम परमम् धाम) मेरा परम धाम [है]।

परम गति से तात्पर्य है ब्रह्मनिर्वाण अथ वा मोक्ष। उस अव्यक्त सत्ता की प्राप्ति पर आत्मा शरीर में निवास करते हुए उसी में लीन रहता है और शरीर त्यागकर उसी में शाश्वत स्थिति प्राप्त करता है। परम गति अथ वा ब्रह्मनिर्वाण वा मोक्ष ही ब्रह्म का *परम धाम* है।

३३२ 'पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।२२

'(पार्थ) पृथापुत्र [अर्जुन] ! (भूतानि) सब भूत, प्राणी (यस्य) जिसके (अन्तः-स्थानि) अन्दर-स्थित [हैं], (येन इदम् सर्वम् ततम्) जिससे यह सब [पसारा] फैला हुआ [है] (सः परः पुरुषः तु अन्-अन्यया भक्त्या लभ्यः) वह परम पुरुष तो अनन्य भक्ति से प्रापणीय [है]।

अनन्य भक्ति से तात्पर्य एकनिष्ठ प्रेम से है। एकनिष्ठ प्रेम ही है जिसके द्वारा उस अव्यक्त सत्ता की प्राप्ति अथ वा साक्षात्कृति होती है। उसे प्यार करो और प्राप्त करो। प्रेम भक्ति का नमक है।

३३३ 'यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ।२३

'(भरत-ऋषभ) भरत-कुलोत्पन्न [अर्जुन] ! (यत्र काले) जहां—जिस काल में (तु) तो (योगिनः) योगी [जन] (प्र-याताः) प्र-याण करके (अन्-आ-वृत्तिम् च आ-वृत्तिम्) अना-वृत्ति और आ-वृत्ति को (यान्ति) प्राप्त करते हैं (तम् एव कालम् वक्ष्यामि) उस ही काल को कहूंगा।

वृत्ति चित्त का स्वाभाविक गुण है, सहज धर्म है। चित्त कभी किसी भी प्रकार वृत्तिशून्य नहीं हो सकता। चित्त की वृत्तियों को समाहित अथ वा एकाग्र करके किसी एक विषय में लगाया जा सकता है। जागर्ति और स्वप्न में चित्त की वृत्तियां बहिर्मुख होकर नाना विषयों और विविध दिशाओं में आवर्तन करती रहती हैं। सुषुप्ति में वृत्तियां आहित रहती हैं। आहित अवस्था में वृत्तियां विषयवियुक्त होती हैं, विषयमुक्त नहीं। समाहित अवस्था में वृत्तियां विषयमुक्त और एकतत्त्वयुक्त रहती हैं।

समाहिति के लिए श्लोक में *अनावृत्ति* शब्द का प्रयोग किया गया है। आहिति के लिए यहां *आवृत्ति* का प्रयोग हुआ है। समाधि में समाहिति की सिद्धि होजाने पर योगी चौबीसों घण्टे सतत, सन्तत, निरन्तर समाहित रहता हुआ कर्म करता है। अयोगी केवल सुषुप्ति में आहित [आवृत्त] रहता है, जागर्ति और स्वप्न में अनाहित रहता है।

समाहिति अथ वा अनावृत्ति से योगी सशरीर रहते हुए जीवन्मुक्त विदेह अवस्था में अवस्थित रहता है और शरीर त्यागने पर शाश्वत मोक्षानन्द में विचरता है। अनाहिति से अयोगी सशरीर रहता हुआ आसक्तियुक्त कर्म करता है और परिणामस्वरूप देह-देहान्तर में आवर्तन करता है।

योगाभ्यास अथ वा योगपथ पर आरूढ़ व्यक्ति की अवस्था आवृत्ति अथ वा आहिति की होती है। समाधि में वह सब विषयों से निवृत्त होता है किन्तु जागर्ति और स्वप्न में वह विहित विषयों का सेवन करता है। अभ्यास के परिपक्व होजाने पर जब वह संसिद्ध योगी बन जाता है तब सतत समाहित रहता हुआ वह सर्वथा विषयमुक्त और जीवन्मुक्त रहता है। इसी रहस्य को प्रकट करने के लिए यहां कहा जा रहा है, 'अर्जुन ! जिस काम में प्रयाण करके योगी अनावृत्ति [समाहिति] अथ वा आवृत्ति [आहिति] को प्राप्त होता है, मैं तुझसे उसका वर्णन करूंगा।'

३३४ 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ।२४

'(अग्निः, ज्योतिः, अहः, शुक्लः) अग्नि, ज्योति, दिन [और] शुक्ल, (षट्-मासाः) छह-मासी (उत्-तर-अयनम्) उत्तरायण। (तत्र) वहां (प्र-याताः) प्र-याण करने-वाले (ब्रह्म-विदः जनाः) ब्रह्म-ज्ञानी जन (ब्रह्म गच्छन्ति) ब्रह्म को प्राप्त करते हैं।

३३५ 'धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ।२५

'(धूमः, रात्रिः तथा कृष्णः) धूम, रात्रि और कृष्ण, (षट्-मासाः) छह-मासी (दक्षिण-अयनम्) दक्षिणायन। (तत्र) वहां (योगी) योगी (चान्द्रमसम् ज्योतिः प्र-आप्य) चान्द्रमस ज्योति प्राप्त करके (नि-वर्तते) नि-वर्तता है।

३३६ 'शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ।२६

'(जगतः) जगत् की (शुक्ल-कृष्णे) शुक्ल और कृष्ण, (एते गती हि) ये [दो] गतियां ही (शाश्वते मते) शाश्वत मानी जाती [हैं]। (एकया अन्-आ-वृत्तिम् याति) एक से अना-वृत्ति को जाता है, (अन्यया पुनः आ-वर्तते) दूसरी से फिर आ-वर्तता है।

३३७ 'नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ।२७

'(एते सृती जानन्) इन [दो] गतियों को जानता हुआ (कः चन योगी न मुह्यति) कोई भी योगी मोहित नहीं होता है। (तस्मात्) उस [कारण] से, (पार्थ अर्जुन) पृथापुत्र अर्जुन! (सर्वेषु कालेषु) सब कालों में (योग-युक्तः भव) योग-युक्त रह।

३३८ 'वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत् सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति
चाद्यम् ।'२८

'(इदम् विदित्वा) इसे जानकर (वेदेषु, यज्ञेषु, तपःसु) वेदों में, यज्ञों में, तपों में (एव च) अपि च (दानेषु) दानों में (यत् पुण्य-फलम्) जो पुण्य-फल (प्र-दिष्टम्) कथन किया गया [है] (योगी तत् सर्वम् अति-एति) योगी उस सबको लांघ जाता है (च) और (आद्यम् परम् स्थानम् उप-एति) आद्य, पर स्थान को प्राप्त करता है।'

निवर्तन का अर्थ है वापस आना। *आवर्तन* का अर्थ है आना।

सूर्य छह मास उत्तरायण होता है और छह-मास दक्षिणायन। जो यह धारणा बनी हुई है कि जो उत्तरायण में शरीर त्यागता है वह ब्रह्म-

निर्वाण प्राप्त करता है और पुनः जन्म-मरण के चक्र में नहीं आता है, जो दक्षिणायन में शरीर त्यागता है वह चान्द्रमस ज्योति प्राप्त करके पुनः जन्म लेता है, सर्वथा भ्रममूलक और निराधार है। छह मास के उत्तरायण में लाखों, करोड़ों, मनुष्यों का देहावसान होता है जिनमें भोगी और योगी, सभी प्रकार के मनुष्य होते हैं। क्या वे भोगी भी ब्रह्मनिर्वाण के अधिकारी होंगे ? एवमेव, छह मास के दक्षिणायन में भी लाखों, करोड़ों मनुष्यों का देहावसान होता है जिनमें भोगी और योगी, सभी प्रकार के मनुष्य होते हैं। क्या भोगी भी चान्द्रमस ज्योति प्राप्त करेंगे।

वास्तव में, ये उत्तरायण और दक्षिणायन अवस्थाएं योगसाधना की हैं। उत्तरायण से तात्पर्य वह योगोत्थान है जिसमें योगी उत्तरोत्तर ऊंचा उठता चला जा रहा होता है और योग की उच्चतम अवस्था में समाधिस्थ होकर स्वेच्छया ब्रह्मरन्ध्र द्वारा देहत्याग करता है। उस अवस्था में वह ब्रह्म में शाश्वत स्थिति प्राप्त करता है। योग की उत्तरायण दशा में योगी आत्मज्योति और दिनवत् प्रकाश से प्रकाशित होता है। दक्षिणायन से तात्पर्य योग की वह अवस्था है जिसमें स्पष्ट आत्मसाक्षात्कार तथा ब्रह्मदर्शन नहीं होता है। उस अवस्था में स्वेच्छया नहीं, भगवदिच्छया योगी देहत्याग करता है और चन्द्रमा की सी ज्योत्स्ना लिए हुए वह पुनः जन्म लेता है।

वर्ष में दिन और रात्रि अथ वा प्रकाश और अन्धकार का अनुपात सम होता है। दिनावधि में सब कुछ स्पष्ट दिखाई देता है। रात्रि में सब कुछ अस्पष्ट होता है। मानवजीवन में भी प्रकाश और अन्धकार का यही अनुपात है। सिद्ध योगी भोगधूम और अज्ञानरात्रि को समाप्त करके ब्रह्मदिन में विहार और प्रयाण करते हैं। योगपथ के असिद्ध पथिक चान्द्रमस [आह्लाद] स्थिति में विहार और प्रयाण करते हैं। सिद्ध योगी शरीर त्यागकर ब्रह्म में समाहित हो जाते हैं। असिद्ध योगी संसिद्धि की प्राप्ति तक पुनः पुनः वापस मानवयोनि में आते हैं।

नवां अध्याय

श्रीभगवानुवाच

३३९ 'इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसे ऽशुभात्।१

कृष्ण बोले, '(इदम् गुह्य-तमम् ज्ञानम्) इस गोपनीय-तम ज्ञान को (ते अन्-असूयवे) तुझ निर्दोषदृष्टि के लिए (वि-ज्ञान-सहितम् प्र-वक्ष्यामि) विज्ञान-सहित कहूंगा (यत् तु ज्ञात्वा) जिसे तो जानकर तू (अ-शुभात् मोक्ष्यसे) अ-शुभ से मुक्त होजाएगा।

मुक्त अशुभ से होना है, शुभ से नहीं। *विज्ञानसहित* का अर्थ है वैज्ञानिक रीति से, निर्भ्रान्त ज्ञान के आधार पर।

३४० 'राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्।२

'(इदम्) यह [ज्ञान] (राज-विद्या) विद्याओं का राजा [है], (राज-गुह्यम्) गोपनीयों का राजा, रहस्यों का रहस्य [है],(उत्-तमम्) उत्कृष्टतम [है],(पवि-त्रम्) पवित्र [है], (प्रति-अक्ष-अव-गमम्) प्रत्यक्ष-अवगमनीय, स्पष्टतया जानने योग्य [है], (धर्म्यम्) धारणीय [है], (सु-सुखम् कर्तुम्) सु-सुखतया साधनीय, सुगमतया आचरणीय [है], (अ-वि-अयम्) अ-वि-नाशी [है]।

३४१ 'अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि।३

'(परम्-तप) परम-तपस्वी [अर्जुन]! (अस्य धर्मस्य अ-श्रत्-दधानाः पुरुषाः) इस धारणीय [ज्ञान] के अ-श्रद्धालु पुरुष, इस धारणीय [ज्ञान] में सत्य धारणा न रखनेवाले मानव (माम् अ-प्र-आप्य) मुझे प्राप्त न करके (मृत्यु-सम्-सार-वर्त्मनि) मृत्यु [ग्रास] सं-सार-चक्र में (नि-वर्तन्ते) नि-वर्तते रहते हैं।

जब तक आत्मा ब्रह्मनिर्वाण [मोक्ष] प्राप्त करके ब्रह्म में शाश्वत स्थिति प्राप्त नहीं करते हैं तब तक वे निरन्तर जन्म-मरण के चक्र में घूमते रहते हैं।

३४२ 'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।४

'(इदम् सर्वम् जगत्) यह सब जगत् (मया अ-वि-अक्त-मूर्तिना) मुझ अप्रकट-रूप द्वारा (ततम्) फैला [और] व्यापा हुआ [है]। (च) और (सर्व-भूतानि मत्-स्थानि) सब भूत मुझमें स्थित [हैं], (अहम् तेषु न अव-स्थितः) मैं उनमें अव-स्थित नहीं [हूं]।

मूर्ति शब्द का प्रयोग यहां रूप अर्थ में हुआ है। प्रत्येक सत्ता का कोई न कोई रूप अवश्य होता है। अतः परमात्मा का रूप भी अवश्य है। उसका वास्तविक रूप क्या है यह अव्यक्त है, अप्रकट है, अप्रत्यक्ष है। यह सारा जगत् उस अव्यक्तरूप, सर्वाधार सत्ता द्वारा ही अस्तित्व में आया है और उसी की सर्वव्यापिनी सत्ता के आश्रय से यह सब स्थित है।

सब भूत, पांचभौतिक समस्त लोक-लोकान्तर और उनमें स्थित सकल प्राणी परमात्मा में स्थित हैं, परमात्मा की सत्ता के आश्रय में स्थित हैं। परन्तु परमात्मा उनमें स्थित नहीं है, परमात्मा उनके आश्रय में स्थित नहीं है।

वह सबका आधार और आश्रय है। उसका कोई आधार और आश्रय नहीं है। वह निजाधार और निजाश्रय है।

३४३ 'न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः।५

'(च) और (मे योगम्, ऐश्वरम् पश्य) मेरे कौशल [और] ईश्वरत्व को देख—(भूतानि) [सब] भूत, पांचभौतिक सब लोक-लोकान्तर (मत्-स्थानि न) मुझमें स्थित नहीं [है], [मेरी सत्ता में निहित नहीं हैं, मुझमें प्रादुर्भूत हुए और मुझमें आश्रित रहते हुए भी उनकी सत्ता मुझसे सर्वथा पृथक् है, मेरी सत्ता से उसकी सत्ता सर्वथा भिन्न है।] (च) और (मम आत्मा) मेरा आत्मा, मेरा अपना अस्तित्व (भूत-भृत्) [सब] प्राणियों का पोषण करनेवाला [तथा] (भूत-भावनः) भूतों को उत्पन्न करनेवाला, [सब] प्राणियों को जन्म देनेवाला [है]। [तथापि मैं] (भूत-स्थः न) भूत-स्थ नहीं [हूं, प्राणियों में आत्मा के समान कार्य नहीं कर रहा हूं]। [प्रत्येक प्राणी में उसका अपना आत्मा ही क्रिया तथा चेष्टा कर रहा है।]

आत्मा भी चेतन है। परमात्मा भी चेतन है। प्रत्येक भूत [प्राणी वा योनि] में उसका अपना आत्मा अन्तर्निहित है और उसमें परमात्मा भी व्यापक है। परन्तु परमात्मा प्रत्येक प्राणी में तटस्थ अकर्ता है और प्राणी का उसका अपना आत्मा स्वतन्त्र कर्ता है। परमात्मा का यह कैसा कौशल और ईशत्व है!

३४४ 'यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय।६

'(यथा सर्वत्र-गः महान् वायुः) जैसे सर्वत्र गमन करनेवाला महान् पवन (नित्यम्) सदैव (आ-काश-स्थितः) आ-काश में स्थित [है] (तथा) वैसे [ही] (सर्वाणि भूतानि) सब भूत, भौतिक पदार्थ, प्राणी (मत्-स्थानि) मुझमें स्थित [हैं], तू (इति उप-धारय) ऐसा जान।

वायु आकाश में विचरता है और आकाश में ही स्थित रहता है। उसी प्रकार सब भूत परमात्मा में स्थित हैं। आकाश और वायु की सत्ता पृथक्

पृथक् है। वैसे ही परमात्मा और भूतों की सत्ता सर्वथा पृथक् पृथक् है।

३४५ 'सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्।७

'(कौन्तेय) कुन्तीपुत्र [अर्जुन]! (कल्प-क्षये) कल्प-क्षय में, कल्पान्त में, प्रलय होने पर (सर्व-भूतानि) सब भूत (मामिकाम् प्र-कृतिम् यान्ति) मेरी प्र-कृति को प्राप्त होते हैं [मुझमें नहीं, मेरी परमाणुरूपा प्रकृति को प्राप्त होते हैं। प्रकृति परमात्मा की सम्पत्ति है।]। (कल्प-आदौ) कल्पारम्भ में, रचना के आदि में (अहम्) मैं (तानि) उन्हें (पुनः वि-सृजामि) फिर विविधरूपेण रचता हूं।

प्रलयावस्था में सब भौतिक पदार्थ प्रकृति में लीन होजाते हैं और ईश्वरीय चेतना के मिष से प्राकृत नियमों के अनुसार प्रकृति से पुनः सृष्टि की रचना होती है।

३४६ 'प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्।८

'मैं (इमम् कृत्स्नम् भूत-ग्रामम्) इस सब भूत-समूह को (पुनः पुनः वि-सृजामि) पुनः पुनः रचता हूं, (अ-वशम्) अ-वश, अनायास (स्वाम् प्र-कृतिम् अव-स्तभ्य) अपनी प्र-कृति को अव-स्थित—व्यवस्थित—स्वस्थ करके (प्र-कृतेः वशात्) प्र-कृति के वश से, [कारणरूप] प्रकृति के साधन से।

प्रलयावस्था के विश्राम से परमाणुरूपा प्रकृति स्वस्थ होजाती है। उसके स्वस्थ होने पर परमात्मा की सत्ता के मिष से पुनः पुनः सृष्टि की रचना होती है।

३४७ 'न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु।९

'(च) और, (धनम्-जय) संग्राम-जयी [अर्जुन]! (तेषु कर्मसु) उन कर्मों में (उत्-आसीन-वत्) उत्-आसीन के समान (अ-सक्तम् आसीनम्) अ-सक्त स्थित (माम्) मुझे (तानि कर्माणि) वे कर्म (न नि-बध्नन्ति) नहीं बांधते हैं।

उदासीन का अर्थ है उत्-आसीन, ऊपर बैठा हुआ, उपरि स्थित। प्रलय, रचना, आदि कर्मों में परमात्मा बद्ध [आसक्त] नहीं है। प्रभु की आसीनता [उपस्थिति, व्याप्ति]-मात्र से वे कर्म प्राण-अपानवत् अनायास ही होते रहते हैं। परमात्मा इसमें और इस सबसे ऊपर अनासक्त मिषतः कर्तामात्र है।

३४८ 'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद् विपरिवर्तते।१०

'(कौन्तेय) कुन्तीपुत्र [अर्जुन]! (मया अधि-अक्षेण) मुझ अध्यक्ष से (प्र-कृतिः) प्र-कृति (स-चर-अचरम्) चराचर-सहित (सूयते) प्रसवन, [सृष्टि की]

रचना करती है। (अनेन हेतुना) इस हेतु से (जगत् वि-परि-वर्तते) संसार घूमता है।

भौतिक, चर-अचर सृष्टि प्रकृति की रचना है। परमात्मा की अध्यक्षता में प्राकृत नियमों के अनुसार प्रकृति के परमाणुओं से यह सब रचना होती रहती है। परमात्मा की व्याप्ति में प्राकृतिक नियमाधीन सृष्टि का सतत चक्र चलता रहता है।

३४९ 'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।११

'(मम भूत-महा-ईश्वरम् परम् भावम् अ-जानन्तः) मेरे भूत-महेश्वर पर भाव को न जानते हुए (मूढाः) अविवेकी [जन] (माम्) मुझे (मानुषीम् तनुम् आ-श्रितम्) मानुषी-शरीर-आ-श्रित (अव-जानन्ति) समझते हैं।

भूत के अर्थ हैं प्रकृति, पांचभौतिक जगत्, पंच भूत, प्राणिजगत्, प्राणधारी, प्राणी। परमात्मा भूत नहीं है, भूतों का महेश्वर [महान् स्वामी] है। वह अशरीरी [अकाय] है। परमात्मा मानवशरीर धारण करता है, ऐसी मान्यता मूढ़ता का लक्षण है, कृष्ण का यह कथन कितना स्पष्ट है!

महेश्वर भूत से, भौतिकता से पर है, अतिशय परे है, इस रहस्य को अविवेकी जन नहीं समझते हैं।

३५० 'मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः।१२

'(मोघ-आ-शाः) क्षणिक आ-शाओं को संजोनेवाले, (मोघ-कर्माणः) निरर्थक कर्मों को करनेवाले, (मोघ-ज्ञानाः) मिथ्या-ज्ञानी (वि-चेतसः) चेतना-विहीन [जन] (राक्षसीम् आसुरीम् च मोहिनीम् प्र-कृतिम् एव) राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्र-कृति को ही (श्रिताः) आश्रय किए रहते [हैं]।

महेश्वर का मानुषी जन्म माननेवालों के समान ही प्रकृतिवादी भी घोर अविवेकी हैं। वे न महेश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, न आत्मा की सत्ता को मानते हैं। वे यह मानते हैं कि केवल प्रकृति ही प्रकृति है और स्वयं प्रकृति द्वारा निर्धारित नियमों के अधीन सब कुछ स्वयमेव होरहा है। ये प्रकृतिवादी भी मूढ़, मतिमन्द हैं।

३५१ 'महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।१३

'(पार्थ) पृथापुत्र [अर्जुन]! (दैवीम् प्र-कृतिम् आ-श्रिताः महात्मानः तु) दैवी स्वभाव से आ-श्रित महात्मा तो (माम्) मुझे (भूत-आदिम्) भूतों का आदि [महेश्वर तथा] (अ-वि-अयम्) अ-वि-नाशी (ज्ञात्वा) जानकर (अन-अन्य-मनसः)

अनन्य मन से युक्त रहते हुए मुझे (भजन्ति) भजते हैं।

पूर्व दो श्लोकों के अनुसार राक्षसी प्रकृति के आश्रित मोघकर्मा, मोघज्ञान, अविवेकी मूढ़ जन ऐसा मानते हैं कि परमात्मा मानवशरीर धारण करता है। उसी भाव का अनुमोदन करते हुए इस श्लोक में कहा गया है कि दैवी प्रकृति के आश्रित महात्मा जन परमात्मा को भूतादि और अविनाशी जानकर अनन्य मन से उसकी उपासना करते हैं।

ग्यारहवें श्लोक में जिस सत्ता को *भूतमहेश्वर* कहा गया है, इस श्लोक में उसी को *भूतादि* कहा गया है। *भूतमहेश्वर* तथा *भूतादि* शब्द पर्यायवाची हैं। सब भूतों का आदि महेश्वर होने से परमात्मा भूतादि है।

३५२ **'सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।**
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते।१४

'(दृढ-व्रताः नित्य-युक्ताः) दृढ़-व्रत सदा-समाहित [योगी जन] (सततम्) निरन्तर (माम् कीर्तयन्तः) मुझे कीर्तते हुए (च) और (यतन्तः) यत्न करते हुए (च नमस्यन्तः) और नमन करते हुए (भक्त्या माम् उप-आसते) भक्ति-भाव से मुझे उपासते हैं।

कीर्तन का अर्थ है कीर्ति-गान, स्तवन, गुणों का वर्णन करना। *यत्न* से तात्पर्य साक्षात्कार की साधना करने से है।

दृढ़व्रत भक्त जन ही अपनी सम्पूर्ण भावना से ब्रह्म में समाहित रहते हुए निरन्तर पर ब्रह्म के दिव्य गुणों का वर्णन अथ वा स्तवन करते रहते हैं, उसके साक्षात्कार का यत्न करते रहते हैं, सदैव उसे नमन करते रहते हैं, और भक्तिपूरित हृदय से उसकी सदैव उपासना करते हैं।

३५३ **'ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।**
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्।१५

'[उपासक जन] (माम् विश्वतः-मुखम्) मुझ सर्वतो-मुख [सर्वव्यापक] को (ज्ञान-यज्ञेन यजन्तः) ज्ञान-यज्ञ से संगत करते हुए (एकत्वेन) एकत्व से, (पृथक्त्वेन) पृथक्त्व से, (च) और (अन्ये अपि) दूसरे भी (बहु-धा) बहुत प्रकार से (उप-आसते) उपासते हैं।

ब्रह्म सर्वतोमुख है। अपनी सर्वव्याप्ति से वह सर्वत्र, सब ओर, सबको देख रहा है। उस सर्वव्यापक ब्रह्म को ज्ञानी उपासक अनेक प्रकार से उपासते हैं।

कोई ज्ञानी उसे एकत्व के साथ उपासते हैं। धारणा, ध्यान, समाधि द्वारा आत्मना ब्रह्म से एकाकार होकर जो उपासना की जाती है उसका नाम है एकत्व उपासना।

कोई ज्ञानी उसे पृथक्त्व के साथ उपासते हैं। ब्रह्म के सत्य स्वरूप का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके जो उसके साक्षात्कार की साधना में संलग्न हैं पर जिन्हें अभी उसका साक्षात्कार नहीं हुआ है उनकी उपासना पृथक्त्व उपासना है।

उपर्युक्त दोनों ही प्रकार के उपासक ज्ञान द्वारा ब्रह्म से संगत होकर ही उसकी उभयतः उपासना कर पाते हैं। ज्ञान के बिना दोनों ही प्रकार की उपासना सर्वथा असम्भव है।

बहुत से उपासक अन्य प्रकार से भी उसकी उपासना करते हैं। कोई उसका स्तवन करते हैं। कोई उससे प्रार्थना करते हैं। कोई गायत्री मन्त्र का अनुष्ठान करते हैं। कोई महामृत्युञ्जय मन्त्र का अनुष्ठान करते हैं। कोई भक्ति के ग्रन्थों का पाठ करते हैं।

ज्ञानयज्ञेन यजन्तः में योगक्षेत्र का एक गूढ़ रहस्य निहित है। *यज्ञ इति संगतिकरणम्।* यज्ञ नाम संगतिकरण का है। *ज्ञानयज्ञ* का अर्थ है ज्ञान द्वारा संगत होना। किसी भी सत्य के साक्षात्कार के लिए तत्सम्बन्धी साधना की जाती है। बिना साधना के साक्षात्कार कदापि नहीं हो सकता। किसी भी कार्य को करने के लिए, किसी भी यन्त्र के संचालन के लिए, किसी भी वस्तु वा भोग के संसेवन के लिए, सर्वप्रथम, तत्सम्बन्धी सम्यक् ज्ञान सम्पादन कर लेना परमावश्यक होता है।

ब्रह्म की उपासना के लिए भी प्रथम साधन ज्ञान ही है। ब्रह्म की उपासना करने से पूर्व ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का और ब्रह्मोपासना की सत्य विधि का ज्ञान उपलब्ध करना चाहिए। ब्रह्मस्वरूप तथा उपासनाविधि के यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि के लिए श्रवण, मनन और निदिध्यासन, ये तीन उपाय हैं। सिद्ध जनों के मुख से श्रद्धापूर्वक सुनना श्रवण है। सुने हुए पर एकान्त, शान्त चिन्तन करना मनन है। श्रवण और मनन से निश्चयात्मक निष्कर्ष वा तत्सम्बन्धी बोध प्राप्त करके अभ्यास करना निदिध्यासन है। तीनों साधनों से ज्ञानसम्पन्न अथ वा प्रबुद्ध होकर ही उपासना की जा सकती है, अन्यथा नहीं।

३५४ 'अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रो ऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्।१६

'(अहम् क्रतुः) मैं क्रतु [हूं]। (अहम् यज्ञः) मैं यज्ञ [हूं]। (स्व-धा अहम्) स्व-धा मैं [हूं]। (अहम् औषधम्) मैं ओषधि [हूं]। (मन्त्रः अहम्) मन्त्र मैं [हूं]। (अहम् एव आज्यम्) मैं ही घृत [हूं]। (अहम् अग्निः) मैं [ही] अग्नि [हूं]। (अहम् हुतम्) मैं हुत [हूं]।

अध्यात्मक्षेत्र में ब्रह्म ही क्रतु है, कर्तृत्व है, साधनीय है। ब्रह्म के साक्षात्कार की प्रसाधना ही *यज्ञ* है। ब्रह्म ही *स्वधा* [अमृत, हवि, भोजन है]। ब्रह्म ही *औषधि* [दोष-धि, दोष-निवारक] है। ब्रह्म ही *मन्त्र* [मननीय] है। ब्रह्म ही *घृत* [स्निग्ध-स्नेह, प्रेमाधार] है। ब्रह्म ही *अग्नि* है और ब्रह्म ही *हुत* [समर्पणीय] है।

३५५ 'पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च।१७

'(अहम्) मैं (एव) ही (अस्य जगतः) इस जगत् का (पिता, माता, धाता, पितामहः) पिता, माता, धारक [और] पिताओं का पिता [हूं], (वेद्यम्) जानने-योग्य [हूं], (पवित्रम्) पवित्रता [हूं], (ओम्-कारः) ओं-कार [हूं], (ऋक्) ऋक्, (साम) साम (च) और (यजुः) यजु [हूं]।

ब्रह्म ही इस जगत् का, इस अनन्त और असीम सृष्टि का पिता [रक्षक], माता [निर्माता], धाता [धारक], (पिता-महः) महान् रक्षक, वेद्य [जानने-योग्य] है। जिसने उसे नहीं जाना उसने कुछ नहीं जाना। पवित्र [पवित्रता का स्रोत] ओंकार [ओं-पद-वाच्य], ऋक् [विजाननीय], साम [उपासनीय] और यजु [कर्मकाण्ड] है। उसी की प्राप्ति के लिए ऋग्वेद की ऋचाएं हैं, सामवेद की गीतियां हैं और यजुर्वेद की कर्मसाधना है।

३५६ 'गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।१८

'[मैं ही इस जगत् का] (गतिः) प्रेरक, (भर्ता) पोषक, (प्र-भुः) स्वामी, (साक्षी) द्रष्टा, (नि-वासः) आ-श्रय, (शरणम्) रक्षा, (सु-हृत्) मित्र, (प्र-भवः) जनक, जनिता, (प्र-लयः) प्र-लय [और] (स्थानम्) स्थिति–स्थान, सहारने-वाला, (नि-धानम्) आ-धार [तथा] (अ-वि-अयम् बीजम्) अ-वि-नाशी बीज, अमर उत्पादक [हूं]।

ब्रह्म ही इस समष्टि का प्रेरक, पोषक, स्वामी, द्रष्टा, आश्रय, रक्षा, मित्र, जनक, संहारक, आधार और रचयिता है।

३५७ 'तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।१९

'(अर्जुन) अर्जुन ! (अहम् तपामि) मैं तपता-तपाता हूं, (अहम् वर्षम् नि-गृह्णामि च उत्-सृजामि) मैं वर्षा को रोकता हूं और छोड़ता हूं। (अहम् एव) मैं ही (अ-मृतम् च मृत्युः च) जीवन और मरण [हूं], (सत् च अ-सत्) सत्ता और असत्ता अस्तित्व और अनस्तित्व [हूं]।

ब्रह्म की सर्वव्याप्ति और उसके सर्वव्यापी प्राकृतिक नियमों के अधीन ही सूर्य तप रहा है, वृष्टि और अनावृष्टि होरही है, जीवन और मरण हो रहा है, सृष्टियां अस्तित्व में आती और प्रलीन होजाती हैं।

३५८ 'त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्।२०

'(त्रै-विद्याः, सोम-पाः, पूत-पापाः) त्रै-विद्य, सोम-पायी, पूत-पाप [जन] (यज्ञैः माम् इष्ट्वा) यज्ञों से मुझे इष्ट करके (स्वः-गतिम् प्र-अर्थयन्ते) स्वर्ग-गति चाहते हैं। (ते) वे (पुण्यम् आ-साद्य) पुण्य को प्राप्त होकर (दिवि) द्यौ, दिव्य स्वर्ग में (सुर-इन्द्र-लोकम्) सुर-इन्द्र-लोक, इन्द्रिय-विलास के लोक को [तथा] (दिव्यान् देव-भोगान्) दिव्य स्वर्ग-भोगों को (अश्नन्ति) भोगते हैं।

३५९ 'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते।२१

'(ते त्रयी-धर्मम् अनु-प्र-पन्नाः, काम-कामाः) वे त्रयी-धर्म को आश्रय किए हुए, कामनाओं के चाहनेवाले (तम् वि-शालम् स्वः-ग-लोकम् भुक्त्वा) उस वि-शाल स्वर्ग लोक को भोगकर (पुण्ये क्षीणे) पुण्य के क्षीण होने पर (मर्त्य-लोकम् विशन्ति) मर्त्य-लोक में प्रवेश करते हैं [और] (एवम्) इस प्रकार (गत-आ-गतम्) आने-जाने को, गमनागमन को (लभन्ते) प्राप्त होते रहते हैं।

याज्ञिक क्रियाओं की दृष्टि से तीन विद्याएं हैं—कल्प [यज्ञवेदि, आदि का निर्माण], हविःसम्पादन और मन्त्र-विनियोग। उनके तीन धर्म वा परिणाम हैं पुण्यापुण्य, स्वर्ग-मर्त्य, पुनर्जन्म।

सोमपाः=सोमपायी, जो यज्ञानुष्ठान के दिनों में दुग्ध, फलाहार, फलरस, आदि का सेवन करते हैं।

पूतपापाः=पूत-पाप, जो व्रती बनकर यज्ञानुष्ठान में पापमुक्त रहते हैं।

स्वर्ग नाम सुखैश्वर्य की अवस्था का है। जहां विपुल धन और सब प्रकार का सुख-विलास तथा ठाट-बाट हो उसी स्थान का नाम *स्वर्ग* है, उसी अवस्था का नाम *सुरेन्द्रलोक* है और उन्हीं सुख-विलासों का नाम *दिव्य देवभोग* है। जो लोग घोर श्रम करके सकष्ट जीवनयापन करते हैं उनका नाम *मर्त्य* है और उनकी उस अवस्था का नाम *मर्त्यलोक* है। *मर्त्य* का अर्थ है मर-मरकर जीनेवाला, लष्टं-पष्टं गुजर करनेवाला।

स्वर्गकामो यजेत, स्वर्गकामी यज्ञानुष्ठान करे। *मोक्षकामी ध्यायेत्*, मोक्षकामी ध्यानयोग का अनुष्ठान करे। स्वर्गकामी बड़े बड़े यज्ञों का अनुष्ठान करते हैं और दान-पुण्य करते हैं। उस पुण्य के आश्रय से जन्म-जन्मान्तर तक उनकी कामनाएं सफल होती हैं। पुण्योदयकाल में वे स्वर्गस्थिति को पुनः पुनः प्राप्त

होते रहते हैं और दिव्य भोगों को भोगते रहते हैं। पुण्य के क्षीण होने पर वे पुनः सामान्य मर्त्यस्थिति में जन्म लेते हैं।

जिस प्रकार यज्ञ और स्वर्ग का घनिष्ठ सम्बन्ध है उसी प्रकार ध्यान और मोक्ष का सम्बन्ध है। यज्ञ से स्वर्ग और दिव्य भोगों का योग होता है तो ध्यानयोग से आत्मा का ब्रह्म से संयोग होता है।

स्वर्गस्थिति और मर्त्यस्थिति, ये दो ही स्थितियां गमनागमन की हैं। जब तक मोक्ष की सिद्धि नहीं होती तब तक प्रत्येक आत्मा इन दो अवस्थाओं में होकर निरन्तर गुज़रता रहता है।

३६० 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।२२

'(ये अन्-अन्याः जनाः) जो अनन्य जन (माम् चिन्तयन्तः परि-उप-आसते) मुझे चिन्तन करते हुए परि-उपासते हैं (तेषाम् नित्य-अभि-युक्तानाम्) उन नित्य-अभि-युक्तों का (योग-क्षेमम्) योग-क्षेम (अहम् वहामि) मैं वहन करता हूं।

अनन्य जन नाम उन प्रेमी भक्तों का है जिनकी एकमात्र तमन्ना प्रभु के मिलन की है, जिनकी सर्वोपरि अभिलाषा अपने प्रियतम से एकाकार होजाने की है, जिनकी एकमात्र कामना प्रभुसंदर्शन है।

चिन्तन उपासना का वास्तविक और गहनतम साधन है। सच्ची भक्ति, अनन्य प्रेम वह है जिसमें भक्त खाते-पीते, सोते-जगते, चलते-फिरते, रोते-हंसते, करते-धरते, भोगते-विलासते, प्रतिक्षण अपने प्रियतम के चिन्तन में निमग्न रहता है।

उपासना नहीं, परि-उपासना अनन्य जनों की साध है। उसी की चर्चा, उसी की याद, उसी का ज्ञान, उसी का चिन्तन, उसी का ध्यान, उसी का राग, उसी का अनुराग, उसी की तलाश, उसी में समाहिति—यही परि-उपासना है।

नित्य-अभि-युक्त नाम उन भक्तों का है जो सम्पूर्ण भावना से आत्मना ब्रह्म से युक्त रहते हैं, जिन्हें सब ओर, सबमें उसी की छटा-छवि दिखाई पड़ती है, जिन्हें विश्व का प्रत्येक पदार्थ प्रियतम की याद दिलाता है, जिन्हें हर नग़मे में उसी का नग़मा सुनाई पड़ता है, जिन्हें हर सौन्दर्य में उसी का जमाल और हर वस्तु में उसी का कमाल दिखाई पड़ता है।

योगक्षेम का प्रयोग यहां भौतिक अथ वा सांसारिक प्राप्ति तथा रक्षा अर्थ में न होकर गहन आध्यात्मिक अर्थ में हुआ है। *योग* का अर्थ है मिलन, वस्ल। *क्षेम* का अर्थ है राहत, सुख, शान्ति, सुरक्षा।

जो अनन्य, नित्याभियुक्त, भक्त जन उस परम पावन, पर ब्रह्म के सतत

चिन्तन में लीन रहते हुए उसकी परि-उपासना करते हैं और आत्मना उससे युक्त रहते हैं उनकी राहत और सुरक्षा का भार वह प्रियतम देव स्वयं वहन करता है। उसके अनन्य भक्त अपने योग और क्षेम के विषय में निश्चिन्त और निर्द्वन्द्व रहते हैं। मिलन होगा ही, कल्याण होगा ही, ऐसी उनकी मान्यता होती है।

३६१ 'ये ऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धान्विताः।
ते ऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ।२३

'(कौन्तेय) कुन्तीपुत्र [अर्जुन]! (श्रत्-धया अनु-इताः) श्रद्धा से प्रेरित हुए (ये अपि भक्ताः) जो भी भक्त (अन्य-देवताः) अन्य [प्राकृतिक] देवों को (यजन्ते) संगत करते हैं (ते अपि) वे भी (अ-विधि-पूर्व-कम्) अ-विधि-पूर्व-क (माम् एव यजन्ति) मुझे ही संगत करते हैं।

प्राकृतिक देव प्रकर्ता की प्र-कृति [प्रकृष्ट-कृति] हैं। कृति की उपासना में कर्ता की उपासना है। कृति की स्तुति में प्रकर्ता की स्तुति है। यह कृति-उपासना अथ वा कृति-स्तवन अविधिपूर्वक कर्ता की उपासना तथा स्तुति है। भौतिक विज्ञान के उपासक भी असीधे तरीक़े से ब्रह्मविज्ञान की ओर जा रहे हैं।

कोई सीधे नियन्ता की उपासना कर रहे हैं। कोई नियन्ता के विश्वव्यापी नियमों की उपासना के आश्रय से असीधे उसकी ओर जारहे हैं।

३६२ 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ।२४

'(हि) निश्चय से, (अहम् एव सर्व-यज्ञानाम् भोक्ता च प्र-भुः च) मैं ही सब यज्ञों का भोक्ता और ईश [हूं]। (तु) किन्तु (ते माम् तत्त्वेन न अभि-जानन्ति) वे मुझे तत्त्व से नहीं जानते हैं, (अतः) इस लिए (च्यवन्ति) गिरते हैं।

सृष्टि में जितने भी प्राकृतिक यज्ञ होरहे हैं उन सबका सम्पादक और अधीश परमात्मा ही है। जो इस तत्त्व को समझते हैं वे परमात्मा के निज अस्तित्व और स्वरूप की उपासना करते हैं और विष्णु के परमोच्च धाम [मोक्ष] की ओर ऊंचे उठते चले जाते हैं। जो इस तत्त्व से अनभिज्ञ हैं वे अन्य प्राकृतिक देवों की और प्राकृतिक-अप्राकृतिक यज्ञों की साधना करते हैं। वे ऊपर न चढ़कर कर्मफलाश्रित योनियों के निम्न धामों में विचरते हैं।

३६३ 'यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनो ऽपि माम् ।२५

'(देव-व्रताः देवान् यान्ति) देव-व्रत देवों को प्राप्त होते हैं। (पितृ-व्रताः पितॄन् यान्ति) पितृ-व्रत पिताओं को प्राप्त होते हैं। (भूत-इज्याः भूतानि

यान्ति) भूत-याजी भूतों को प्राप्त होते हैं। (मत्-याजिनः अपि माम् यान्ति) मुझे संगत करनेवाले ही मुझे प्राप्त होते हैं।

जो प्राकृतिक देवों के व्रती हैं वे उनका साक्षात्कार करके विज्ञानों का आविष्कार करते हैं। जो पितृव्रत हैं वे पितृत्व को प्राप्त करके पिता [माता-पिता] बनते हैं। जो जल, वायु, पृथिवी, आदि भूतों की शुद्धि के लिए यज्ञ करते हैं वे भौतिक सम्पदाओं से सम्पन्न होते हैं। जो ब्रह्मप्राप्ति के लिए ब्रह्म-यज्ञ [आत्मसाधना] करते हैं वे ब्रह्म का साक्षात्कार करके ब्रह्म के संदर्शन में संस्थित रहते हैं।

३६४ 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ।२६

'(मे) मेरे लिए, मुझे लक्ष्य करके, मेरे प्रति भावित—अर्पित होकर, मेरे नाम पर (यः) जो (पत्रम्, पुष्पम्, फलम्, तोयम्) पत्र, पुष्प, फल, जल (भक्त्या) सप्रेम (प्र-यच्छति) दान करता है, (प्र-यत-आत्मनः तत् भक्ति-उप-हृतम्) सु-संयतात्मा के उस भक्तिपूर्वक अर्पित [दान] को (अहम् अश्नामि) मैं भक्षण करता हूं।

प्रभु की प्रजा को खिलाना-पिलाना ही भगवान् को खिलाना-पिलाना है। यहां जिसके पास जो कुछ है वह सब जगदीश का है। जगदीश को अर्पण की भावना से जो दान दिया जाता है वही दान भगवान् की वस्तु का भगवदर्पण है।

३६५ 'यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम् ।२७

'(कौन्तेय) कुन्तीपुत्र [अर्जुन]! तू (यत् करोषि) जो करता है, (यत् अश्नासि) जो खाता है, (यत् जुहोषि) जो होमता है, (यत् ददासि) जो देता है, (यत् तपस्यसि) जो तपस्या करता है (तत् मत्-अर्पणम् कुरुष्व) वह मेरे अर्पण कर।

अर्पण का एक रहस्य है जिसके मर्म को भुलाकर संसार अर्पणभ्रष्ट होगया है। *यथा देव तथा अर्पण*, अर्पणविज्ञान का यह एक स्पष्ट किन्तु दुस्तर सूत्र है। परमात्मा शुद्ध-सुकर्मा है। उसे शुद्ध-सुकर्म ही अर्पण किए जा सकते हैं। शुद्ध-सात्त्विक भक्ष्य का भक्षण करके ही भक्त शुद्ध भावना से अपने खान-पान को भगवदर्पण करने का अधिकारी बन सकता है। इसी प्रकार, सात्त्विक आहुति, सात्त्विक दान और सात्त्विक तपस्या ही ब्रह्मार्पणीय है। जो कुछ शुभ और शुद्ध है केवल वही ब्रह्मार्पणीय है। ब्रह्म शुद्ध देव है। वह अशुद्ध अर्पण स्वीकार कर ही नहीं सकता। शुद्ध देव को शुद्ध वस्तु ही अर्पण की जानी चाहिए। किसी महात्मा को भी दुग्ध अर्पण किया जाए तो वह उसे

स्वीकार कर लेगा। उसे शराब अर्पण की जाए तो वह उसे कदापि स्वीकार न करेगा।

भगवदर्पण का एक दूसरा पहलू भी है जो अपेक्षाकृत और भी दुस्तर है। वह है स्वसत्ता का ब्रह्माग्नि में समर्पण। काला कोयला, काला रहते हुए ही, अग्नि में अर्पित होता है और अग्नि स्वयं उसे निज रूप से रूपित कर लेता है। पापी होते हुए भी यदि भक्त सर्वभावेन ब्रह्मार्पण होता है तो निश्चय ही वह ब्राह्म गुणों से युक्त होजाता है। इसी का नाम ब्रह्मरूपता है। वह अर्पण अर्पण नहीं जिससे अर्पित तद्रूप न होजाए।

जो सर्वात्मना ब्रह्म को अर्पित होता है उसे कभी किसी भी स्थान, अवस्था और परिस्थिति में चिन्ता, भय, संशय, विषाद और विकार नहीं सताते हैं। उसे अपनी साध और साधना की सफलता में अविचल विश्वास होता है। वह प्रत्येक क्षेत्र में सफल और विजयी ही होता है। वह सदैव शुद्ध—परिशुद्ध ही रहता है।

संसार में सर्वातिशय दुस्तर यदि कोई कार्य है तो वह समर्पण है और सर्वाधिक सरल भी कोई कार्य है तो वह समर्पण ही है।

३६६ 'शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि।२८

'(सम्-नि-आस-योग-युक्त-आत्मा) सं-न्यास योग से आत्मना युक्त तू (एवम्) इस प्रकार (शुभ-अ-शुभ-फलैः कर्म-बन्धनैः) शुभ अ-शुभ फलोंवाले कर्मबन्धनों से (मोक्ष्यसे) मुक्त होजाएगा। (वि-मुक्तः) मुक्त हुआ तू (माम् उप-एष्यसि) मुझे प्राप्त करेगा।

सब कुछ प्रभु को अर्पण करके, अर्पित रहते हुए कर्म करना ही वास्तविक संन्यास है। *संन्यास* का अर्थ है सम्यक् त्याग। *त्याग* का अर्थ छोड़ कर चले जाना नहीं है। जो वस्तु जिसकी है उसे उसी को अर्पण करना और अर्पित रखना सच्चा त्याग वा संन्यास है। यहां सब कुछ प्रभु का है। अपनी सम्पूर्ण भावना से तन, मन, धन, सब कुछ प्रभु को अर्पित रखते हुए जो जीता है वह जीते जी ही जीवन्मुक्त होजाता है और देह त्यागने पर मोक्ष प्राप्त करता है। जो जीते जी मुक्त नहीं हुआ है वह देह त्यागकर कदापि मुक्त न होसकेगा।

३६७ 'समो ऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्यो ऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।२६

'(समः अहम् सर्व-भूतेषु) सम [हूं] मैं सब भूतों में। [मैं सब प्राणियों में समानरूप से व्याप रहा हूं।] [कोई] (न मे द्वेष्यः अस्ति न प्रियः) न मेरा द्वेष्य

है, न प्रिय। [न मुझे किसी से द्वेष है, न आसक्ति।] (तु) किन्तु (ये) जो (माम् भक्त्या भजन्ति) मुझे भक्ति के साथ भजते हैं (मयि ते) मुझमें वे [हैं] (च) और (अहम् अपि तेषु) मैं भी उनमें [हूं]।

श्लोक में एक ओर कहा गया है कि परमात्मा न किसी से द्वेष करता है न स्नेह। दूसरी ओर कहा गया है कि जो प्रभु से भक्ति—प्रेम करता है वह प्रभु में है और प्रभु उसमें है। यहां कोई असंगति नहीं है। जो प्रभु से बंध जाता है वह प्रभु को बांध लेता है।

३६८ 'अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ।३०

'(सु-दुः-आ-चारः अपि) सु-दुरा-चारी भी (चेत्) यदि (अन्-अन्य-भाक्) अनन्य भक्त [बनकर] (माम् भजते) मुझे भजता है, (सः साधुः एव मन्तव्यः) वह साधु ही माना जाने योग्य [है] (हि सः सम्यक् वि-अव-सितः) क्यों कि वह पूर्ण निश्चयवाला [है]।

काला कोयला जब अग्नि में अर्पित होकर अग्नि को भजता [सेवन करता] है तो वह कालिमामुक्त होकर अग्निरूप होजाता है। कल्मषोपेत, दुराचारी मनुष्य भी जब आत्मनिष्ठा के साथ प्रभु को अर्पित होकर प्रभु को भजता [सेवन करता] है तो, निश्चय ही, वह साधु होजाता है, दुराचारी नहीं रहता है; रह ही नहीं सकता है। अनन्य भाव से प्रभु की भक्ति वही कर सकता है जो दृढ़निश्चय होता है।

३६९ 'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ।३१

'वह (क्षिप्रम् धर्म-आत्मा भवति) शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है [और] (शश्वत् शान्तिम् नि-गच्छति) शाश्वत शान्ति को प्राप्त होता है। (कौन्तेय) कुन्तीपुत्र [अर्जुन]! (प्रति-जानीहि) याद रख, (मे भक्तः न प्र-नश्यति) मेरा भक्त वि-नष्ट नहीं होता है।

जो वास्तव में प्रभु का भक्त है वह निश्चय ही धर्मात्मा बन जाता है। वह सदैव शान्त रहता है। उसका विनाश नहीं, कल्याण ही होता है।

३७० 'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।३२

'(पार्थ) पृथापुत्र [अर्जुन]! (पाप-योनयः) पाप-योनि, पापी [जन] (ये अपि स्युः) जो भी हों [और] (स्त्रियः, वैश्याः तथा शूद्राः) स्त्रियां, वैश्य [जन] तथा शूद्र [जन]—(ते अपि) वे भी (माम् हि वि-अप-आ-श्रित्य) मुझे ही आ-श्रय करके (पराम् गतिम् यान्ति) पर गति [मोक्ष] को प्राप्त होते हैं।

प्रभु को आश्रय करके, उसी में समाहित रहने से सब कोई परम गति प्राप्त करते हैं। स्त्री, वैश्य और शूद्र पापयोनियां हैं, इस बात की तनिक भी गन्ध इस श्लोक में नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह स्त्री हो वा पुरुष, ब्राह्मण हो वा क्षत्रिय, वैश्य हो वा शूद्र, जो भी धर्माचरण करता है वह धर्मयोनि [धर्मात्मा] है और जो भी अधर्माचरण वा पापाचरण करता है वह पापयोनि [अधर्मात्मा, पापात्मा] है।

३७१ **'किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।**
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ।३३

'(पुनः) फिर (पुण्याः भक्ताः) धर्मात्मा भक्तों (तथा) तथा (ब्राह्मणाः, राज-ऋषयः) ब्राह्मणों [और] राजर्षियों [का तो कहना ही] (किम्) क्या है ! (अ-नित्यम्, अ-सुखम् इमम् लोकम्) अ-नित्य [और] अ-सुखकर इस लोक को (प्र-आप्य) प्राप्त करके, प्राप्त हुआ (माम् भजस्व) मुझे भज, मेरा भजन [सेवन] कर ।

संसार में जो कुछ है, प्रत्यक्षतः, वह सब अनित्य है, सदा रहनेवाला नहीं है। सांसारिक हर सुख में दुःख निहित है। शाश्वत, सतत सुखकर तो केवल परमात्मा है। अतः सर्वात्मना उसी का सेवन करके मानव इस लोक से तर कर परम गति को प्राप्त करता है।

३७२ **'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।**
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ।'३४

'(भव) हो, रह (मत्-मनाः) मुझसे मनसा अनुरक्त, (मत्-भक्तः) मेरा भक्त, (मत्-याजी) मुझसे संगत [और] (मत्-पर-अयनः) मत्-परायण। (माम् नमः कुरु) मुझे नमन कर। तू [मुझसे] (एवम्) इस प्रकार (आत्मानम् युक्त्वा) आत्मा को युक्त—समाहित करके (माम् एव एष्यसि) मुझे ही प्राप्त करेगा।'

जैसा कि बार बार लिखा जा चुका है, यह स्मरण रखना चाहिए कि सम्पूर्ण गीता में कृष्ण तात्स्थ्य-स्थिति में बोल रहे हैं, ब्रह्म में स्थित हुए ब्रह्मवत् बोल रहे हैं, ब्रह्म के स्थान में स्थित होकर बोल रहे हैं, ब्राह्मी स्थिति में बोल रहे हैं, या कहिए, पात्रवत् ब्रह्म का पात्र बनकर बोल रहे हैं।

दसवां अध्याय

श्रीभगवानुवाच

३७३ 'भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत् ते ऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ।१

तात्स्थ्य स्थिति में कृष्ण अर्जुन से कहे चले जारहे हैं, '(महा-बाहो) महा-वीर [अर्जुन] ! (भूयः एव शृणु) फिर से सुन (मे परमम् वचः) मेरे परम कथन को (यत्) जो (अहम् ते प्रीयमाणाय) मैं तुझ प्रीतिमान् के प्रति (हित-काम्यया) हित-कामना से (वक्ष्यामि) कहूंगा ।

३७४ 'न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ।२

'(मे प्र-भवम्) मेरे सु-अस्तित्व को (न सुर-गणाः विदुः न महर्षयः) न देवजन जानते हैं न महर्षिजन । (अहम् हि आदिः) मैं ही आदि [हूं] (सर्वशः) सब प्रकार से (देवानाम् च महर्षीणाम्) देवों और महर्षियों का ।

सु में रमण जो करता है उसे सुर कहते हैं । सुर कभी भी कु के निकट नहीं जाते हैं; वे तो सदैव सु में रत रहते हैं । जो दिव्य जन मानवजाति को दिव्यता का दान देते हैं, दिव्य गुण, कर्म, स्वभाव प्रदान करते हैं वे देव कहलाते हैं । आदिः शब्द का प्रयोग यहां आदि, उपास्य देव, परमेश्वर अर्थ में हुआ है ।

प्रभु की अनन्त, असीम, अगोचर सुसत्ता की थाह न सुरगण पाते हैं, न देवजन । परमात्मा देवों और महर्षियों का सर्वशः आदि देव, उपास्य देव है ।

३७५ 'यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ।३

'(यः) जो (माम् अ-जम् च अन्-आदिम् लोक-महा-ईश्वरम्) मुझ अ-जन्मा और अनादि, लोकों के महान् स्वामी को (वेत्ति) जानता है, (मर्त्येषु अ-सम्-मूढः सः) मनुष्यों में संज्ञानी वह (सर्व-पापैः प्र-मुच्यते) सब पापों से मुक्त होजाता है ।

जो उस अजर, अनादि, सर्वेश्वर ब्रह्म को साक्षात् जान लेता है वह संज्ञानी न केवल सब पापों से मुक्त होता है अपि तु मृत्यु को लांघकर शास्वत मोक्ष को प्राप्त करता है ।

३७६ 'बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवो ऽभावो भयं चाभयमेव च ।४

३७७ 'अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशो ऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ।५

'(बुद्धिः) बुद्धि, (ज्ञानम्) ज्ञान, (अ-सम्-मोहः) विवेक, (क्षमा) क्षमा, (सत्यम्) सत्य, (दमः) दमन, इन्द्रियनिग्रह, (शमः) शमन, (सुखम्, दुःखम्) सुख-दुख, (भवः च अ-भावः) भाव और अ-भाव, (भयम् च अ-भयम् एव) भय और अ-भय भी, (अ-हिंसा) अ-हिंसा, (समता) समता, (तुष्टिः) सन्तोष, (तपः) तप, (दानम्) दान, (यशः) यश, (अ-यशः) निर्यशता, अप-यश, (भूतानाम्) प्राणियों के (पृथक्-विधाः) अनेक-विध (भावाः) भाव, ये सब (मत्तः एव) मुझसे ही (भवन्ति) होते हैं।

परमात्मा न्यायकारी है और कर्मफलप्रदाता है। जो जैसा करता है प्रभु की न्यायव्यवस्था से उसे वैसा ही फल मिलता है। जो शुभसाधना और शुभकर्म कर रहा है वह बुद्धिमान्, ज्ञानी, विवेकी बनकर क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, भाव, अभय, अहिंसा, समता, सन्तोष, तप, दान, यश, आदि उत्तम सम्पदाओं से युक्त होता है। जो प्रभु के सुनियमों का उल्लंघन करता है वह दुःख, अभाव, भय, अपयश, आदि का भागी बनता है।

३७८ **'महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।**
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः।६

'(सप्त महा-ऋषयः) सात महर्षि, (पूर्वे चत्वारः) आदिम चार ऋषि, (मनवः) [सब] मनु (तथा) तथा (मानसाः) [सब] मानस, (येषाम् लोके इमाः प्र-जाः) जिनकी लोक में ये [सब] प्र-जाएं (जाताः) हुई [हैं], सब (मत्-भावाः) मुझमें भावना रखनेवाले [हुए हैं]।

चार आदिम ऋषि थे अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा। उनके बाद महर्षि ब्रह्मा की वंशपरम्परा से सम्बन्धित सात महर्षि। साथ ही उनके समकालिक आदिम मानव। सब ब्रह्मभाव से भावित थे।

३७९ **'एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।**
सो ऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।७

'(मम एताम् वि-भूतिम् च योगम्) मेरी इस विभूति और योग को (यः तत्त्वतः वेत्ति) जो तत्वतः जान लेता है (सः अ-वि-कम्पेन योगेन युज्यते) वह अ-वि-कम्प योग से युक्त होजाता है। (अत्र) यहां, इसमें (सम्-शयः न) सं-शय नहीं [है]।

तात्स्थ्य-स्थिति के अतिरिक्त एक और स्थिति है जिसे पात्र-स्थिति कहते हैं। साहित्य की एक शैली पात्रशैली है। गीता-कार ने गीता की रचना पात्रपद्धति से की है। उसने कृष्ण को ब्रह्म-पात्र बनाया है और अर्जुन को जीव-पात्र। रामलीला की जाती है तो कोई पात्र सीता का अभिनय करता है, कोई राम का, कोई रावण का। उन पात्रों को कोई वास्तविक राम, सीता

और रावण समझने लगे वा उन्हें राम, सीता और रावण का अवतार समझ बैठें तो वह उसकी भूल है। यहां *गीता*-कार ने तथ्य और तत्त्व का प्रकाशन कृष्ण को ब्रह्म का पात्र और अर्जुन को आत्मा का पात्र बनाकर किया है।

अविकम्प योग से तात्पर्य योगसिद्ध योगी के योग की उस स्थिति से है जिसमें स्थित होकर वह तत्त्ववेत्ता तथा साक्षात्कर्मा बनकर भय और संशय से नितान्त मुक्त हुआ अविचल भाव से विचरता और कर्म करता है। ब्राह्म विभूति और ब्राह्म योग से युक्त योगी तत्त्ववेत्ता बनकर अविचल और संशयरहित होजाता है, इसमें सन्देह ही क्या है! अविचलता संशयराहित्य का परिणाम है। संशयरहित होजाने पर ही मानव अविचल रह पाता है, अन्यथा नहीं।

३८० **'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।**
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः।८

'(अहम् सर्वस्य प्र-भवः) मैं सबका उत्पत्तिकर्ता [हूं, अखिल सृष्टि मेरी कृति है, मुझसे सबका प्रभवन हुआ है]। (मत्तः सर्वम् प्र-वर्तते) मुझसे सब प्रवर्तित हैं [मैं अखिल सृष्टि का संचालक हूं], (इति मत्वा) ऐसा मानकर (भाव-सम्-अनु-इताः बुधाः) भावनावान् ज्ञानी (माम् भजन्ते) मुझे भजते हैं।

परमात्मा ही इस सबका सर्जक और संचालक है, इस भावना से भावित होकर ज्ञानी जन परमात्मा की उपासना करते हैं।

३८१ **'मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।**
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।९

'(मत्-चित्ताः) मुझसे चित्त लगानेवाले, [मुझे चाहनेवाले, मेरे प्रेमी] (मत्-गत-प्राणाः) मुझमें प्राण रमानेवाले, [मेरे साक्षात्कारार्थ जीनेवाले] (नित्यम्) सदैव (परः-परम् बोधयन्तः) एक दूसरे को प्रबुद्ध करते हुए, [एक दूसरे का आत्मजागरण करते हुए] (च) और (माम् कथयन्तः) मुझे कथते हुए, [मेरे विषय में कथनोपकथन करते हुए] (तुष्यन्ति च रमन्ति च) सन्तुष्ट होते हैं और रमण करते हैं।

प्रभु से चित्त लगानेवाले और उसी के सन्दर्शन के लिए जीनेवाले योगिजन एक दूसरे का सतत आत्मजागरण करते हैं, एक दूसरे के आत्मा को चेताते हैं। वे सदैव प्रभु के स्वरूप और उसके साक्षात्कार के साधनोपायों की परस्पर चर्चा करते हैं। ऐसा करते हुए उन्हें आत्मतृप्ति होती है और रमणीयता की अनुभूति होती है।

३८२ **'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।**
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।१०

'मैं (तेषाम् सतत-युक्तानाम् प्रीति-पूर्व-कम् भजताम्) उन सदा-युक्त स-प्रेम भजनेवालों को (तम् बुद्धि-योगम् ददामि) वह बुद्धि-योग देता हूं (येन ते माम् उप-यान्ति) जिससे वे मुझे प्राप्त करते हैं, जिससे वे मेरा साक्षात्कार करते हैं।

जो योगी बोध और कथन द्वारा प्रभु से सदा युक्त रहते हैं और प्रीतिपूर्वक प्रभु का भजन [सेवन] करते हैं, परमात्मा उन्हें वह बुद्धियोग [समाहिति] प्रदान करता है जिसके आश्रय से उन्हें प्रभु का सन्दर्शन होता है।

३८३ 'तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।'११

'(तेषाम् एव अनु-कम्पार्थम्) उनके ही अनुग्रहार्थ, [उन पर ही अनुग्रह करने के लिए] (अहम्) मैं [उनके] (आत्म-भाव-स्थः) आत्मा के भाव में स्थित होकर, [आत्मा की भावना में समाहित होकर] [उनके] (अ-ज्ञान-जम् तमः) अ-ज्ञान से उत्पन्न अन्धकार को (भास्वता ज्ञान-दीपेन) प्रकाशमय ज्ञान-दीप से (नाशयामि) नष्ट करता हूं।'

भावना में भगवान् की उक्ति सर्वथा यथार्थ है। भावना से भाव। अभावना से अभाव। जिनकी भावना में प्रभु का सतत भाव है, प्रभु उन पर कृपा करता है, उनके अज्ञानजन्य अन्धकार को विलीन करके उन्हें ज्ञानजन्य प्रकाश से प्रकाशित करता है।

अर्जुन उवाच

३८४ 'परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्।१२

३८५ 'आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे।१३

आत्मपात्र अर्जुन ब्रह्मपात्र कृष्ण के प्रति बोल पड़ता है, '(भवान्) आप (परम् ब्रह्म, परम् धाम, परमम् पवित्रम्) पर ब्रह्म, पर धाम [और] परम पवित्र [हैं]। (सर्वे ऋषयः) सब ऋषि, (देव-ऋषिः नारदः) देव-ऋषि नारद (तथा) अपि च (असितः, देवलः, व्यासः) असित, देवल [और] व्यास (त्वाम्) तुझे (शाश्वतम्, दिव्यम् पुरुषम्) सनातन, दिव्य पुरुष, (आदि-देवम्) आदि-देव, देवों का देव, (अ-जम्) अ-जन्मा, (वि-भुम्) सर्व-व्यापक (आहुः) कहते हैं (च) और [तू] (स्वयम् एव) स्वयं ही (मे) मेरे, मुझ आत्मा के प्रति (ब्रवीषि) कहता है।

३८६ 'सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः।१४

'(केशव) केशव ! कृष्ण ! तू (माम् यत् वदसि) मेरे प्रति जो [कुछ] कहता है, मैं (एतत् सर्वम् ऋतम् मन्ये) इस सबको सत्य मानता हूं। (भगवन्) भगवन् ! (ते वि-अक्तिम्) तेरे निजस्वरूप को (न हि देवाः विदुः, न दानवाः) न तो देव जानते हैं, न दानव।

वेद में परमात्मा को *केशी* कहा गया है। *गीता* ने *केशी* के स्थान पर *केशव* [केश+वः, केशवान्, केशवाला] शब्द का प्रयोग किया है। केशी और केशव, दोनों शब्दों का अर्थ है केशोंवाला, सुन्दर जुल्फ़ोंवाला। वेद में सूर्य को भी *केशी* कहा गया है। सुनहरी किरणें सूर्य की सुनहरी जुल्फ़ें हैं। विश्व की समस्त आभाएं और शोभाएं विश्वपति की सुन्दर जुल्फ़ें हैं।

३८७ 'स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ।१५

'(पुरुष-उत्तम) पुरुषों में श्रेष्ठ ! (भूत-भावन) भूतों में व्यापक ! (भूत-ईश) भूतों के ईश ! (देव-देव) देवाधिदेव ! देवों के देव ! (जगत्-पते) जगत्-स्वामिन् ! जगत्-रक्षक ! (त्वम् स्वयम् एव) तू स्वयं ही (आत्मना आत्मानम् वेत्थ) आत्मना आत्मा को जानता है।

३८८ 'वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ।१६

'(त्वम्) तू (याभिः वि-भूतिभिः) जिन वि-भूतियों के आश्रय से (इमान् लोकान् वि-आप्य) इन लोकों को व्यापकर (तिष्ठसि) स्थित है [उन] (दिव्याः आत्म-वि-भूतयः) दिव्य आत्म-वि-भूतियों को (अ-शेषेण वक्तुम् त्वम् हि अर्हसि) सम्पूर्णता के साथ कहने को तू ही योग्य है।

३८९ 'कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन् मया ।१७

'(योगिन्) योगिन् ! (कथम् विद्याम् अहम् त्वाम्) कैसे जानूं मैं तुझे (सदा परि-चिन्तयन्) सदा परि-चिन्तन करता हुआ ? (च) और (भगवन्) भगवन् ! तू (केषु केषु भावेषु) किन किन भावों में (चिन्त्यः असि) चिन्तनीय है (मया) मेरे द्वारा ?

३९० 'विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ।'१८

'(जन-अर्दन) जनार्दन [कृष्ण] ! (आत्मनः योगम् च वि-भूतिम्) अपने योग और विभूति को (वि-स्तरेण भूयः कथय) विस्तार के साथ पुनः कथन कर (हि) क्यों कि (अ-मृतम्) अ-मृत को, इस अमृतमय विषय को (शृण्वतः) सुनते हुए (मे तृप्तिः न अस्ति) मेरी तृप्ति नहीं [होती] है।'

१५-१८ श्लोकों में अर्जुन ने कृष्ण को जिन सम्बोधनों से सम्बोधित किया है उनमें से *पुरुषोत्तम* तथा *योगिन्*, केवल ये दो सम्बोधन मानवोचित हैं; शेष सब सम्बोधन केवल परमात्मा में घटित हैं। साथ ही, अर्जुन ने कृष्ण की योगविभूतियों का भी उल्लेख किया है। उसने एक प्रश्न किया है, मैं किन किन भावों में तेरा चिन्तन करूं? तात्स्थ्य-स्थिति को न समझनेवाला *गीता-ध्यायी* यहां द्विधा में फंस जाता है।

वेद के शब्दों में एक है *अग्निरस्मि*, मैं अग्नि हूं; और दूसरा है *अग्निरस्मि जन्मना*, मैं जन्म [स्वरूप] से अग्नि हूं। अग्नि जन्म [स्वरूप] से अग्नि है। अग्नि कहता है, *अग्निरस्मि जन्मना*। अग्नि में समाहिति द्वारा अग्निरूप हुआ कोयला कहता है, *अग्निरस्मि*।

अर्जुन जानता है कि कृष्ण जन्म [स्वरूप] से आत्मा है, परमात्मा नहीं है; वह योगविभूतियों से युक्त ब्रह्मसमाहित ब्रह्मरूप योगी है, स्वयं ब्रह्म नहीं है। अग्नि में समाहित अग्निरूप कोयले को जिस प्रकार साक्षात् अग्नि कहते हैं—यह जानते हुए भी कि स्वरूप से वह कोयला है—उसी प्रकार यह जानते हुए भी कि कृष्ण *पुरुषोत्तम* तथा *योगी* है, ब्रह्मसमाहित, ब्राह्मी स्थिति में अर्जुन उसे ब्राह्म सम्बोधनों से सम्बोधित कर रहा है और स्वयं कृष्ण भी अपने को उसी प्रकार कथन कर रहा है।

पातञ्जल योग के अभ्यासी राजयोगी जानते हैं कि पूर्णयोगियों को असंख्य योगविभूतियां सिद्ध होती हैं जिनका प्रयोग वे यदा कदा ही करते हैं। कृष्ण ने भी उन विभूतियों का प्रयोग केवल तीन बार किया था : १) द्रौपदी की साड़ी का दीर्घीकरण करके, २) दुर्योधन को विमोहित करके विशाल सेना का दृश्य दिखाकर दुर्योधन का स्वयं बन्दी बनने से बचने के लिए, ३) युद्ध में अर्जुन को प्रोत्साहित करने के लिए विराट् स्वरूप दिखाने में। योगविभूतियां योगियों को ही प्राप्त होती हैं, परमात्मा को नहीं। दूसरे शब्दों में, विभूतियों का सम्बन्ध योगियों से है, ब्रह्म से नहीं।

अग्निरूप कोयला जैसे अपने स्वरूप का अग्निरूप में वर्णन करता है वैसे ही अब शेष सारे अध्याय में ब्रह्मसमाहित कृष्ण ब्रह्मरूप में अपना वर्णन करते हुए कहते हैं :

श्रीभगवानुवाच

३९१ 'हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ।१९

'(कुरु-श्रेष्ठ) कुरुकुल-श्रेष्ठ[अर्जुन]! (हन्त ते कथयिष्यामि) अब तेरे प्रति कहूंगा (दिव्याः आत्म-वि-भूतयः) दिव्य आत्म-वि-भूतियां। (हि) निश्चय से, (प्राधान्यतः)

प्राधान्यतः [हो] (मे वि-स्तरस्य अन्तः न अस्ति) मेरे विस्तार का अन्त नहीं है।

३९२ 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ।२०

'(गुडाका-ईश) जितनिद्र [अर्जुन] ! (अहम् सर्व-भूत-आ-शय-स्थितः आत्मा) मैं सब भूतों के हृदय में स्थित आत्मा [हूं] (च) और (अहम् एव) मैं ही [हूं] (भूतानाम् आदिः च मध्यम् च अन्तः) भूतों का आदि, मध्य और अन्त ।

परमात्मा सब चेतन प्राणियों के हृदय में तथा समस्त भौतिक भूतों में ओत-प्रोत है। वही अखिल भूतों [प्राकृत सत्ताओं] का आदि, मध्य और अन्त है। उसी की सत्ता में सृष्टियों की रचना, स्थिति तथा प्रलय होती है। रचना आदि है, स्थिति मध्य है, प्रलय अन्त है। सृष्टि प्रवाह से अनादि है और कल्प से सादि, समध्य तथा सान्त है।

३९३ 'आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ।२१

'(अहम् अस्मि) मैं हूं (आदित्यानाम् विष्णुः) प्रकाशलोकों में विष्णु[-लोक], (ज्योतिषाम् अंशुमान् रविः) ज्योतियों में किरणपुञ्ज सूर्य । (अहम् अस्मि) मैं हूं (मरुताम् मरीचिः) प्राणों में प्राणवायु, (नक्षत्राणाम् शशी) नक्षत्रों में चन्द्रमा ।

प्रकाशलोकों में परमात्मा विष्णु [व्यापनेवाला] परम प्रकाशलोक है। सूर्य के समान उसकी सर्वव्यापिनी रश्मियां प्रकाशलोकों को प्रकाशित कर रही हैं। वह प्राणों का प्राण और जीवन का जीवन है। वह नक्षत्रों में शशी है, आह्लादकों में आह्लादक है।

३९४ 'वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ।२२

'(वेदानाम् साम-वेदः अस्मि) वेदों में साम-वेद हूं, (देवानाम् अस्मि वासवः) देवों में हूं वासव । (च) और (इन्द्रियाणाम् मनः अस्मि) इन्द्रियों में मन हूं, (भूतानाम् अस्मि चेतना) भूतों में हूं चेतना ।

सम से साम । साम का अर्थ है समता । *सामवेद* उपासनावेद है। ऋक् से विवेक, यजुः से कर्म, साम से उपासना, अथर्व से साधना । उपासना से परमात्मा की उपता [निकटता] सिद्ध होती है। वेदों का वेदत्व साम की उपासनासाध्य समता में है। विषमता के निराकरण का एकमात्र उपाय सामोपासनाजन्य समता ही है। अतः परमात्मा को वेदों में *सामवेद* कहा गया है।

वसु से *वासव* । वसु नाम ऐश्वर्य का है। *वासव* का अर्थ है ऐश्वर्य का आदि स्रोत । देवों में जो देवत्व है, दिव्यता का जो ऐश्वर्य है वह सब पर-

मात्मा का है, परमात्मा से है। दिव्य लोकों तथा दिव्य जनों में जो दिव्यता है वह सब दिव्यता के आदि स्रोत परमात्मा की है।

ये असंख्य लोक-लोकान्तर परमात्मा की इन्द्रियां हैं और परमात्मा की प्रेरणा उनका प्रेरक मन है।

पंच भूतों और पांचभौतिक लोकों में जो चेतना है वह सब चेतनस्वरूप परमात्मा की है। परमात्मा की चेतना से ही वे सब चेतनवत् कार्य कर रहे हैं।

३९५ 'रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्।२३

'(अहम्) मैं (रुद्राणाम् शम्-करः अस्मि च यक्ष-रक्षसाम् वित्त-ईशः) रुद्रों के मध्य शम्-कर हूं और यक्ष-राक्षसों में धनेश। (वसूनाम् पावकः अस्मि च शिखरिणाम् मेरुः) वसुलोकों के मध्य में पावक हूं और शिखरवालों में मेरु।

सूर्य के समान जितने आग्नेय लोक हैं उन सबकी संज्ञा रुद्र है। हमारा यह सूर्य भी ऐसा रुद्र [भयंकर] है कि उसमें से नौ-नौ दस-दस लाख मील लम्बी अग्नि की ज्वालाएं उठती रहती हैं। सूर्य से भी कहीं बड़े शतशः, सहस्रशः, लक्षशः ऐसे आग्नेय लोक हैं जिनमें से करोड़ों, अरबों मील लम्बी ज्वालाएं जलती रहती हैं। सभी रुद्र लोक हमारे सूर्य की तरह शम्पूर्वक ज्योति, प्रकाश, ताप, जीवन प्रदान करते रहते हैं। परमात्मा की नियत नियति से ये सब रुद्र लोक शम् [कल्याण, स्वस्ति] प्रदान कर रहे हैं। परमात्मा ही इन सब रुद्रों का शं-कर है।

रुद्र लोकों में प्राणियों का निवास नहीं है। वसु लोकों में प्राणियों का निवास है। वसु लोक और वसु लोकों में निवास करनेवाले प्राणी सम्बन्धित रुद्र लोक की अग्नि [गर्मी] से ही जीवन तथा शोधन प्राप्त करते हैं। वसुओं का और वसुवासियों का शोधक होने से अग्नि का एक नाम *पावक* है। परमात्माग्नि अखिल सृष्टियों का पावक है।

यक्ष प्रतीक है पूज्यता का और रक्षः प्रतीक है विलास का। यक्षों की सम्पत्ति पूज्य सम्पत्ति है, दैवी सम्पदा है। राक्षसों की सम्पत्ति आसुरी सम्पदा है। यक्षों और राक्षसों को वसुलोकों से जो वित्त [ऐश्वर्य] प्राप्त होता है वह सब वसुपति *वित्तेश* परमात्मा का है।

अनन्त—असीम लोकसमूह अपने अपने लोक-लोकान्तररूप शिखरोंवाले पर्वत हैं जिनका सर्वव्यापक मेरुदण्ड एकमात्र सर्वव्यापक परमात्मा है। उसी मेरुदण्ड के सहारे यह सब स्थित है। शिखरों में मेरु शिखर सबसे ऊंचा है। परमात्मा शिखरों में सर्वोच्च शिखर है, उच्चों में उच्चतम है, परमोच्च है।

३९६ 'पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ।२४

'(च पार्थ) और, पृथापुत्र [अर्जुन] ! (पुरोधसाम् माम् मुख्यम् बृहस्पतिम् विद्धि) पुरोहितों में मुझे मुख्य बृहस्पति जान। (अहम् अस्मि) मैं हूं (सेना-नीनाम् स्कन्दः) सेना-पतियों में स्कन्द, (सरसाम् सागरः) जलाशयों में सागर।

पुरोधस् और *पुरोहित* पर्यायवाची शब्द हैं। वेद के विद्वान् और सर्वहित-सम्पादक का नाम *पुरोहित* है। *वृहस्पति* का अर्थ है वृहत्-पति, सुमहान् रक्षक। वेदज्ञानप्रदाता तथा सर्वरक्षक होने से परमात्मा पुरोहितों में सुमहान् पुरोहित है। बृहस्पति देवताओं का पुरोहित है। परमात्मा प्राकृतिक देवों का पुरोहित तो है ही, देव जनों का भी पुरोहित है। पुरोहित नाम 'सामने उपस्थित' का भी है। प्रभु सब देवों के मुख-समुख सदा उपस्थित रहता है।

स्कन्द का ही रूपान्तर स्कन्दर शब्द है। स्कन्द का अर्थ है उछलनेवाला, छलांग भरनेवाला, तेज़ दौड़नेवाला। परमात्मा अगणित लोक-लोकान्तररूप सेना का वह सेनापति है जो सबको लांघता हुआ, सबमें व्यापा हुआ इस सबको जीते हुए है। *तदेजति तन्नैजति* (यजुर्वेद ४०.५)। कूटस्थ होते हुए भी वह अपनी व्याप्ति से सकल गतियों और गतिशीलों से सदैव आगे है।

और सागरों का महासागर भी वह प्रत्यक्षतः है ही। लोकरूप जितनी नदियां हैं वे सब उस महासागर में ही समा रही हैं।

३९७ 'महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ।२५

'(अहम्) मैं (महर्षीणाम् भृगुः) महर्षियों में भृगु, (गिराम् एकम् अ-क्षरम्) वाणियों में एक अ-क्षर [ओम्] (अस्मि) हूं। (यज्ञानाम् जप-यज्ञः अस्मि) यज्ञों में जप-यज्ञ हूं, (स्थावराणाम् हिम-आ-लयः) स्थावरों में हिमालय।

अनिर्वचनीय और अनुपमेय की महिमा गान करने में साकार प्रतीकों का सहारा लिया ही जाता है।

ऋषियों में भृगु ऋषि सर्वज्येष्ठ माने जाते हैं। प्रभु के नामों में प्रमुख नाम *ओम्* है। यज्ञानुष्ठानों में जप का अनुष्ठान सर्वश्रेष्ठ माना गया है। अचलों में हिमालय उपमेय है।

परमात्मा गुरुओं का गुरु और ऋषियों का ऋषि है। वाणी से बोले जानेवाले वचनों में परमात्मा का *ओम्* नाम सर्वोत्तम वचन है। ओम् नाम का योगविधि से सतत जाप सर्वोपरि यज्ञ है। वह वह स्थिर—अचल सत्ता है जिसे कोई हिला नहीं सकता है।

३९८ 'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ।२६

'मैं (सर्व-वृक्षाणाम् अश्वत्थः) सब वृक्षों में पीपल [हूं] (च) और (देव-ऋषीणाम् नारदः) देवर्षियों में नारद [हूं], (गन्धर्वाणाम् चित्र-रथः) गन्धर्वों में चित्र-रथ [हूं], (सिद्धानाम् कपिलः मुनिः) सिद्धों में कपिल मुनि [हूं]।

जिस प्रकार पीपल के वृक्ष की छाया में प्राणी विश्राम पाते हैं उसी प्रकार परमात्मा की छाया अमृतमयी है। देवर्षि नारद सर्वत्र विचरकर संसार को भगवान् का सन्देश देते थे। प्रभु वह देवर्षि है जो समस्त भूतों के अन्तःकरण में अपना अन्तःप्रेरणामय सन्देश देता है।

गन्धर्वों में चित्ररथ का सर्वोच्च स्थान है। प्रभु गन्धर्वों [गायकों] में वह विचित्र गन्धर्व है जिसके अन्तर्गान की स्वरलहरियों से योगिजन मुग्ध, समाहित होजाते हैं और उनकी हृदयग्रन्थियां खुल जाती हैं।

और सिद्धों में वह वह परम सिद्ध है जिसके आश्रय से समग्र सिद्धियां उपलब्ध होती हैं।

३९९ 'उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ।२७

'(माम् विद्धि) मुझे जान (अश्वानाम् अ-मृत-उत्-भवम् उच्चैः-श्रवसम्) अश्वों में अ-मृत से उत्पन्न उच्चैः-श्रवा, (गज-इन्द्राणाम् ऐरावतम्) हाथियों में ऐरावत, (च नराणाम् नर-अधि-पम्) और मानवों में राजा।

उच्चैःश्रवा नामक अश्व की उत्पत्ति अमृत से आख्यात की गई है। अश्व नाम आशुगामी का है। आशुगामी होने से ही घोड़े को अश्व कहते हैं। परमात्मा वह अमृतमय, अमर अश्व है जो अपनी व्याप्तिरूप आशुगामिता से अखिल सृष्टि में रमण कर रहा है।

गजों में ऐरावत का सर्वोच्च स्थान है। परमात्मा वह विश्वव्यापी गज है जिसकी व्याप्तिमय पृष्ठ पर अखिल विश्व आरूढ़ है।

राजा तो देशविशेष के मानवों का ही राजा होता है। प्रभु तो इस अखिल का और अखिल मानवों का राजा है।

४०० 'आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ।२८

'(अहम् आ-युधानाम् वज्रम् अस्मि) मैं शस्त्रों में वज्र हूं, (धेनूनाम् काम-धुक्) गौओं में काम-धुक्। (च प्र-जनः कम्-दर्पः अस्मि) और मैं प्र-जनक कामदेव हूं। (सर्पाणाम् अस्मि वासुकिः) सर्पों में हूं वासुकि।

परमात्मा शस्त्रों में वज्र है। वज्र उस शस्त्र को कहते हैं जो प्रहारों का

वर्जन [निवारण] करता है। प्रभु वह अन्तर्यामी वज्र है जो उसे धारण करनेवाले के जीवनदुर्ग में दुरितों और विकार-वासनाओं के प्रवेश का नितान्त वर्जन करता है।

आख्यान-वाङ्मय में कामधुक् उस धेनु का नाम है जो सकल कामनाओं का दोहन करती है। परमात्मा, निस्सन्देह, वह कामधुक् धेनु है जो प्रजाओं की सकल कामनाओं की पूर्ति करती है।

कन्दर्प नाम आनन्दमय मद का है। परमात्मा के आनन्दमय मद से ही तो इस समष्टि सृष्टि का माया [प्रकृति] से प्रजनन हुआ है।

वासुकि पुराण-गाथावाद का नागराज है जिसे कश्यप का पुत्र कहा जाता है। सर्प का अर्थ है सर्पणशील, गति करनेवाला। वासुकि का अर्थ है बसानेवाला। परमात्मा वह वासुकि है जो अखिल सृष्टि को बसाकर उसे सर्पण [गति] देरहा, संचालन कररहा है।

४०१ 'अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्।२६

'(च अहम्) और मैं (नागानाम् अन्-अन्तः अस्मि) सर्पों में अनन्त सर्प हूं, (यादसाम् वरुणः) जलचरों में वरुण। (च अहम्) और मैं (पितृणाम् अर्यमा अस्मि) पिताओं में अर्यमा हूं, (सम्-यमताम् यमः) सं-यम करनेवालों में यम।

अनन्त जाति के सर्प श्रेष्ठ इसलिए माने जाते हैं कि वे दीर्घजीवी, सुन्दर और विषरहित होते हैं।

जलचरों में *वरुण* नाम का खरगोश के आकार का एक प्राणी है जो सदैव समुद्र की तह में रहता है और चमकीली विद्युत्-मछलियों को खाता है। उसके शरीर में बिज़ली के जैसा बहुत तीव्र और तीक्ष्ण प्रकाश निकलता है। पानी से भरे शीशे के बड़े पात्र में एक वरुण बन्द करके टेबिल पर रख दें तो उसकी रोशनी से सारा स्थान सूर्य के प्रकाश से जैसे रोशन होजाए।

शरीर त्यागने के पश्चात् आत्मा जब तक पुनः गर्भस्थित नहीं होते तब तक उनकी संज्ञा *पिता* [पितर] मानी गई है। अर्यमा नाम न्यायनियन्ता का है। कर्मानुसार पिताओं को पुनः योनि प्रदान करनेवाला होने से परमात्मा को अर्यमा कहते हैं।

योग में धारणा, ध्यान, समाधि के संयोग का नाम *संयम* है। इस संयम में सिद्ध की संज्ञा संयमी है। संयम का आधार यम [अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह] है। ब्रह्मपरायणता से यम तथा संयम, दोनों की सिद्धि सहजतया प्राप्त होजाती है।

इस विभूति-अध्याय का अन्तर्निहित आशय हर सौंदर्य में भगवान् का

जमाल और हर वस्तु में भगवान् का कमाल दिखाना है । अनन्त और वरुण में उसी ब्रह्म का जमाल है और पितारों में उसी की न्यायव्यवस्था कार्य कर रही है।

४०२ 'प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रो ऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ।३०

'(अहम्) मैं (दैत्यानाम् प्र-ह्लादः अस्मि) दैत्यों में प्र-ह्लाद हूं (च) और (कलयताम् कालः) कालगणना करनेवालों में काल। (च अहम्) और मैं (मृगाणाम् मृग-इन्द्रः अस्मि) वन-पशुओं में सिंह हूं (च) और (पक्षिणाम् वैनतेयः) पक्षियों में गरुड ।

दैत्यवर्ग नास्तिकों का है। प्रह्लाद परम आस्तिक है। काल शब्द का प्रयोग यहां कालविद् के लिए हुआ है । ब्रह्म नास्तिकों में अन्तर्निहित आस्तिकता है। अनादि-अनन्त काल का कालविद् ब्रह्म ही है। सिंह में तथा गरुड में उसी की महिमा का प्रदर्शन है ।

४०३ 'पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ।३१

'(अहम्) मैं (पवताम् पवनः अस्मि) वेगशीलों में पवन हूं, (शस्त्र-भृताम् रामः) शस्त्रधारियों में राम । (झषाणाम् मकरः अस्मि) मछलियों में मगर [मच्छ] हूं (च) और (स्रोतसाम् जाह्नवी अस्मि) प्रवाहिणियों में गंगा हूं ।

पवन वेग का प्रतीक है। राम है परम पराक्रम का प्रतीक । मगरमच्छ मछलियों का राजा है । गंगा विश्व की समस्त नदियों में परम पावमानी धारा है । वेगशीलों में उसी का वेग है। शस्त्रधारियों में उसी का राम [रमणीय बल] है । मछलियों और मगरमच्छों में उसी की रचना का कौशल है । नदियों के प्रवाहों में उसी का पूत प्रवाह है ।

४०४ 'सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ।३२

'(अर्जुन) अर्जुन ! (अहम् एव) मैं ही (सर्गाणाम्) सृष्टियों का (आदिः च अन्तः च मध्यम्) आदि और अन्त और मध्य [हूं] । (अहम्) मैं (विद्यानाम् अधि-आत्म-विद्या) विद्याओं में अध्यात्म-विद्या [हूं], (प्र-वदताम् वादः) तत्त्व-वादियों में वाद [हूं] ।

सृष्टियों का प्रवाह अनादि अनन्त है। रचना, स्थिति और प्रलय के चक्र की अपेक्षा से सृष्टि का आदि, मध्य और अन्त माना जाता है। ब्रह्म ही इस चक्र का चक्रधर है ।

सर्वविद्याओं में सर्वोपरि अध्यात्मविद्या ही है जिसके आश्रय से आत्म-साक्षात्कार तथा ब्रह्म का सन्दर्शन होता है ।

सत्य की प्राप्ति और तत्त्व के निर्णय के लिए जो सात्त्विक वार्तालाप किया जाता है उसका नाम वाद है। वाद ही अध्यात्मविद्या का मूलाधार है और वाद के आश्रय से ही रहस्यों का उद्घाटन तथा समस्याओं का समाधान होता है।

४०५ 'अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः।३३

'मैं (अ-क्षराणाम् अ-कारः अस्मि) अ-क्षरों में अ-कार [अ] हूं (च) और (सामासिकस्य द्वन्द्वः) सामासिक में द्वन्द्व [समास]। (अहम् एव) मैं ही (अ-क्षयः कालः) अक्षय काल [हूं], (अहम्) मैं ही (विश्वतः-मुखः धाता) विश्वतो-मुख धाता [हूं]।

अकार [अ अक्षर] अमात्र और सर्वव्यापक है। जितने स्वर हैं, सबकी अपनी अपनी मात्रा है। किन्तु अ की कोई मात्रा नहीं। अ ही आदि अक्षर है। अ ही आदि स्वर है। शेष समस्त स्वर अ के विकार हैं। व्यञ्जन भी तभी पूर्ण व्यञ्जन बनता है जब उसमें अ का योग होता है। अ अमात्र [अनन्त, अपार] ब्रह्म है।

समासों में द्वन्द्व समास इसलिए ज्येष्ठ है कि उसमें समस्त दोनों पद समानरूपेण अपना अर्थ व्यक्त करते हैं। प्रकृतिजन्य माया और अकार ब्रह्म, दोनों समस्त हैं, दोनों की सत्ता पृथक् पृथक् है और दोनों का अर्थ भी भिन्न भिन्न है।

ब्रह्म अक्षय काल है। काल माया का क्षय करता है। प्रकृतिजन्य जो कुछ है उस सबकी न केवल रचना काल के आश्रय से होती है अपि तु उसका क्षय भी काल के क्रम से होता है। ब्रह्म कालातीत है, कालनिरपेक्ष है।

अखिल विश्व में व्यापक होने से ब्रह्म विश्वतोमुख है। उसकी सर्वव्यापक सत्ता ही सर्व को धारण कर रही है।

४०६ 'मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा।३४

'(च अहम्) और मैं ही (सर्व-हरः मृत्युः) सर्व-हारी [सबको मिटानेवाली] मृत्यु [हूं] (च) और (भविष्यताम्) होनेवालों का (उत्-भवः) बढ़ानेवाला हूं। (च अहम्) और मैं [ही] (नारीणाम् कीर्तिः, श्रीः, वाक्, स्मृतिः, मेधा, धृतिः, क्षमा) नारियों की कीर्ति, शोभा, वाणी, स्मृति, मेधा, धीरता और क्षमा हूं।

जीवन-मरण, प्रलय-उत्पत्ति, सब कुछ ब्रह्म की सर्वव्यापिनी सत्ता में होरहा है। कीर्ति, श्री, आदि ब्राह्म कलाएं हैं जिनका नारी में स्वाभाविक बाहुल्य होता है।

४०७ 'बृहत् साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षो ऽहमृतूनां कुसुमाकरः ।३५

'(साम्नाम् अहम् बृहत् साम) सामगान में मैं बृहत् साम [हूं] (तथा) और (छन्दसाम् अहम् गायत्री) छन्दों में मैं गायत्री [हूं] । (मासानाम् अहम् मार्ग-शीर्षः) महीनों में मैं मार्ग-शीर्ष [हूं], (ऋतूनाम् अहम् कुसुम-आ-करः) ऋतुओं में मैं वसन्त [हूं] ।

सामगानों में बृहत्सामगान सर्वोपरि है। छन्दों में गायत्री छन्द सर्वातिशय सहज और सरल है। मार्गशीर्ष महीना पाचन और स्वास्थ्य की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ महीना है। वसन्त सब ऋतुओं का राजा है।

४०८ 'द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयो ऽस्मि व्यवसायो ऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ।३६

'(अहम्) मैं (छलयताम् अस्मि द्यूतम्) छलियों में हूं जुआ, (तेजस्विनाम् तेजः) तेजस्वियों में तेज । (अहम्) मैं (जयः अस्मि) जय हूं, (वि-अव-सायः अस्मि) व्यव-साय हूं, (सत्त्ववताम् सत्त्वम्) सत्त्वसम्पन्नों में सत्त्व [हूं] ।

जुआ ऐसा छली खेल है कि न हार-पर-हार होने पर उससे छुटकारा होता है, न जीत-पर-जीत होने पर। ब्रह्म वह जुआ है जिसकी प्राप्त्यर्थ की जारही साधना भक्त को सदा अभ्यासरत रखती है। दर्शन का लाभ हो न हो, भक्त प्रेम किए ही चला जाता है। तेजस्वियों में जो तेज है वह ब्रह्म का ही है। ब्रह्म की सतत उपासना एक महतो महान् व्यवसाय है। सत्त्वप्रधान पुरुषों में जो सत्त्व है वह भी ब्रह्म की सम्पदा है।

४०९ 'वृष्णीनां वासुदेवो ऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ।३७

'मैं (वृष्णीनाम् वासु-देवः अस्मि) यादवों में कृष्ण हूं, (पाण्डवानाम् धनम्-जयः) पाण्डवों में अर्जुन । (अहम्) मैं (मुनीनाम् वि-आसः अपि) मुनियों में व्यास भी [हूं], (कवीनाम् उशना कविः) कवियों में शुक्र कवि [हूं] ।

रूप रूप में ब्रह्म प्रतिरूपित है। विशिष्ट रूपों में उसी की विशेषताएं रूपित हैं। कृष्ण में उसी की कर्मकुशलता थी। अर्जुन में उसी का शौर्य था। व्यास में उसी का मुनित्व था। शुक्राचार्य की काव्यप्रतिभा उसी का प्रातिभ ज्ञान थी।

४१० 'दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ।३८

'(अहम् एव) मैं ही (दमयताम् दण्डः अस्मि) दमनशीलों में दण्ड हूं, (जिगीषताम् नीतिः अस्मि) विजयेच्छुओं में नीति हूं, (गुह्यानाम् मौनम् अस्मि) गोपनीयों

में मौन हूं, (च ज्ञानवताम् ज्ञानम्) और ज्ञानवानों में ज्ञान [हूं]।

दण्ड, नीति, मौन तथा ज्ञान, ये सब ब्राह्म विभूतियां हैं।

४११ 'यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत् स्यान्मया भूतं चराचरम्।३९

'(च अर्जुन) और अर्जुन! (यत् सर्व-भूतानाम् बीजम्) जो सब भूतों का बीज [है] (तत् अपि अहम्) वह भी मैं [हूं]। [कोई भी] (तत् चर-अचरम् भूतम् न अस्ति) वह चर-अचर सत्ता नहीं है (यत् मया विना स्यात्) जो मेरे बिना हो।

बीज से ही वृक्ष की उत्पत्ति है। ब्रह्म से और ब्रह्म में ही सब भूतों की सत्ता है। जो, जितना यह चराचर जगत् है, सब ब्रह्म की व्याप्ति तथा आश्रय से ही प्रादुर्भूत होता है।

४१२ 'नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया।४०

'(परम्-तप) परम-तपस्वी [अर्जुन]! (मम दिव्यानाम् वि-भूतीनाम् अन्तः न अस्ति) मेरी दिव्य वि-भूतियों का अन्त नहीं है। (मया) मेरे द्वारा (एषः वि-भूतेः वि-स्तरः तु) यह वि-भूति का उल्लेख तो (उत्-देशतः प्र-उक्तः) संक्षेपतः कहा गया [है]।

प्रत्यक्षतः, ब्रह्म की ब्राह्म विभूतियों का अन्त नहीं है। उसकी विभूतियों का जितना भी अधिक से अधिक वर्णन किया जाएगा वह संक्षिप्त ही रहेगा।

४१३ 'यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत् तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्।४१

'(यत् यत् एव वि-भूतिमत् श्रीमत् वा ऊर्जितम् सत्त्वम्) जो जो भी वि-भूतिमय, श्रीमय वा ओजमय सत्त्व [है] (त्वम् तत् तत् मम एव तेजः-अंश-सम्-भवम्) तू वह वह मेरे ही तेज के अंश से हुआ (अव-गच्छ) जान।

जहां जहां जो भी सत्त्व है वह सब ब्रह्म के तेज का ही अंश है।

४१४ 'अथ वा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।'४२

'(अथ वा अर्जुन) या अर्जुन! (एतेन बहुना ज्ञातेन) इस बहुत जानने से (तव किम्) तेरा क्या? [बस इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि] (अहम्) मैं (इदम् कृत्स्नम् जगत्) इस सम्पूर्ण जगत् को (एक-अंशेन वि-स्तभ्य) एक अंश से आशय करके (स्थितः) स्थित [हूं]।'

वेद ने भी तो कहा है:

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि। यजुर्वेद ३१.३

'इतना यह सब इस ब्रह्म की महिमा है। ब्रह्म-पुरुष इस सम्पूर्ण जगत् से कहीं बड़ा है। समस्त भूत [सत्ताएं] इसका एक पाद [अंश] हैं। इसका त्रिपाद-मृत द्यौ में स्थित है।'

ग्यारहवां अध्याय

अर्जुन उवाच

४१५ **'मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।**
यत् त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ।१

अर्जुन बोला, '(मत्-अनु-ग्रहाय) मुझ पर अनु-ग्रहार्थ (त्वया) तेरे द्वारा (यत्) जो (परमम् गुह्यम् अधि-आत्म-सम्-ज्ञितम्) परम रहस्यपूर्ण अध्यात्म-सूचक (वचः) वचन (उक्तम्) कहा गया [है] (तेन मम अयम् मोहः वि-गतः) उससे मेरा यह मोह चला गया।

मोहोऽयम्, मोह यह। कौन-सा यह मोह? मोह शब्द का सम्बन्ध यहां उस विषादावस्था से है जिससे मूर्छित होकर अर्जुन कायरता को प्राप्त हुआ है और धर्मयुद्ध से विरत हुआ चाहता है।

४१६ **'भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।**
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ।२

'(कमल-पत्र-अक्ष) कमल-पत्र के समान नेत्रोंवाले [कृष्ण] ! (भूतानाम् भव-अपि-अयौ) भूतों की उत्पत्ति तथा प्रलय, [दोनों विषय] (मया त्वत्तः हि वि-स्तरशः श्रुतौ) मेरे द्वारा तुझसे निश्चयरूपेण विस्तार से सुने गए (च अ-वि-अयम् माहात्म्यम् अपि) और अ-वि-नाशी माहात्म्य भी।

हि शब्द का प्रयोग यहां असन्दिग्धता अर्थ में हुआ है और महात्म्य शब्द का ब्रह्म की शाश्वत महिमा अर्थ में।

कमलपत्राक्ष सम्बोधन एक अतिशय गहन भाव का द्योतक है। अक्ष का अर्थ है आंख। पत्र का अर्थ पत्ता वा पंखड़ी। कमल की जड़ कीचड़ में गढ़ी होती है। उसका तनू जल में निमग्न रहता है। किन्तु उसका शिर [पुष्प] कीचड़ और जल, दोनों से ऊपर उठा रहता है। अक्ष वा नेत्र दृष्टि का द्योतक है। जिसकी विवेकदृष्टि कमलपत्रों के समान मायाकीचड़ और विषयसलिल से नितान्त ऊपर उठी हुई, सदैव खुली और खिली रहती है उसे कमलपत्राक्ष कहते हैं। विवेक-कमलपत्राक्ष से साक्षात्कृत होकर कृष्ण ने अर्जुन को तत्त्व

का दर्शन कराया और ब्रह्म का माहात्म्य सुनाया था। उसी कारण वह निश्चयात्मक तथा असन्दिग्ध था।

४१७ 'एवमेतद् यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ।३

'(परम-ईश्वर पुरुष-उत्-तम) परमैश्वर्यवन्! पुरुष-श्रेष्ठ! (त्वम्) तू (आत्मानम्) अपने को (यथा आत्थ) जैसा कहता है, मैं (ते एतत् ऐश्वरम् रूपम्) तेरे इस ऐश्वर रूप को (एवम्) उसी प्रकार, यथावत् (द्रष्टुम् इच्छामि) देखना चाहता हूं।

परम-ईश्वरत्व से युक्त होने के कारण कृष्ण को परमेश्वर शब्द से सम्बोधन किया गया है। पुरुषों में सर्वश्रेष्ठ होने से *पुरुषोत्तम* कहा गया है। ऐश्वर रूप नाम ईश्वर की महिमा को दर्शानेवाले रूप का है।

जैसा कि पूर्व बताया जा चुका है, कृष्ण ने *गीता* में जो कुछ कहा है वह सब तात्स्थ्य-स्थिति में कहा गया है और *गीता* का सम्पूर्ण कृष्णार्जुन-संवाद पात्रशैली से हुआ है। *गीता*-कार ने कृष्ण को ब्रह्मपात्र और अर्जुन को आत्मपात्र बनाकर अतिशय शक्तिशाली तत्त्वज्ञान का उद्घाटन किया है।

४१८ 'मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्' ।४

'(प्र-भो) स्वामिन्! (योग-ईश्वर) योग में ईशत्व-सम्पन्न! योग-दक्ष! योग-सिद्ध! तू (यदि इति मन्यसे) यदि ऐसा मानता है कि (तत्) वह [ऐश्वर रूप] (मया द्रष्टुम् शक्यम्) मेरे द्वारा देखना सम्भव [है] (ततः त्वम् अ-वि-अयम् आत्मानम् मे दर्शय) तो तू अ-वि-नाशी आत्मा को मेरे लिए [मुझे] दिखा।'

श्रीभगवानुवाच

४१९ 'पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ।५

कृष्ण ने कहा, (पार्थ) पृथापुत्र [अर्जुन]! (पश्य) देख (मे शतशः अथ सहस्रशः च नाना-विधानि नाना-वर्ण-आ-कृतीनि दिव्यानि रूपाणि) मेरे सैकड़ों और हज़ारों तथा अनेक-विध, अनेक-वर्णाकृत दिव्य रूपों को।

४२० 'पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ।६

'(भारत) भरतवंशी [अर्जुन]! (पश्य) देख (आदित्यान्) सूर्यों को, (वसून्) वसुलोकों को [उन लोकों को जहां प्राणियों का निवास है], (रुद्रान्) उग्र प्रकाशलोकों को, (अश्विनौ) द्युलोक और पृथिवीलोक को (तथा मरुतः) तथा

पवनों को। (पश्य) देख (बहूनि अ-दृष्ट-पूर्वाणि आश्चर्याणि) बहुत, पहले न देखे गए आश्चर्यों को।

४२१ 'इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि।७

'(गुडाका-ईश) जितनिद्र [अर्जुन]! (पश्य अद्य इह) देख आज यहां (स-चर-अ-चरम् कृत्स्नम् जगत् एक-स्थम्) स-चराचर सम्पूर्ण जगत् को एक-स्थ (मम देहे) मेरे देह में (च अन्यत् यत् द्रष्टुम् इच्छसि) और अन्य जो [तू] देखना चाहता है।

४२२ 'न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।'८

'(तु) किन्तु [तू] (अनेन स्व-चक्षुषा एव) इस स्व-चक्षु से ही (माम् द्रष्टुम् न शक्यसे) मुझे देखने को शक्य नहीं है, मुझे देख नहीं सकता है। मैं (ते दिव्यम् चक्षुः ददामि) तेरे लिए दिव्य चक्षु देता हूं। उससे (मे ऐश्वरम् योगम् पश्य) मेरे ऐश्वर योग, राजयोग की महिमा को देख।'

दर्शन करने के साधन का नाम चक्षु है। जिससे देखा जाता है, साक्षात् किया जाता है उसे चक्षु कहते हैं। चक्षु से भी तभी देखा जाता है जब उसमें दर्शनशक्ति विद्यमान हो, जब उसकी दृष्टि देखनेवाली हो। फिर मानव का यह नेत्र भौतिक है और इसी लिए उससे भौतिक पदार्थ वा वस्तु का ही दर्शन हो सकता है। ब्रह्म अभौतिक है। अतः भौतिक नेत्र से ब्रह्म का दर्शन असम्भव है। योगी का आत्मा जब आत्मसमाहित [स्वरूप में स्थित] होकर ब्रह्म के वरेण्य भर्ग तथा आदित्य वर्ण का ध्यान करता है तब उसके अभौतिक आत्मा तथा उसकी भौतिक देह, दोनों में ब्रह्म की दिव्य दिव्यता का प्रकाशन होता है। उस दिव्यावस्था में योगी का आत्मा ब्रह्म का साक्षात् दर्शन करता है, उसका नेत्र ब्रह्म के विराट् रूप का अवलोकन करता है, उसका श्रोत्र ब्रह्म के अनिर्वचनीय वचनों का श्रवण करता है, उसका घ्राण ब्रह्म की दिव्य गन्ध का सेवन करता है, उसकी रसना ब्रह्मौदन तथा ब्रह्मामृत का आस्वादन करती है, उसकी त्वचा ब्रह्म के दिव्य स्पर्श का संस्पर्श करती है।

यहां इस अध्याय में कृष्ण ने अपनी एक योगविभूति के आश्रय से अर्जुन की दृष्टि पर वशीकार करके उसमें अपनी दिव्य दृष्टि की छाया का संचार किया है और अर्जुन को ब्रह्म के निज विराट् स्वरूप का नहीं स्वकल्पित विराट् स्वरूप का दर्शन कराया है। अर्जुन न योगी था, न उसकी जीवनपद्धति योगपद्धति थी। अतः वह ब्रह्म के विराट् स्वरूप के दर्शन का

अधिकारी भी न था। कृष्ण ने अर्जुन के मन को मूर्छित करके उसकी दृष्टि में ऋणरूपेण दिव्यता का अध्याहार किया और अपनी निजकल्पना से अपनी कल्पना के विराट् स्वरूप का उसे दर्शन कराया। इस विभूति को इस युग में *हिप्नोटिज़्म* कहते हैं।

अर्जुन को अपनी विजय का विश्वास न था। वह संशय के झूले में झूल रहा था। दुर्योधन की युद्धसज्जा के मुक़ाबले में पाण्डवों की युद्धसज्जा नगण्य थी। अर्जुन न दुर्योधन को मार सकता था, न भीष्म को, न द्रोणाचार्य को, न कर्ण को। महाभारत में पाण्डवों को जिस विजयश्री की प्राप्ति हुई वह न गाण्डीव की विजय थी, न पाण्डवों के शौर्य की। वह तो कृष्ण के *योगः कर्मसु कौशलम्* की विजय थी। विराट् का दर्शन करके कृष्ण की कर्मकुशलता और योग क्षमता में यदि अर्जुन का विश्वास होजाता है और वह युद्धार्थ पुनः सन्नद्ध होजाता है तो पाण्डवों की विजय निश्चित होजाती है। इसी लक्ष्य से कृष्ण ने उसे विराट् का दर्शन कराया है। उस दर्शन से अर्जुन को कृष्ण की क्षमता में ऐसा विश्वास हुआ कि कृष्ण के निर्देशों का अक्षरशः पालन करते हुए उसने संशयरहित होकर युद्ध किया और विजय सम्पादन की।

संजय उवाच

४२३ 'एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्।९

संजय ने धृतराष्ट्र से कहा, '(राजन्) राजन् [धृतराष्ट्र]! (महा-योग-ईश्वरः हरिः) महा-योगेश्वर कृष्ण ने (एवम् उक्त्वा) ऐसा कहकर (ततः पार्थाय) तत्पश्चात् अर्जुन के लिए (परमम् ऐश्वरम् रूपम्) परम ऐश्वर रूप (दर्शयामास) दर्शाया।

महा योग का ईश्वर अथ वा स्वामी होने से कृष्ण को *महायोगेश्वर* कहा गया है। राजयोग की जितनी सिद्धियां तथा विभूतियां होती हैं उन सबसे सम्पन्न होने के कारण कृष्ण को *योगेश्वर* तथा *महायोगेश्वर* कहा गया है।

हरि का अर्थ है हरण करनेवाला, मन को हरनेवाला, अतिशय आकर्षक। योग की सिद्धियों और विभूतियों से सम्पन्न योगेश्वरों की रूपछवि स्वभावतः बहुत मनोहारिणी होती है।

कृष्ण ने अर्जुन को अपना रूप नहीं दिखाया था, परम ऐश्वर रूप दिखाया था, ईश्वर का परम रूप दिखाया था। इसी अध्याय के सातवें श्लोक में कृष्ण ने कहा है, 'गुडाकेश! देख आज यहां सचराचर सम्पूर्ण जगत् को एकस्थ मेरे देह में।' इससे स्पष्ट है कि कृष्ण ने, दृष्टिवशीकार तथा मोहिनी योगविभूतियों के आश्रय से निज देह की विश्वव्याप्ति झलकाकर ईश्वर के

आत्मकल्पित विराट् रूप का दर्शन कराया था। उसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव यह हुआ कि अर्जुन को कृष्ण की अलौकिक योगोपलब्धियों तथा शक्तियों में पूर्ण विश्वास होगया और परिणाम यह हुआ कि अर्जुन संशयरहित होकर पुनः युद्ध करने को सन्नद्ध होगया।

दृष्टिवशीकार तथा मोहिनी, इन दो योगविभूतियों से संसिद्ध कोई भी योगी किसी को भी निज देह में विराट् का दर्शन करा सकता है। राजयोग के अभ्यास के दिनों में स्वयं मुझे यह सिद्धि अनायास प्राप्त होगई थी और तब मैंने एक बार एक मुस्लिम मित्र को और दूसरी बार एक आर्य-बन्धु को अपने स्वयं के देह में विराट् का दर्शन कराया था। विभूतिपाद के अभ्यासी के लिए यह कोई कठिन कार्य नहीं है।

४२४ 'अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्।१०
४२५ 'दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्।११

'(अन्-एक-वक्त्र-नयनम्) अनेक मुखों और नेत्रों से युक्त, (अन्-एक-अद्भुत-दर्शनम्) अनेक-अद्भुत-दर्शनों से युक्त, (अन्-एक-दिव्य-आ-भरणम्) अनेक दिव्य आ-भूषणों से युक्त, (दिव्य-अन्-एक-उत्-यत-आ-युधम्) अनेक दिव्य शस्त्रों को ऊपर उठाए हुए, (दिव्य-माल्य-अम्बर-धरम्) दिव्य मालाओं और वस्त्रों को धारण किए, (दिव्य-गन्ध-अनु-लेपनम्) दिव्य गन्ध-वाली वस्तुओं से अनु-लेपित (सर्व-आश्चर्य-मयम्) सर्व आश्चर्यों से युक्त, (विश्वतः-मुखम्) सर्वतो-मुख (अन्-अन्तम् देवम्) अनन्त देव को [दर्शाया कृष्ण ने अर्जुन को]।

४२६ 'दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः।१२

'उस देव का वह दिव्य स्वरूप ऐसा दिखाई दिया कि (दिवि) आकाश में (सूर्य-सहस्रस्य) हजार सूर्यों की (भाः) प्रभा (युग-पत् उत्-स्थिता भवेत्) एक साथ ऊपर उठी हो तो (सा) वह [प्रभा] (यदि) शायद ही (तस्य महात्मनः) उस महा-आत्मा के (भासः सदृशी) प्रकाश के जैसी (स्यात्) हो।

४२७ 'तत्रैकस्थं जगत् कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद् देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा।१३

'(पाण्डवः) पाण्डुपुत्र [अर्जुन] ने (तदा) तब (अपश्यत्) देखा (अन्-एक-धा प्र-वि-भक्तम् कृत्स्नम् जगत्) अनेक प्रकार से प्र-वि-भक्त समस्त जगत् को (तत्र देव-देवस्य शरीरे एक-स्थम्) वहां देवाधिदेव के शरीर में एकत्र।

४२८ 'ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ।'१४

'(ततः) तत्पश्चात् (सः वि-स्मय-आ-विष्टः हृष्ट-रोमा धनम्-जयः) वह आश्चर्य से आ-विष्ट हर्षित-रोम अर्जुन (शिरसा देवम् प्र-नम्य) शिर से देव [कृष्ण] को प्रणाम करके (कृत-अञ्जलिः अभाषत) हाथ जोड़कर बोला,

अर्जुन उवाच

४२९ 'पश्यामि देवाँस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषीँश्च सर्वानुरगाँश्च दिव्यान् ।१५

'(देव) देव ! मैं (पश्यामि) देख रहा हूं (तव देहे) तेरे शरीर में (सर्वान् देवान् तथा भूत-वि-शेष-सम्-घान्) सब देवों तथा भूत-वि-शेषों के सं-घों को, (कमल-आसन-स्थम् ब्रह्माणम्) कमलासन-स्थ ब्रह्मा को, (ईशम्) ईश को (च सर्वान् ऋषीन्) और सब ऋषियों को (च दिव्यान् उर-गान्) और दिव्य पेट के बल चलनेवालों [सर्पों] को ।

४३० 'अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ।१६

'(विश्व-ईश्वर) सर्वेश्वर ! (विश्व-रूप) सर्व-रूप ! मैं (पश्यामि) देख रहा हूं (त्वाम् अन्-एक-बाहु-उदर-वक्त्र-नेत्रम् सर्वतः अन्-अन्त-रूपम्) तुझ अनेक बाहु-उदर-मुख-नेत्रवाले, सर्वतः अनन्त-रूप को। मैं (पश्यामि तव न अन्तम्, न मध्यम् पुनः न आदिम्) देखता हूं तेरा न अन्त, न मध्य, फिर न आदि ।

४३१ 'किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद् दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ।१७

'मैं (पश्यामि) देख रहा हूं (त्वाम्) तुझ (किरीटिनम्) मुकुटयुक्त, (गदिनम्) गदायुक्त, (चक्रिणम्) चक्रयुक्त, (सर्वतः दीप्तिमन्तम्) सर्वतः दीप्तिमान्, (तेजः-राशिम्) तेजो-राशि, (दीप्त-अनल-अर्क-द्युतिम्) दीप्त-अग्नि-सूर्य-द्युति-युक्त, (दुः-नि-ईक्ष्यम्) दुर्लभ-दर्शन (च) और (अ-प्र-मेयम्) अ-सीम को (समन्तात्) सब ओर से ।

४३२ 'त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ।१८

'(मे मतः) मेरा मत [है कि] (त्वम्) तू (वेदितव्यम् परमम् अ-क्षरम्) जानने-योग्य परम अ-विनाशी [है], (त्वम् अस्य विश्वस्य परम् नि-धानम्) तू इस विश्व का पर आश्रय [है], (त्वम् अ-वि-अयः, शाश्वत-धर्म-गोप्ता) तू अ-वि-नाशी [और] शाश्वत-धर्म-रक्षक [है], (त्वम् सनातनः पुरुषः) तू सनातन पुरुष [है]।

४३३ 'अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ।१९

'मैं (पश्यामि) देखता हूं (त्वाम्) तुझ (अन्-आदि-मध्य-अन्तम्) आदि-मध्य-अन्त-रहित, (अन्-अन्त-वीर्यम्) अनन्त-पराक्रम, (अन्-अन्त-बाहुम्) अनन्त-बाहु, (शशि-सूर्य-नेत्रम्) चन्द्र-सूर्य-नेत्र, (दीप्त-हुत-अश-वक्त्रम्) दीप्त-अग्नि-मुख, (स्व-तेजसा इदम् विश्वम् तपन्तम्) स्व-तेज से इस विश्व को तपाते हुए को ।

४३४ 'द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ।२०

'(महात्मन्) महात्मन् ! (इदं द्यावापृथिव्योः अन्तरम्) यह भूमि और द्यौ के बीच का आकाश [अवकाश] (च) और (सर्वाः दिशः) सब दिशाएं (त्वया एकेन हि) तुझ एक से ही (वि-आप्तम्) व्याप्त [है] । (तव इदम् अद्भुतम् उग्रम् रूपम् दृष्ट्वा) तेरे इस अद्भुत उग्र रूप को देखकर (लोक-त्रयम् प्र-व्यथितम्) लोक-त्रय व्यथित [है] ।

४३५ 'अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद् भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ।२१

'(त्वाम् हि) तुझे ही, तुझमें ही (अमी सुर-सम्-घाः विशन्ति) वे देवताओं के सं-घ प्रवेश कर रहे हैं । (के चित्) कितने ही (भीताः) डरे हुए (प्र-अञ्जलयः) हाथ जोड़े (गृणन्ति) स्तवन कर रहे हैं । (महर्षि-सिद्ध-सम्-घाः) महर्षियों और सिद्धों के सं-घ (सु-अस्ति) 'स्वस्ति', (इति उक्त्वा) ऐसा कहकर (त्वाम् पुष्कलाभिः स्तुतिभिः स्तुवन्ति) तुझे प्रचुर स्तुतियों से स्तुतरहे हैं ।

४३६ 'रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ।२२

'(रुद्र-आदित्याः वसवः) ग्यारह रुद्र और बारह आदित्य, आठ वसु (च ये विश्वे साध्याः अश्विनौ च मरुतः) और जो साध्य सब देव, दोनों अश्वी और मरुत (च ऊष्म-पाः) और प्राण (च) और (गन्धर्व-यक्ष-असुर-सिद्ध-सम्-घाः) गन्धर्वों, यक्षों, असुरों और सिद्धों के सं-घ, (सर्वे) सब (वि-स्मिताः) वि-स्मित हुए (त्वाम् एव वि-ईक्षन्ते) तुझे ही देख रहे हैं ।

४३७ 'रूपं महत् ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ।२३

'(महा-बाहो) महावीर ! (बहु-वक्त्र-नेत्रम्) बहुत मुख और नेत्रवाले, (बहु-बाहु-ऊरु-पादम्) बहुत बाहुओं, जंघाओं और पगों वाले, (बहु-उदरम्) बहुत उदरों

वाले, (बहु-दंष्ट्रा-करालम्) बहुत विकराल दाढ़ों वाले (ते महत् रूपम् दृष्टा) तेरे विशाल रूप को देखकर (लोकाः प्र-व्यथिताः) लोक-लोकान्तर व्यथित हुए-हुए [हैं] (तथा अहम्) और मैं [भी व्यथित हूं]।

४३८ 'नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो।२४

'(विष्णो) विष्णो! (नभः-स्पृशम्) नभ को स्पर्श करनेवाले, (दीप्तम्) दीप्त, (अन्-एक-वर्णम्) अनेक रंगों वाले, (वि-आत्त-आननम्) फैले मुख वाले, (दीप्त-वि-शाल-नेत्रम्) दीप्त और वि-शाल नेत्रों वाले (त्वाम् दृष्ट्वा) तुझे देखकर (प्र-व्यथित-अन्तः-आत्मा) प्र-व्यथित-अन्तरात्मा वाला मैं (धृतिम् च शमम् न हि विन्दामि) धैर्य और शान्ति को नहीं ही प्राप्त होरहा हूं।

४३९ 'दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास।२५

'(ते) तेरे (दंष्ट्रा-करालानि) विकराल दाढ़ों वाले (च) और (काल-अनल-सम्-निभानि) कालाग्नि के समान [प्रज्वलित] (मुखानि) मुखों को (दृष्ट्वा) देखकर (दिशः न जाने) दिशाओं को नहीं जान रहा हूं (च न शर्म एव लभे) और न सुख ही लाभ कर रहा हूं। (देव-ईश) देवेश! (जगत्-नि-वास) जगदाधार! (प्र-सीद) प्रसन्न हो।

४४० 'अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः।२६

'(धृत-राष्ट्रस्य पुत्राः अवनि-पाल-सम्-घैः सह) धृत-राष्ट्र के पुत्र भू-पतियों के सं-घों सहित (च) और (भीष्मः द्रोणः तथा असौ सूत-पुत्रः) भीष्म, द्रोण तथा वह कर्ण, (अस्मदीयैः अपि योध-मुख्यैः सह) हमारे भी मुख्य योधाओं सहित—(अमी सर्वे एव) वे सब ही (त्वाम्) तुझे/तुझमें (विशन्ति) प्रवेश कररहे हैं।

४४१ 'वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद् विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः।२७

'वे सब (त्वरमाणाः) अतिशीघ्रता करते हुए (ते) तेरे (दंष्ट्रा-करालानि भया-नकानि वक्त्राणि) विकराल दाढ़ों वाले भयानक मुखों को/में (विशन्ति) प्रवेश कररहे हैं। (के चित्) कितने ही (चूर्णितैः उत्तम-अङ्गैः) चूर्णित शिरों सहित (ते) तेरे (दशन-अन्तरेषु) दांतों के बीच में (वि-लग्नाः) लगे, अटके हुए (सम्-दृश्यन्ते) दिखाई देरहे हैं।

४४२ 'यथा नदीनां बहवो ऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ।२८
'(यथा) जैसे (नदीनाम्) नदियों के (बहवः अम्बु-वेगाः) बहुत से जल-प्रवाह (समुद्रम् एव अभि-मुखाः) समुद्र को ही अभि-मुख करके (द्रवन्ति) बहते हैं (तथा) वैसे ही (अमी नर-लोक-वीराः) ये नर-लोक के वीर (तव अभि-वि-ज्वलन्ति वक्त्राणि) तेरे प्र-ज्वलित मुखों के प्रति (विशन्ति) प्रवेश कररहे हैं ।

४४३ 'यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ।२९
'(यथा) जैसे (सम्-ऋद्ध-वेगाः पतङ्गाः) समृद्ध-वेग पतंगे (नाशाय) नाशार्थ (प्र-दीप्तम् ज्वलनम्) प्र-दीप्त ज्वाल को (विशन्ति) प्रवेश करते हैं (तथा एव सम्-ऋद्ध-वेगाः लोकाः अपि) वैसे ही समृद्ध-वेग लोक भी (नाशाय) नाशार्थ (तव वक्त्राणि विशन्ति) तेरे मुखों को प्रवेश कररहे हैं ।

४४४ 'लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत् समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ।३०
'(विष्णो) विष्णो ! तू (ज्वलद्भिः वदनैः) प्रज्वलित मुखों से (सम्-अग्रान् लोकान्) समग्र लोकों को (ग्रसमानः) ग्रसता हुआ (सम्-अन्तात्) सब ओर से (लेलिह्यसे) चाट रहा है । (तव उग्राः भासः) तेरे उग्र प्रकाश (सम्-अग्रम् जगत्) समस्त जगत् को (तेजोभिः आ-पूर्य) तेजों से पूरकर (प्र-तपन्ति) प्र-तपा रहे हैं ।

४४५ 'आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमो ऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ।'३१
'(आ-ख्याहि मे) कहिए मेरे प्रति, (उग्र-रूपः भवान् कः) 'उग्र-रूप आप कौन [हैं] ।' (नमः अस्तु ते) नमन हो तेरे लिए । (देव-वर) देव-श्रेष्ठ ! (प्र-सीद) प्रसन्न हो । मैं (वि-ज्ञातुम् इच्छामि) जानना चाहता हूं (भवन्तम् आद्यम्) आप [के] आद्य [आदि-रूप] को । मैं (न हि प्र-जानामि) नहीं जानता हूं (तव प्र-वृत्तिम्) तेरी प्र-वृत्ति को ।'

श्रीभगवानुवाच

४४६ 'कालो ऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो
लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋते ऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
ये ऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ।३२

कृष्ण ने कहा, 'मैं (लोक-क्षय-कृत् प्र-वृद्धः कालः अस्मि) लोक-विनाश-क प्र-वृद्ध काल हूं [और] (लोकान्) [दुर्योधनादि पापी] लोगों को (सम्-आ-हर्तुम्)

समाप्त करने को (इह) यहां (प्र-वृत्तः) प्रवृत्त [हूं]। (प्रति-अनीकेषु) विरोधी सेनाओं में (ये योधाः अव-स्थिताः) जो योधा अव-स्थित [हैं वे] (सर्वे) सब (त्वाम् ऋते अपि) तुझे/तेरे बिना भी (न भविष्यन्ति) नहीं रहेंगे।

४४७ 'तस्मात् त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।३३

'(सव्य-साचिन्) बायें हाथ से शस्त्र संचालन करनेवाले [अर्जुन]! (तस्मात्) उससे, उस कारण (त्वम् उत्-तिष्ठ) तू उठ खड़ा हो। (यशः लभस्व) यश लाभ कर। (शत्रून् जित्वा सम्-ऋद्धम् राज्यम् भुङ्क्ष्व) शत्रुओं को जीतकर सम्पन्न राज्य को भोग। (मया एव एते सर्वे पूर्वम् एव नि-हताः) मेरे द्वारा ही ये सब पहले ही मृत [हैं]। तू तो (नि-मित्त-मात्रम् भव) निमित्तमात्र हो।

४४८ 'द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्।'३४

'(द्रोणम् च भीष्मम् च जयत्-रथम् च कर्णम्) द्रोण को और भीष्म को और जयद्रथ को और कर्ण को (तथा मया हतान् अन्यान् योध-वीरान् अपि) तथा मेरे द्वारा हत अन्य वीर-योधाओं को भी (त्वम् जहि) तू मार। (मा व्यथिष्ठाः) मत व्यथित हो। (युध्यस्व) युद्ध कर। (तू सपत्नान्) शत्रुओं को (रणे) युद्ध में (जेतासि) जीतेगा।'

संजय उवाच

४४९ 'एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य।'३५

संजय ने [धृतराष्ट्र से] कहा, '(केशवस्य एतत् वचनम् श्रुत्वा) केशव का यह वचन सुनकर (किरीटी) मुकुटधारी [अर्जुन] ने (कृत-अञ्जलिः) हाथ जोड़े हुए, (वेपमानः) कांपते हुए, (नमः-कृत्वा) नमन करके, (भूयः एव भीत-भीतः प्र-नम्य) बहुत ही डरते हुए प्र-णाम करके (स-गद्-गदम्) गद्-गद-सहित (कृष्णम् आह) कृष्ण के प्रति कहा।'

अर्जुन उवाच

४५० 'स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत् प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः।३६

'(हृषीक-ईश) इन्द्रियों के ईश, जितेन्द्रिय [कृष्ण] ! (स्थाने) स्थान में, उचित ही (तव प्र-कीर्त्या) तेरी सु-कीर्ति से (जगत् प्र-हृष्यति) जगत् प्र-सन्न होरहा है (च) और (अनु-रज्यते) प्रीतिमान् होरहा है। (रक्षांसि भीतानि) राक्षस भयभीत हुए (दिशः द्रवन्ति) इधर उधर भाग रहे हैं (च) और (सर्वे सिद्ध-सम्-घाः) सब सिद्ध-सं-घ (नमस्यन्ति) नमन कर रहे हैं।

४५१ 'कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणो ऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत् तत्परं यत् ।३७

'(महात्मन्) महात्मन् ! (ब्रह्मणः अपि आदि-कर्त्रे च गरीयसे ते) ब्रह्मा के भी आदि-कर्ता तथा बड़े तेरे लिए [सिद्धसंघ] (कस्मात् न नमेरन्) कैसे न नमें ? (अन्-अन्त) अ-सीम ! (देव-ईश) देवेश ! (जगत्-नि-वास) जगदाश्रय ! (यत् सत् अ-सत्) जो सत्, अ-सत् [है], (अ-क्षरम् त्वम् तत्-परम्) अ-विनाशी तू उससे परे [है]।

४५२ 'त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ।३८

'(अन्-अन्त-रूप) अनन्त-रूपवाले ! (त्वम् असि) तू है (आदि-देवः) आदि-देव (पुराणः पुरुषः) सनातन पुरुष। (त्वम् असि) तू है (अस्य विश्वस्य परम् नि-धानम् च वेत्ता, वेद्यम् च परम् धाम) इस विश्व का पर आधार और जाननेवाला [तथा] जाना जानेयोग्य और पर धाम। (त्वया विश्वम् ततम्) तेरे द्वारा विश्व विस्तारित [है]।

४५३ 'वायुर्यमो ऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्ते ऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयो ऽपि नमो नमस्ते ।३९

'(त्वम् वायुः, यमः, अग्निः, वरुणः, शश-अङ्कः, प्र-जा-पतिः च प्र-पिता-महः) तू [है] वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्र-जा-पति और पिताओं का पिता-मह। (ते सहस्र-कृत्वः नमः, नमः अस्तु) तेरे लिए असंख्य बार नमन [हो], नमन हो। (ते) तेरे लिए (भूयः अपि च पुनः) अधिकाधिक और पुनः [पुनः] (नमः, नमः) नमन, नमन।

४५४ 'नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमो ऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततो ऽसि सर्वः ।४०

'(अन्-अन्त-वीर्य) अनन्त-शक्तिमन् ! (ते पुरस्तात् अथ पृष्ठतः नमः) तेरे लिए आगे से और पीछे से नमन। (सर्व) सर्वस्व ! (ते सर्वतः एव नमः अस्तु) तेरे लिए सब ओर से ही नमन हो। (अ-मित-वि-क्रमः त्वम्) अ-मित-परा-क्रम तू (सर्वम् सम्-आप्नोषि) सबको व्याप रहा है। (ततः) अतः तू (सर्वः असि) व्यापक और सर्वरूप है।

४५५ 'सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात् प्रणयेन वापि ।४१

'तू मेरा (सखा) सखा [है], (इति मत्वा) ऐसा मानकर, (तव इदम् महिमानम् अ-जानता) तेरी इस महिमा को अ-जाने, (प्र-मादात्) भूल से, (वा प्र-नयेन अपि) वा प्यार से भी (मया) मेरे द्वारा (हे कृष्ण, हे यादव, हे सखे) 'हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे !' (इति यत् प्र-सभम् उक्तम्) ऐसा जो सत्कार-असूचक कहा गया ।

४५६ 'यच्चावहासार्थमसत्कृतो ऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एको ऽथ वाप्यच्युत तत्समक्षं तत् क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ।४२

'(अ-च्युत) अ-विचल ! (च यत्) और जो [तू] (एकः अथ वा तत्-सम्-अक्षम् अपि) अकेले वा उन[सखाओं]के समक्ष भी (अव-हास-अर्थम्) उप-हासार्थ (विहार-शय्या-आसन-भोजनेषु) विहार-शय्या-आसन-भोजन में [मेरे द्वारा] (अ-सत्-कृतः असि) अ-सत्-कृत हुआ [है], (अहम्) मैं (त्वाम् अ-प्र-मेयम्) तुझ अ-परि-मित के प्रति (तत्) वह (क्षामये) क्षमा कराता हूं, क्षमा करने की याचना करता हूं ।

४५७ 'पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समो ऽस्त्यभ्यधिकः कुतो ऽन्यो
लोकत्रये ऽप्यप्रतिमप्रभाव ।४३

'(अ-प्रति-म-प्र-भाव) अ-तुलनीय-प्र-भाव वाले ! (त्वम् अस्य चर-अ-चरस्य लोकस्य) तू इस चराचर लोक का (पिता) पिता, (गरीयान् गुरुः) बड़ा गुरु (च) और (पूज्यः) पूज्य (असि) है । (लोक-त्रये अपि) तीनों लोकों में भी (त्वत्-समः अन्यः न अस्ति) तेरे-समान दूसरा नहीं है । (अभि-अधिकः कुतः) बढ़कर कहां से [आए] !

४५८ 'तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ।४४

'(तस्मात्) अतः, (देव) देव ! (अहम् त्वाम् ईड्यम् ईशम्) मैं तुझ स्तुत्य देव को (प्र-सादये) प्र-सन्न करता हूं (कायम् प्र-नि-धाय प्र-नम्य) शरीर को [तेरे] चरणों पर रख प्र-णाम करके । तू (सोढुम् अर्हसि) सहारने-योग्य है (पिता-इव पुत्रस्य) पिता-जैसे पुत्र के, (सखा-इव सख्युः) सखा-जैसे सखा के, (प्रियः प्रियायाः) प्रिय [जैसे] प्रिया की [भूल क्षमा करता है] ।

४५९ 'अदृष्टपूर्वं हृषितो ऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ।४५

'मैं तेरे (अ-दृष्ट-पूर्वम् दृष्ट्वा) अ-दृष्ट-पूर्व [रूप] को देखकर (हृषितः अस्मि)

हर्षित हूं (च) और (मे मनः भयेन प्र-व्यथितम्) मेरा मन भय से प्र-व्यथित [है]। (देव देव-ईश) देव ! देवेश ! (जगत्-नि-वास) जगदाश्रय ! (मे तत् रूपम् एव दर्शय) मुझे [अपने] उस रूप को ही दिखा। (प्र-सीद) प्र-सन्न हो।

४६० 'किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते।'४६

'(अहम्) मैं (त्वाम् किरीटिनम्, गदिनम्, चक्र-हस्तम्) तुझ मुकुटधर, गदाधर, चक्र-हस्त को (तथा एव) वैसे ही (द्रष्टुम् इच्छामि) देखना चाहता हूं। (विश्व-मूर्ते सहस्र-बाहो) विश्व-मूर्त्ति ! अनन्त-बाहु ! (तेन चतुः-भुजेन रूपेण एव भव) उस चतुर्भुज रूप से ही हो।'

श्रीभगवानुवाच

४६१ 'मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्।४७

कृष्ण ने कहा, '(अर्जुन) अर्जुन ! (प्र-सन्नेन मया) प्र-सन्न [हुए] मेरे द्वारा (आत्म-योगात्) आत्म-योग से (मे इदम् परम् तेजः-मयम् आद्यम् अन्-अन्तम् विश्वम् रूपम्) अपना यह पर, तेजो-मय, आदि, अनन्त, विश्व रूप (तव) तेरे प्रति (दर्शितम्) दर्शाया गया है (यत् त्वत्-अन्येन) जो तुझसे-भिन्न [अन्य किसी] के द्वारा (न दृष्ट-पूर्वम्) पहले नहीं देखा गया है।

४६२ 'न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर।४८

'(कुरु-प्र-वीर) कुरुकुल-वीर [अर्जुन] ! (एवम्-रूपः अहम्) इस प्रकार के रूपवाला मैं (नृ-लोके) मनुष्य-लोक में (त्वत्-अन्येन) तुझसे भिन्न, तेरे सिवाय अन्य किसी द्वारा (द्रष्टुम्) देखा जाना (न वेद-यज्ञ-अधि-अयनैः) न वेद-यज्ञ-अध्ययन से, (न दानैः) न दानों से, (न क्रियाभिः) न कर्मकाण्डों से (च) और (न उग्रैः तपोभिः) न उग्र तपों से (शक्यः) शक्य [हूं]।

४६३ 'मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ् ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य।'४९

'(ते) तुझे (मा व्यथा) न व्यथा [हो], (च मा वि-मूढ-भावः) और न वि-मूढ-भाव [हो] (दृष्ट्वा) देखकर (मम इदम् ईदृक् घोरम् रूपम्) मेरे इस ऐसे घोर रूप को। (वि-अप-इत-भीः प्रीत-मनाः त्वम्) वि-गत-भय, प्रीति-मन तू (मे तत् इदम् रूपम् एव पुनः प्र-पश्य) मेरे उस इस रूप को ही फिर सम्यक् देख।'

संजय उवाच

४६४ 'इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा।'५०

संजय ने धृतराष्ट्र से कहा, '(वासुदेवः अर्जुनम् इति उक्त्वा) कृष्ण ने अर्जुन के प्रति ऐसा कहकर (भूयः स्वकम् रूपम् तथा दर्शयामास) फिर अपना रूप वैसा दर्शाया (च) और (महात्मा) महात्मा [कृष्ण] ने (पुनः सौम्य-वपुः भूत्वा) फिर सौम्य-रूप होकर (एनम् भीतम्) इस [भय]भीत [अर्जुन] को (आ-श्वा-सयामास) आ-श्वस्त किया।'

अर्जुन उवाच

४६५ 'दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः।'५१

अर्जुन बोला, '(जन-अर्दन) जनार्दन [कृष्ण]! मैं (तव इदम् सौम्यम् मानुषम् रूपम् दृष्ट्वा) तेरे इस सौम्य, मानुष रूप को देखकर (इदानीम् स-चेताः प्र-कृतिम् गतः सम्-वृत्तः अस्मि) अब चेतना-सहित, प्र-कृति को प्राप्त हुआ हूं।'

श्रीभगवानुवाच

४६६ 'सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः।५२

कृष्ण ने कहा, '(मम) मेरे (इदम् सु-दुः-दर्शम् रूपम्) इस सु-दुर्लभ-दर्शन रूप को (यत् दृष्टवान् असि) जो [तूने] देखा है, (देवाः अपि) देव जन भी (अस्य रूपस्य) इस रूप के (नित्यम् दर्शन-काङ्क्षिणः) सदा दर्शनाभिलाषी [रहते हैं]।

४६७ 'नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा।५३

'तूने (माम् यथा दृष्टवान् असि) मुझे जैसे देखा है, (एवम्-विधः अहम् द्रष्टुम्) इस-विध मैं देखा जाना (न वेदैः शक्यः) न वेदों से शक्य हूं, (न तपसा) न तप से, (न दानेन) न दान से, (च न इज्यया) और न यज्ञ से।

४६८ 'भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप।५४

'(परम्-तप अर्जुन) परम-तपस्वी! अर्जुन! (एवम्-विधः अहम्) इस-विध मैं (द्रष्टुम्) देखे जाने को (च तत्त्वेन ज्ञातुम्) और तत्त्व से जाना जाने को (च प्र-वेष्टुम्) और प्रवेश किया जाने को (तु) तो (अन्-अन्यया भक्त्या शक्यः) अनन्य भक्ति से शक्य [हूं]।

४६९ 'मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।'५५

'(पाण्डव) पाण्डु-पुत्र [अर्जुन]! (यः) जो (मत्-कर्म-कृत्) मेरे कर्म करनेवाला, (मत्-भक्तः) मेरी भक्ति करनेवाला, (मत्-परमः) मुझे परम माननेवाला,

(सङ्ग-वर्जितः) आसक्ति-वर्जित, (सर्व-भूतेषु निः-वैरः) सब प्राणियों में वैर-रहित [है] (सः माम् एति) वह मुझे प्राप्त करता है।'

गीता का ग्यारहवां अध्याय विराट् रूप के लिए प्रसिद्ध है। इस अध्याय में जो रूप दर्शाया गया है वह ब्रह्म का विराट् रूप नहीं है, श्लोक ८ के अनुसार कृष्ण का अपनी योगमाया का रूप है। उसी श्लोक के अनुसार, कृष्ण ने अर्जुन को जो दिव्य दृष्टि प्रदान की थी वह क्या थी ? योगविभूतियों में *परचित्तवशीकार* एक विभूति है। उसी का एक लघु रूप वर्तमान काल का हिप्नोटिज़्म है।

अर्जुन को मोहजन्य विषाद ने धर दवाया था। उसके परिणामस्वरूप वह विस्मृतिग्रस्त होगया। सभी स्मृतियों ने उसका साथ छोड़ दिया। आत्मविस्मृति के साथ साथ उसे कर्तव्यविस्मृति भी होगई। वीर कायर होगया। स्वजनों के मोह के साथ उसे संशय ने भी आ घेरा। द्रोण, भीष्म, कर्ण जिन्हें वह 'स्व' जन बता रहा है वे तो कभी से उसके 'पर' जन बन चुके थे। अर्जुन को उनसे कोई विशेष लगाव शेष नहीं रहा था। वास्तव में, अर्जुन को अपने पक्ष की विजय में संशय होरहा था। वह समझ रहा था कि भीष्म, कर्ण, द्रोण, आदि योधाओं को परास्त वा हत करना सम्भावनाओं से परे की बात थी। पर कृष्ण को अपनी योगनीति के बल पर पाण्डवों की विजय की सम्पादना में पूर्ण विश्वास था। पाण्डवदल का प्रमुख योधा अर्जुन था। वह ऐन समय पर डगमगा रहा था। कृष्ण को अपने नेतृत्व की प्रतिष्ठा का खयाल था। वह स्वयं शस्त्रास्त्र न छूने की प्रतिज्ञा कर चुका था।

दस अध्यायों का सारा प्रयास निरर्थक सिद्ध हुआ। अर्जुन टस-से-मस नहीं होरहा था। युद्ध के लिए उसके मुख से 'हाँ' नहीं निकल रही थी। मोह, विषाद और संशय उसे जकड़े हुए थे। उस सबको दूर करने के लिए कृष्ण के पास अपने चित्त से अर्जुन के चित्त को अनुचित [हिप्नॉटाइज़्ड्] करके उसे अपना योगैश्वर्य दर्शाने के अतिरिक्त अन्य कोई चारा शेष नहीं रह गया था।

कृष्ण के चित्त से अनुचित्त होकर, कृष्ण की अन्यान्य योगजन्य अलौकिकताओं के अतिरिक्त, अर्जुन देखता है कि दुर्योधन के प्रधान योधात्रय [भीष्म, द्रोण, कर्ण] काल के विकराल मुख में मृत्यु के ग्रास हो रहे हैं। उधर अर्जुन के अनुचित्त चित्त पर कृष्ण प्रभाव डालकर उसे साक्षात् दिखा रहा है, 'मैं लोकक्षयकृत् काल हूं। मैं शत्रुपक्ष के वीरों को विनष्ट करने में प्रवृत्त हूं। तू युद्ध न करेगा तो भी इनका वध होना है।'

अर्जुन एक सरलहृदय वीर पुरुष था। उसकी कोई तात्त्विक और

निभ्रान्ति दीक्षा, शिक्षा नहीं हुई थी। वह 'मरो, मारो' के वातावरण में बड़ा हुआ था। उसे लगा, 'कृष्ण के रूप में स्वयं परमात्मा अवतरित है।' उसे अपनी विजय में विश्वास-सा अनुभव होने लगा। निराशा के अन्धकार में से निकलकर वह आशा के उजाले-से में आया। पूर्ण विश्वास उसे अब भी नहीं है। तभी तो वह अध्याय १२ से १८ तक फिर कृष्ण से निरन्तर अप्रासंगिक, बहकी-बहकी बातें किए चला जा रहा है। यदि उसे विश्वास होगया होता तो वह विराट् रूप को देखने के पश्चात् फ़ौरन युद्ध के लिए सन्नद्ध होजाता और कह देता, 'अब मैं डटकर युद्ध करूंगा।' ऐसा तो उसने शेष सात अध्यायों की मग़ज़पच्ची के बाद कहा,

'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत।
स्थितो ऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।' (१८.७३)

'अच्युत [कृष्ण] ! तेरी कृपा से [मेरा] मोह नष्ट हुआ। मुझे स्मृति प्राप्त हुई। मुझे होश आया। तेरे आदेश का पालन करके अब युद्ध करूंगा।'

यह सारा ही अध्याय चित्तानुचित्त-चिकित्सापद्धति का प्रयोग है। इस अध्याय से पूर्व के दस अध्याय चित्तानुचित्त-प्रयोग [हिप्नॉटिज़्म] की भूमिका हैं और इसके बाद के सात अध्याय मतिविभ्रम की सफल चिकित्सा हैं। कुल मिलाकर सारी *गीता* भ्रमित मति की चित्तानुचित्त-चिकित्सा ही है। तभी तो निरुपायता की अवस्था में *गीता* के श्लोकों के उच्चारण से मनुष्य को ढारस-सा बंधता है। मतिचिकित्सा और तत्त्वज्ञान का *गीता* अद्भुत समन्वय है।

बारहवां अध्याय

जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है, *गीता*-कार ने *गीता* में पात्रपद्धति से मतिचिकित्सा और तत्त्वज्ञान का समन्वय किया है। उसने कृष्ण को परमात्मा का और अर्जुन को जिज्ञासु का पात्र बनाकर अध्याय ३ से १८ तक आत्माभिप्राय प्रकट किया है। महाभारत से ऐतिहासिक सम्बन्ध रखनेवाले तो केवल *गीता* के प्रथम और द्वितीय अध्याय हैं, जिनमें प्रासंगिक वार्ता है और जिनमें पात्रपद्धति का लेशमात्र पुट न होकर दो सखाओं के बीच के ऐतिहासिक तथ्य का प्रकाशन है।

अर्जुन उवाच

४७० 'एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ?' १

ग्यारहवें अध्याय के चित्तानुचित-प्रयोग के प्रभाव से मुक्त होकर जिज्ञासु-पात्र, अर्जुन पुनः दसवें अध्याय से सम्बन्ध जोड़कर परमात्म-पात्र कृष्ण से प्रश्न करता है, '(एवम्) इस प्रकार (ये सतत-युक्ताः भक्ताः) जो निरन्तर प्रीतियुक्त भक्त [जन] (त्वाम् परि-उप-आसते) तुझे सर्वतः उपासते हैं (च) और (ये) जो [योगी जन तेरे] (अ-क्षरम् अ-वि-अक्तम्) अ-विनाशी, अव्यक्त [स्वरूप] को (अपि) ही [उपासते हैं] (तेषाम्) उनमें से (के योग-वित्तमाः) कौन योग-वित्-तम, योगज्ञतम [हैं] ?'

परमात्मा के उपासक दो प्रकार के हैं। एक हैं भक्त जो परमात्मा से प्रेम करते हैं। दूसरे हैं *योगी* जो योगाभ्यास द्वारा परमात्मा के निज रूप का साक्षात्कार करते हैं। भक्त का अर्थ है प्रेमी और *भक्ति* का अर्थ है प्रेम। भक्त परमात्मा को हृदय से प्यार करता है, उसका सदा स्मरण रखता है, उसके वेदविहित ओम् नाम का मानसिक जाप करता है, उससे सहायता, वैभव और विभूतियों के लिए प्रार्थना करता है। *योगी* का अर्थ है परमात्मा का संदर्शन करनेवाला, शिशु-माता के समान वक्ष-सवक्ष होकर उससे एकाकार होनेवाला। *योग* का अर्थ है वह साधनाविधि जिसके द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार किया जाता है।

जिज्ञासु-पात्र, अर्जुन प्रश्न करता है, 'परमात्मा की उपासना करनेवाले भक्तों तथा परमात्मा के निज रूप के दर्शनाभिलाषी योगियों में से कौन योगज्ञतम हैं, कौन योग के मर्म को अतिशयता के साथ जाननेवाले हैं ?'

श्रीभगवानुवाच

४७१ 'मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ।२

ब्रह्मपात्र कृष्ण उत्तर देते हैं, (ये) जो [योगी] (मयि मनः आ-वेश्य) मुझमें मन लगाकर (नित्य-युक्ताः) सतत समाहित रहते हुए (परया श्रत्-धया उप-इताः) परम श्रद्धा के साथ आत्मना युक्त हुए (माम् उप-आसते) मुझे उपासते हैं (ते मे युक्त-तमाः मताः) वे मेरे युक्त-तम माने जाते हैं।

जो योगी जन अपने मन को, अपनी चित्तवृत्ति को समाहित करके परम श्रद्धा [सत्य धारणा] के साथ परमात्मा से आत्मना युक्त रहते हैं वे ही योगज्ञतम हैं।

४७२ 'ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ।३

४७३ 'संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ।४

'(ये तु) जो तो (इन्द्रिय-ग्रामम् सम्-नि-यम्य) इन्द्रियों के समूह को सम्यक् नि-यन्त्रित करके (अ-क्षरम् अ-निः-देश्यम् अ-वि-अक्तम् सर्वत्र-गम् अ-चिन्त्यम् कूट-स्थम् अ-चलम् च ध्रुवम्) अ-विनाशी, अ-निवर्चनीय, अ-प्रकट, सर्व-व्यापक, चिन्तन से परे, एकरस, अ-चल और ध्रुव [ब्रह्म] को (परि-उप-आसते) सर्वतः उपासते हैं, (सर्व-भूत-हिते रताः, सर्वत्र सम-बुद्धयः ते एव) सब प्राणियों के हित में लीन [तथा] सर्वत्र सम-बुद्धिवाले वे [योगी] ही (माम् प्र-आप्नुवन्ति) मुझे प्राप्त, मेरा साक्षात्कार करते हैं।

उपर्युक्त गुणों से उपेत ब्रह्म का साक्षात् संदर्शन वे योगी ही कर पाते हैं जो योगाभ्यास की विहित विधि से उसकी परि-उपासना करते हैं, जो परिपूर्णता के साथ उसके साक्षात्कार का साधनोपाय करते हैं।

४७४ 'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ।५

'(तेषाम् अ-वि-अक्त-आ-सक्त-चेतसाम्) उन अ-व्यक्त-आ-सक्त चित्तवालों का (क्लेशः) श्रम [भक्तों की अपेक्षा] (अधिक-तरः) अधिकतर [होता है] (हि) क्यों कि (देह-वत्-भिः) देहधारियों के द्वारा (अ-वि-अक्ता गतिः) अ-प्रकट गति (दुःखम् अव-आप्यते) दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है।

प्रत्यक्षतः, ब्रह्म के अ-प्रकट निजरूप की प्राप्ति योगियों को बड़ी कठिनाई से होती है किन्तु परिणाम में सतत आनन्दप्रद होती है। भक्ति का मार्ग भावनाप्रधान और मनःसन्तोष तक सीमित होने से हर किसी के लिए नितान्त सरल होता है किन्तु परिणाम में दुःख-सुख, हर्ष-शोक में झुलानेवाला होता है।

४७५ 'ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ।६

'(ये मत्-पराः) जो मत्-परायण [हैं वे] (तु) तो (सर्वाणि कर्माणि मयि सम्-नि-अस्य) सब कर्मों को मुझमें अर्पण करके (अन्-अन्येन योगेन) अनन्य योग के साथ (ध्यायन्तः) ध्यान करते हुए (माम् एव उप-आसते) मुझे ही उपासते हैं।

योगी जन ब्रह्मपरायण होकर ब्रह्म की प्रेरणा से सब कर्तव्य कर्म करते हैं, अहंकार से नहीं। इसी का नाम ब्रह्म में 'सर्वकर्म-संन्यास' है। इस प्रकार सर्व कर्म करते हुए भी वे निष्कर्म रहते हैं, अनन्य आत्मयोग के साथ ब्रह्म का ध्यान करते हैं—यही योगियों की ब्रह्मोपासना है।

४७६ 'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थं मय्यावेशितचेतसाम् ।७

'(पार्थ) पृथा-पुत्र [अर्जुन] ! (मयि आ-वेशित-चेतसाम्) मुझमें चित्त रमानेवाले (तेषाम्) उन[योगियों]का (अहम्) मैं (न-चिरात्) अविलम्ब (मृत्युम्-सम्-सार-सागरात्) मृत्युमय सं-सार-सागर से (सम्-उत्-हर्ता भवामि) सम्यक् उद्धार करनेवाला होता हूं ।

ब्रह्मपरायण योगी ही मृत्युरूप संसारसागर को पार करके ब्राह्म मोक्ष प्राप्त करते हैं ।

४७७ 'मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ।८

'(मयि एव मनः आ-धत्स्व) मुझमें ही मन टिका । (मयि बुद्धिम् नि-वेशय) मुझमें बुद्धि स्थिर कर । (अतः ऊर्ध्वम्) इससे ऊपर, इसके पश्चात्, तू (मयि एव नि-वसिष्यसि) मुझमें ही नि-वास करेगा । [इसमें] (न सम्-शयः) संशय नहीं ।

मन की सम्पूर्ण भावना और बुद्धि के सम्पूर्ण चिन्तन से जो ब्रह्मसमाधि का अभ्यास करते हैं वे, निस्सन्देह, देह त्यागने पर ब्रह्म में शाश्वत निवास करते हैं ।

४७८ 'अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ।९

'(धनम्-जय) युद्ध-जेता [अर्जुन] ! (अथ) यदि तू (मयि चित्तम् स्थिरम् सम्-आ-धातुम् न शक्नोषि) मुझमें स्थिरता के साथ चित्त सं-स्थापित—समाहित नहीं कर सकता है (ततः) तो (अभ्यास-योगेन) अभ्यास-योग [योगाभ्यास] के द्वारा (माम् आप्तुम् इच्छ) मुझे प्राप्त करना चाह, पाने की इच्छा कर ।

४७९ 'अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ।१०

'तू (अभ्यासे अपि अ-सम्-अर्थः असि) अभ्यास में भी असमर्थ है तो (मत्-कर्म-परमः भव) मत्परायण होकर कर्मकरनेवाला हो । (मत्-अर्थम् कर्माणि कुर्वन् अपि) मेरे लिए कर्मों को करता हुआ भी तू (सिद्धिम् अव-आप्स्यसि) सिद्धि प्राप्त करेगा ।

अभ्यास-योग में असमर्थ भक्त को चाहिए कि वह ब्रह्मपरायण और ब्रह्मार्पण होकर कर्तव्य कर्मों का निर्वहन करे । ऐसा करने से उसमें योग के संस्कार अंकित होंगे और वह कालान्तर में योगाभ्यास में सिद्धि प्राप्त करेगा ।

४८० 'अथैतदप्यशक्तो ऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ।११

'तू (अथ) यदि (एतत् अपि कर्तुम् अ-शक्तः असि) यह भी करने को अशक्त है (ततः) तो (मत्-योगम् आ-श्रितः) मेरे योग को आ-श्रित हुआ, [मेरे मिलनार्थ] (यत-आत्मवान्) आत्म-वशी हुआ, (सर्व-कर्म-फल-त्यागम् कुरु) सब कर्मों के फल का त्याग कर ।

माली स्वामी के बाग़ में जो पौधे लगाता है, यह समझते हुए लगाता है कि उनके फलों का सेवन वह स्वयं नहीं, स्वामी की प्रजा करेगी । एवमेव पूर्व-पूर्वश्लोक की साधना अशक्य होने पर साधक सब कर्म ब्रह्म की प्रजार्थ करे । इससे भी योगाभ्यास के संस्कार निर्मित होते हैं ।

४८१ 'श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ।१२

'(हि) निश्चय से, (अभ्यासात् ज्ञानम् श्रेयः) अभ्यास से ज्ञान उत्कृष्टतर [है], (ज्ञानात् ध्यानम् वि-शिष्यते) ज्ञान से ध्यान बढ़कर है । (ध्यानात् कर्म-फल-त्यागः) ध्यान से कर्मों के फल का त्याग [होता है और कर्मों के फल के] (त्यागात्) त्याग से (अन्-अन्तरम् शान्तिः) व्यवधान-रहित शान्ति [प्राप्त होती है] ।

अभ्यास का लक्ष्य ज्ञान की प्राप्ति है । अभ्यास साधन है, ज्ञान साध्य । ज्ञान के पश्चात् ही ध्यान की सार्थकता है । ब्रह्म के स्वरूप का यथावत् ज्ञान होने पर ही ध्यान ब्रह्मसमाहिति प्राप्त कराता है । ब्रह्मसमाहिति से कर्मों में अनासक्ति सिद्ध होती है । कर्मों में अनासक्ति से कर्मों के फल का त्याग स्वयमेव सिद्ध होजाता है । कर्मों में अनासक्ति और कर्मों के फल का त्याग जहां है, वहां अशान्ति का क्या काम ? वहां तो सतत शान्ति ही शान्ति है ।

४८२ 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ।१३

'[शान्तिसिद्ध योगी] (एव) ही (सर्व-भूतानाम्) सब प्राणियों के मध्य (अ-द्वेष्टा) द्वेष-रहित, (मैत्रः) स्नेह करनेवाला, (करुणः) करुणा करनेवाला (च) और (निः-ममः) ममता-रहित, (निः-अहम्-कारः) अहं-कार-रहित, (सम-दुःख-सुखः) दुःख-सुख में सम, (क्षमी) क्षमाशील [होता है] ।

४८३ 'सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।१४

'(यः) जो (सततम्) सतत (सम्-तुष्टः) सन्तुष्ट, (यत-आत्मा) आत्म-वशी, (दृढ-निः-चयः) दृढ-निश्चय, (मयि अर्पित-मनः-बुद्धिः) मुझमें अर्पित मन-

बुद्धिवाला (मत्-भक्तः) मेरा भक्त [है] (सः योगी मे प्रियः) वह योगी मेरा प्रिय [है]।

प्रिय का अर्थ है प्यार करनेवाला। जो परमात्मप्रिय है, जो प्रभु को प्यार करता है वह मन और बुद्धि से, भावना और चिन्तन से प्रभु को अर्पित रहता है, दृढ़ निश्चय के साथ प्रभु की भक्ति करता है, प्रत्येक अवस्था और स्थिति में आत्मसंयम के आश्रय से सतत सन्तुष्ट रहता है। निस्सन्देह, वह महान् योगी है।

४८४ 'यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः।१५

'(सः मे प्रियः) वह मेरा प्रिय [है], वह मुझे प्यार करता है (यस्मात् न लोकः उद्-विजते) जिससे न संसार उद्विग्न होता है (च) और (न यः लोकात् उद्-विजते) न जो संसार से उद्विग्न होता है (च) और (यः) जो (हर्ष-अ-मर्ष-भय-उद्-वेगैः मुक्तः) हर्ष-ईर्ष्या-भय-उद्वेगों से मुक्त [है]।

परमात्मप्रिय योगी उद्वेगमुक्त होता है। वह न संसार को उद्विग्न [बेचैन, पीड़ित] करता है, न स्वयं संसार से उद्विग्न होता है। उसे संसार में किसी को दुःख देना अभीष्ट नहीं होता है और संसार द्वारा सताए जाने पर वह घबराता नहीं है। वह हर्ष, ईर्ष्या और भय से सदा मुक्त रहता है।

हर्ष में शोक, ईर्ष्या में उद्वेग और भय में विषाद निहित रहता है। जिस बात से हर्ष होता है उसके अभाव में शोक अवश्य होता है। दूसरे की उन्नति से ईर्ष्या होती है, तो मानसिक उद्वेग मानव को अन्धा कर देता है। जहां भय है वहां मस्तिष्क में चिन्ता और हृदय में अशान्ति होती ही है। चिन्ता और अशान्ति के संयोग से ही विषाद होता है। हर्ष, अमर्ष और भय से मुक्त रहने के कारण शोक, उद्विग्नता तथा विषाद से स्वतः ही, अनायास ही योगी मुक्त रहता है।

४८५ 'अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः।१६

'(सः मे प्रियः) वह मेरा प्रिय [है], वह मुझे प्यार करता है (यः मत्-भक्तः) जो मेरा भक्त (अन्-अप-ईक्षः) निरपेक्ष—अपेक्षा-रहित, (शुचिः) पवित्र, (दक्षः) दक्ष, (उत्-आसीनः) उदासीन, (गत-व्यथः) व्यथा-मुक्त [और] (सर्व-आ-रम्भ-परि-त्यागी) सब आ-रम्भों का परि-त्यागी [है]।

सहायता वा सहयोग के लिए आशाभरी दृष्टि से किसी की ओर देखने का नाम *अपेक्षा* है। परमात्मप्रिय योगी किसी व्यक्तिविशेष से कोई आशा नहीं करता है। वह भीतर-बाहर से सर्वथा शुद्ध—पवित्र होता है।

दक्ष होने के अतिरिक्त वह *उदासीन* भी होता है। उदासीन=उत् [ऊंचा]+आसीन [स्थित]। *उदासीन* का अर्थ वह नहीं है जो लोक में समझा जाता है। मायाजन्य विकारों तथा सांसारिकताओं से जो कमल-पुष्पवत् ऊपर उठा हुआ है वही उदासीन है। जो उदासीन है वह स्वभावतः ही सदा व्यथामुक्त—शोकरहित रहता है। कैसी भी घटनाएं उसे दुःखी नहीं करती हैं क्यों कि वह *सर्वारम्भत्यागी* होता है। उसने जो भी साधें आरम्भ की होती हैं उनमें उसकी आसक्ति नहीं होती है। अपने सकल आरम्भों का संवहन वह आसक्तिरहित होकर, त्यागभाव से कर रहा होता है।

४८६ 'यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः।१७

'(सः मे प्रियः) वह मेरा प्रिय [है], वह मुझे प्यार करता है (यः भक्तिमान्) जो भक्तिमान् (न हृष्यति) न हृष्ट होता है, (न द्वेष्टि) न द्वेष करता है, (न शोचति) न चिन्ता करता है, (न काङ्क्षति) न अभिलाषा करता है और (यः शुभ-अ-शुभ-परि-त्यागी) जो शुभ-अ-शुभ का परि-त्यागी [है]।

योगी हर्ष, द्वेष और चिन्ता से मुक्त होना ही चाहिए। *न काङ्क्षति* से तात्पर्य है सांसारिक सुख-भोगों की अनिच्छा। अन्यथा तो *कामनामयो हि पुरुषः*, योगी हो अथ वा भोगी, इच्छा आत्मा का लिङ्ग है।

योगयुक्त योगी ब्राह्मी स्थिति में स्थित होकर ब्राह्म कर्म ही करता है, जहां शुभ-अशुभ का कोई प्रश्न ही नहीं।

४८७ 'समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः।१८

४८८ 'तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केन चित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः।१९

'(मे प्रियः नरः) मेरा प्रिय नर, परमात्मप्रिय जन

१) (समः शत्रौ च मित्रे च तथा मान-अप-मानयोः) सम शत्रु और मित्र में तथा मान-अप-मान में। उसे न मित्र के प्रति आसक्ति होती है न शत्रु के प्रति शत्रुता, न मान का भान होता है न अपमान का ध्यान।

२) [वह] (शीत-उष्ण-सुख-दुःखेषु समः) सर्दी, गर्मी, सुख, दुःख में निर्द्वन्द्व [रहता है]।

३) [वह] (सङ्ग-वि-वर्जितः) संग-वि-वर्जित [होता है]। वह साधनारत रहता है। अतः अधिक मिलना-जुलना उसे रुचिकर नहीं होता।

४) [वह] (तुल्य-निन्दा-स्तुतिः) निन्दा [और] स्तुति को समान [समझता है]। वह न निन्दा से खिन्न होता है न प्रशंसा से प्रसन्न।

५) [वह] (मौनी) मितभाषी [होता है]। वह आवश्यकता पड़ने पर ही बोलता है, अन्यथा सदा खामोश रहता है।

६) [वह] (येन केन चित् सम्-तुष्टः) जिस किसी से भी सन्तुष्ट [रहता है]। उसके प्रति कोई कैसा कुछ करे, उसे कभी वेदना नहीं होती।

७) [वह] (अ-नि-केतः) गृहरहित [होता है]। गृह—गृहस्थ में रहता हुआ वह विरक्त, और देह में रहता हुआ वह विदेह होता है।

८) [वह] (स्थिर-मतिः भक्तिमान्) स्थिर-मति और भक्तिभाव से युक्त [रहता है]।

४८९ 'ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्ते ऽतीव मे प्रियाः।'२०

'(मत्-परमाः ये तु) मेरे परायण जो तो (श्रत्-दधानाः) श्रद्धा धारते हुए (इदम् यथा-उक्तम् धर्म्यं-अ-मृतम्) इस यथावत्-कथित धर्मोपेत अमृत को (परि-उप-आसते) सर्वतः उपासते हैं, पूर्णतया आचरण में लाते हैं (ते भक्ताः मे अति-इव प्रियाः) वे भक्त मेरे, मानो, अत्यन्त प्रिय [हैं], वे मुझे अतिशयता के साथ प्यार करते हैं।'

तेरहवां अध्याय

भक्तियोग के पश्चात् *क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग* की चर्चा गहनता के साथ विचारणीय है। भक्ति के लिए भक्ति का कोई प्रयोजन नहीं है। प्रेम के लिए प्रेम नितान्त निष्प्रयोजन ही नहीं, प्रेम का अपव्यय भी है। शिष्य की अपने गुरु के प्रति भक्ति का क्या लाभ यदि वह अपने गुरु के गुणों से गुणान्वित न हो? कोयला अग्नि की उपासना करके यदि अग्निरूप नहीं होता है तो वह उपासना नहीं, दुरासना है।

भक्तियोग का प्रयोजन भगवद्रूप होना है। प्राकृतिक सृष्टि *क्षेत्र* है। परमात्मा क्षेत्रज्ञ है। प्रकृति और प्राकृतिक जो कुछ है वह सब त्रिगुणात्मक है और, परिणामस्वरूप, बन्धनकारी है। प्रकृति [माया] के तीनों गुणों से रहित होने से ब्रह्म निर्विकार है। अत एव, वह सदा शुद्ध और मुक्त है।

वेद में *माया* शब्द सर्वत्र 'प्रकृति' तथा 'प्राकृतिक' अर्थों में तो प्रयुक्त हुआ ही है, 'प्रज्ञा' और 'महिमा' अर्थों में भी प्रयुक्त हुआ है। मानवजीवन में शरीर 'क्षेत्र' है, आत्मा 'क्षेत्रज्ञ' है। त्रिगुण प्रकृति से निर्मित देह में आत्मा का

निवास है। यदि आत्मा देहसंगत होकर देह में निवास करता है तो वह दैहिक व्यासंगों में ग्रस्त रहता है और त्रिगुणों से जकड़ा हुआ जन्म-मरण के चक्र में क्रमण करता रहता है, साथ ही आत्मविस्मृतिजन्य व्यथाओं से व्यथित भी रहता है। देह में निवास करता हुआ भी जब आत्मा आत्मना ब्रह्मसंगत अथ वा ब्रह्मसमाहित रहकर अपने क्षेत्र [जीवन] में कर्म करता है तो वह यावज्जीवन जीवन्मुक्त रहता है और शरीर त्यागने पर शाश्वत मोक्ष प्राप्त करता है।

अखिल माया [प्रकृति तथा प्राकृतिक जगत्] ब्रह्म का क्षेत्र है और ब्रह्म उसका क्षेत्रज्ञ है। उसी प्रकार शरीर क्षेत्र है और आत्मा क्षेत्रज्ञ है। आत्मा और परमात्मा, दोनों के ही लिए *आत्मा* शब्द का प्रयोग होता है। ब्रह्म सारी सृष्टि का आत्मा है। शरीरस्थ आत्मा देह का आत्मा है। बन्ध और मोक्ष की समस्या ब्रह्म-क्षेत्रज्ञ की नहीं है क्यों कि वह सदा ही निर्विकार और मुक्त है। समस्या आत्म-क्षेत्रज्ञ की है क्यों कि वह मायाबद्ध होने पर त्रिगुणों के प्रभाव से विकारग्रस्त होजाता है। मायामुक्त होकर ब्रह्मबद्ध होने पर ही आत्मा उस निर्विकार स्थिति को प्राप्त करता है जो मोक्षदायिनी है। इसी आशय से वेदमाता ने आत्मा को चेतावनी दी है, *स्वे क्षेत्रे अनमीवा विराज* = अपने क्षेत्र [देह] में निर्विकार होकर विराज।

इस स्पष्टीकरण की छाया में *गीता* के तेरहवें अध्याय का चिन्तन कीजिए।

श्री भगवानुवाच

४६० 'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।१

कृष्ण ने [अर्जुन से] कहा, '(कौन्तेय) कुन्ती-पुत्र [अर्जुन]! (इदम् शरीरम् क्षेत्रम्) यह शरीर क्षेत्र [है], (इति अभि-धीयते) ऐसा कहा जाता है। (यः एतत् वेत्ति) जो यह जानता है (तम्) उसे (तत्-विदः) तत्त्व-वेत्ता (क्षेत्र-ज्ञः) 'क्षेत्र-ज्ञ', (इति प्र-आहुः) ऐसा कहते हैं।

४६१ "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत् तज्ज्ञानं मतं मम।२

'(च भारत) और, भरतवंशी [अर्जुन]! (माम् अपि) मुझे, मुझ आत्मा को भी (सर्व-क्षेत्रेषु क्षेत्र-ज्ञम् विद्धि) सब क्षेत्रों में क्षेत्र-ज्ञ जान। (मम मतम्) मेरा मत [है कि] (क्षेत्र-क्षेत्र-ज्ञयोः यत् ज्ञानम्) क्षेत्र-क्षेत्र-ज्ञ का जो ज्ञान [है] (तत् ज्ञानम्) वही ज्ञान [है]।

ब्रह्म का क्षेत्र तो केवल एक है और वह है इदम् सर्वम्, यह सब, यह अखिल सृष्टि। आत्मदेह में आत्मा के विविध क्षेत्र हैं, यथा, व्यक्तित्व,

परिवार, समाज, राष्ट्र, आदि। इसी दृष्टि से कृष्ण ने अपने को सब क्षेत्रों का क्षेत्रज्ञ कहा है।

सम्पूर्ण ज्ञान क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, इन दो विभागों में विभक्त है। क्षेत्र का सम्पूर्ण ज्ञान पदार्थविज्ञान में निहित है। विज्ञान [साइंस] और ज्ञान [अध्यात्म], इन दो का यथावत् ज्ञान ही ज्ञान है। इन दो के ज्ञान की धाराएं ही असंख्यधार होकर *अस्मिन् अखिले* प्रवाहित होरही हैं।

४९२ **'तत् क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत्।**
स च यो यत्प्रभावश्च तत् समासेन मे शृणु।३

'(तत् क्षेत्रम्) वह क्षेत्र (यत् च यादृक् च यत्-विकारि) जो और जैसा और जिस-जिस विकारवाला [है], (यतः च यत्) जिस कारण से और जो [है] (च सः) और वह [क्षेत्रज्ञ] (यः) जो [है] (च यत्-प्र-भावः) और जिस प्र-भाववाला [है] (तत् सम्-आसेन मे शृणु) वह, संक्षेपतः, मुझसे सुन।

४९३ **'ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।**
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः।४

'(ऋषिभिः) ऋषियों द्वारा, (वि-विधैः छन्दोभिः) वि-विध छन्दों द्वारा (च) और (वि-निः-चितैः हेतु-मद्भिः ब्रह्म-सूत्र-पदैः) वि-निश्चित, युक्ति-युक्त ब्रह्म-सूत्र-पदों द्वारा (बहु-धा एव) बहुत प्रकार से ही (पृथक्) अलग [अलग] (गीतम्) गाया [है]।

४९४ **'महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।**
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः।५

४९५ **'इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।**
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्।६

'(महा-भूतानि) आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी के अव्यक्त सूक्ष्म रूप, (अहम्-कारः) प्रकृति का दृश्य-रूप, (बुद्धिः) बुद्धि, (अ-वि-अक्तम्) प्रकृति, (एव च) अपि च (दश) नेत्र, श्रोत्र, घ्राण, रसना, त्वचा [पांच ज्ञानेन्द्रियां], और वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ अथ वा भग, गुदा [पांच कर्मेन्द्रियां], ये दस (च) और (एकम्) एक [मन] (इन्द्रियाणि) [कुल ग्यारह] इन्द्रियां (च) और (पञ्च इन्द्रिय-गो-चराः) इन्द्रियों के पांच विषय [रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श], (इच्छा, द्वेषः, सुखम्, दुःखम्) इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, (सम्-घातः) देह, (चेतना) चेतना, (धृतिः) धारणा—(सम्-आसेन) संक्षेप से (एतत् स-वि-कारम् क्षेत्रम् उत्-आ-हृतम्) यह स-वि-कार क्षेत्र कहा गया [है]।

भौतिक और भूतजन्य जो कुछ है वह सब क्षेत्र है।

४९६ **'अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।**
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः।७

४९७ 'इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ।८
४९८ 'असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ।९
४९९ 'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ।१०
५०० 'अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतो ऽन्यथा ।११

'(अ-मानित्वम्) निरभिमानिता, (अ-दम्भित्वम्) पाखण्ड-राहित्य, (अ-हिंसा) अ-हिंसा, (क्षान्तिः) क्षमाशीलता, (आर्जवम्) सरलता, (आ-चार्य-उप-आसनम्) गुरु-सेवा, (शौचम्) शुद्धता, (स्थैर्यम्) स्थिरता, (आत्म-वि-नि-ग्रहः) आत्म-सं-यम, (इन्द्रिय-अर्थेषु वैराग्यम्) विषयेन्द्रियों के विषयों में अलगाव, (एव च) अपि च (अन्-अहम्-कारः) अहं-कार-शून्यता, (जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख-दोष-अनु-दर्शनम्) जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, रोग, दुःख, दोष—इनका सतत दर्शन/चिन्तन/विचार, (पुत्र-दार-गृह-आदिषु अ-सक्तिः) पुत्र, पत्नी, गृह, आदि में अनासक्ति, (अन्-अभि-स्वङ्गः) निर्ममता (च इष्ट-अन्-इष्ट-उप-पत्तिषु नित्यम् सम-चित्तत्वम्) और इष्ट-अनिष्ट की प्राप्तियों में सदा सम-चित्त रहना, (मयि अन्-अन्य-योगेन अ-वि-अभि-चारिणी भक्तिः) मुझ [परमात्मा] में अनन्य भाव से भक्ति, (वि-विक्त-देश-सेवित्वम्) शुद्ध-एकान्त स्थान में निवास (च) और (जन-सम्-सदि अ-रतिः) जन-समूह [भीड़-भड़क्का] में अ-रुचि, (अधि-आत्म-ज्ञान-नित्यत्वम्) अध्यात्म-ज्ञान में नित्यता [नित्य रति], (तत्त्व-ज्ञान-अर्थ-दर्शनम्) तत्त्व-ज्ञान के अर्थ [परमात्मा] का [सबमें, सर्वत्र] दर्शन करना—(एतत् ज्ञानम्) यह ज्ञान [है], (इति प्र-उक्तम्) यह कहा गया [है]। (यत् अतः अन्य-था) जो इससे विपरीत [है वह] (अ-ज्ञानम्) अ-ज्ञान [है]।

५०१ 'ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत् परं ब्रह्म न सत् तन्नासदुच्यते ।१२

'(ज्ञेयम् यत्) जाननेयोग्य [है] जो (तत्) वह (प्र-वक्ष्यामि) कहूंगा, (यत् ज्ञात्वा) जिसे जानकर [मानव] (अ-मृतम् अश्नुते) आनन्दामृत सेवन करता है। (तत् अन्-आदिमत् परम् ब्रह्म) वह आदि-रहित पर ब्रह्म (न सत् उच्यते न अ-सत्) न सत् कहाता है, न अ-सत्।

प्रकृति अथवा माया को तो हर कोई प्रत्यक्ष देखता, जानता और सेवन करता है। अतः माया ज्ञेय नहीं है, ज्ञात है ... ज्ञेय ब्रह्म ही है क्योंकि वह

प्रत्यक्ष नहीं है। प्रकृति सत् है, उसकी सत्ता प्रकट है। अतः उसे जानने की जिज्ञासा का प्रश्न ही नहीं उठता है। वह तो ब्रह्म ही है जिसे जानने की जिज्ञासा होती है।

ब्रह्म न सत् है, न असत्। सत् से तात्पर्य यहां सत्ता में आने से है, और असत् से तात्पर्य है सत्तारहित होने से। अनादि होने से वह सत्ता में आने की स्थिति से मुक्त है और अनन्त होने से वह सत्तारहित स्थिति में नहीं आता है। इस दृष्टि से वह न सत् है, न असत्।

५०२ 'सर्वतःपाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।१३

'(तत्) वह [है] (सर्वतः पाणि-पादम्) सर्वतः-हाथ-पैर, (सर्वतः-अक्षि-शिरः-मुखम्) सर्वतः-नेत्र-शिर-मुख, (सर्वतः-श्रुतिमत्) सर्वतः-कर्णवाला। वह (लोके) लोक में (सर्वम् आ-वृत्य) सबको ढांप—व्यापकर (तिष्ठति) स्थित है।

ब्रह्म सर्वव्यापक है। अपनी आकर्षणशक्ति से वह सर्वत्र सबको हस्तवत् थामे हुए है। अतः वह सर्वतः-हस्त है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचने के लिए पैरों की आवश्यकता होती है। सर्वव्यापक होने से वह सर्वत्र, सदा पहुंचा हुआ है। अतः वह सर्वतः-पाद है। सर्वद्रष्टा होने से वह सर्वतः-नेत्र है। सर्वोपरि होने से वह सर्वतः-शिर है। सर्वाभिमुख होने से वह सर्वतः-मुख है। सर्वज्ञ होने से वह सर्वतः-श्रुतिमत् है। अखिल सृष्टि को उसने अपनी व्याप्ति से आच्छादित किया हुआ है।

५०३ सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च।१४

'वह (सर्व-इन्द्रिय-वि-वर्जितम्) सब इन्द्रियों से रहित [है और] (सर्व-इन्द्रिय-गुण-आ-भासम्) सब इन्द्रियों के गुणों का आ-भास [है]। (च अ-सक्तम् एव सर्व-भृत्) और अनासक्त ही वह सबका पोषक [है]। वह (निःगुणम् च गुण-भोक्तृ) निर्गुण [है] और गुण-सेवी [है]।

बिना इन्द्रियों के वह इन्द्रियों के कार्य करता है। वह बिना नेत्रेन्द्रिय के देखता है, बिना श्रोत्र के सुनता है, बिना पग चलता है, बिना कर करता है। वह इन्द्रियरहित है और सर्वकर्तृत्व से युक्त है। आसक्तिरहित होते हुए ही वह अखिल सृष्टि का धारण-पोषण करता है। वह स्वयं त्रिगुणों से मुक्त है पर त्रिगुणात्मक प्रकृति में समाया हुआ त्रिगुण संसार का संचालन कर रहा है।

५०४ 'बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात् तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्।१५

'(अ-चरम् च चरम्) अ-चर और चर, जड़ और चेतन, [सब] (एव) ही (भूतानाम् बहिः च अन्तः) भूतों के बाहर और भीतर [व्यापा हुआ है]। (तत्) वह (सूक्ष्मत्वात् अ-वि-ज्ञेयम्) सूक्ष्म होने से अ-वि-ज्ञेय [अज्ञात है]। (तत्) वह (अन्तिके च दूर-स्थम् च) समीपतम [है] और दूरस्थ [है]।

यद्यपि वह सर्वव्यापक और सर्वान्तर्यामी है पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने से इन्द्रियों द्वारा जाना नहीं जाता है। समीपतम होते हुए भी, प्रत्यक्ष न होने से, वह दूरस्थ है।

५०५ 'अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च।१६

'(च) और [वह] (अ-वि-भक्तम्) अ-वि-भक्त [है] (च) और (भूतेषु वि-भक्तम्-इव स्थितम्) भूतों में वि-भक्त-सा स्थित [है]। (च) और वह (भूत-भर्तृ) भूतों का धारण-पोषण करनेवाला [है], (ग्रसिष्णु) ग्रसनेवाला—प्रलय-कर्ता [है] (च) और (प्रभविष्णु) उत्पन्न करनेवाला [है]। (तत् ज्ञेयम्) वह जाननेयोग्य [है]।

ब्रह्म अपनी सत्ता से अविभक्त है। वह अंश अंश वा खण्ड खण्ड में विभक्त नहीं होता है। किन्तु भूतांशों में व्यापने से वह विभक्त-सा स्थित है। जिस प्रकार आकाश की निज सत्ता का कभी विभाग नहीं होता है, फिर भी वह भूतांशों में समाया हुआ है वैसे ही ब्रह्म सर्वथा विभागरहित है और विभक्त भूतों में व्यापक है। वह सर्व भूतों का धारक-पोषक है। वही सृष्टिकर्ता और प्रलयकर्ता है। योगसाधन के द्वारा वह जाना जाता है। उसे अज्ञेय कहकर हमें निवृत वा उपराम नहीं होजाना चाहिए। उसके साक्षात्कार का साधनोपाय करना चाहिए।

५०६ 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
506 **ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।१७**

'(तत्) वह (ज्योतिषाम् अपि ज्योतिः) ज्योतियों की भी ज्योति, (तमसः परम्) प्रकृति—माया से परे (उच्यते) कहा जाता है। वह (ज्ञानम्) ज्ञानस्वरूप [है], (ज्ञेयम्) जानने योग्य [है]। वह (ज्ञान-गम्यम्) ज्ञान-गम्य [है]। वह (सर्वस्य हृदि वि-स्थितम्) सबके हृदयाकाश में वि-स्थित [है]।

प्रकृति की सत्ता से उसकी सत्ता सर्वथा पृथक् और भिन्न है। प्राकृत लोकों में जो ज्योतियां जगमगा रही हैं वे सब ब्रह्म की ज्योति से द्योतित हैं। जिस प्रकार चन्द्रमा की चन्द्रिका सूर्य के प्रकाश की छटामात्र है उसी प्रकार सृष्टि के समस्त प्रकाशलोक उसकी आभा से भासमान हैं। *तस्य भासा सर्वमिदं विभाति*। (कठोपनिषद् ५.१५)

उसे जाना जा सकता है। यद्यपि वह सर्वव्यापक है, सर्वत्र है, फिर भी

उसका दर्शन हृदयाकाश में ही होता है क्यों कि द्रष्टा [आत्मा] वहीं निवास करता है। दर्शन वहीं होता है जहां द्रष्टा स्थित होता है।

५०७ 'इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ।१८

'(इति) इस प्रकार (क्षेत्रम् तथा ज्ञानम् च ज्ञेयम् सम्-आसतः उक्तम्) क्षेत्र तथा ज्ञान और ज्ञेय संक्षेप से कहा गया। (मत्-भक्तः) मेरा भक्त (एतत् वि-ज्ञाय) यह जानकर (मत्-भावाय) मेरे भाव के लिए (उप-पद्यते) भावित होता है। इसे जानकर ब्रह्मपरायण व्यक्ति ब्रह्म की प्राप्ति का साधनोपाय करता है।

५०८ 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणान्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ।१९

'(प्र-कृतिम् च पुरुषम्) प्रकृति और पुरुष, (उभौ एव) दोनों को ही (अन्-आदी विद्धि) अनादि जान। (च) और (वि-करान् च गुणान् अपि) वि-कारों तथा गुणों को भी (प्र-कृति-सम्-भवान् एव विद्धि) प्र-कृति से ही उत्पन्न हुए जान।

पुरुष शब्द का प्रयोग आत्मा तथा परमात्मा, दोनों के लिए होता है। यहां इसका प्रयोग आत्मा अर्थ में हुआ है। प्रकृतिजन्य जो कुछ है वह सब त्रिगुणात्मक है। प्रकृति और आत्मा, दोनों अनादि हैं, सदा से हैं और सदा रहेंगे।

५०९ 'कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ।२०

'(प्र-कृतिः) प्र-कृति (कार्य-करण-कर्तृत्वे हेतुः) कार्य और करण के कर्तृत्व में हेतु (उच्यते) कही जाती है। (पुरुषः) आत्मा (सुख-दुःखानाम् भोक्तृत्वे हेतुः) सुख दुःखों के भोक्तृत्व में हेतु (उच्यते) कहा जाता है।

भौतिक जगत् प्रकृति का कार्य है। करण नाम कर्मसाधन का है। देहेन्द्रियां कर्तृत्व [कर्मसाधना] का करण हैं। आत्मा इनके आश्रय से जगत् में जैसे कर्म करता है, दुःख-सुख के रूप में तदनुसार फल भोगता है।

५१० 'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गो ऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ।२१

'(पुरुषः) आत्मा (प्र-कृति-स्थः हि) प्र-कृति में स्थित [होकर] ही (प्र-कृति-जान् गुणान् भुङ्क्ते) प्र-कृति-जन्य गुणों को भोगता है। (गुण-सङ्गः) गुणों का संग (अस्य) इस [आत्मा] के (सत्-अ-सत्-योनि-जन्मसु) सात्त्विक-अ-सात्त्विक योनियों में जन्मों का (कारणम्) कारण [है]।

आत्मस्वरूप को भुलाकर प्रकृति के भौतिक व्यासंगों में फंसने पर

आत्मा तम, रज, सत् गुणों से प्रभावित और प्रेरित रहता है और दुःख-सुख भोगता है। गुणों का संग—संस्कार आत्मा को सत्-असत्, सात्त्विक-असात्त्विक योनियों में जन्माता—घुमाता है। तीनों ही गुण बन्धनकारी हैं। योगसाधना द्वारा तीनों गुणों से मुक्त होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

५११ 'उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहे ऽस्मिन् पुरुषः परः ।२२

'(पुरुषः) [परम] पुरुष (अस्मिन् देहे) इस [सृष्टिरूप] देह में [व्यापा हुआ] (अपि) भी (परः) [प्रकृति और उसके तीनों गुणों से] परे, सर्वथा मुक्त [है]। [वह] (उप-द्रष्टा) साक्षी (च) और (अनु-मन्ता) अनु-मनन—अनु-शासनकर्ता, (भर्ता) धारणकर्ता, (भोक्ता) वशयिता, अधिपति, शासनकर्ता, (महेश्वरः) महान् ईश्वर (च) तथा (परम-आत्मा) परम आत्मा—(इति उक्तः) ऐसा कहा गया है।

५१२ 'य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानो ऽपि न स भूयो ऽभिजायते ।२३

'(यः) जो (पुरुषम्) पुरुष को (च) और (गुणैः सह प्र-कृतिम्) गुणों से सहित प्र-कृति को (एवम् वेत्ति) इस प्रकार जानता है (सः सर्व-था वर्तमानः अपि) वह सब प्रकार वर्तता हुआ भी (भूयः न अभि-जायते) पुनः जन्म नहीं लेता है।

जो योगसाधना द्वारा आत्मपुरुष, परमात्मपुरुष और प्रकृति को प्रत्यक्ष जान लेता है वह त्रिगुणातीतावस्था में रहता हुआ सब कर्तव्य कर्म करता है और देह त्यागने पर जन्म-मरण से छूट जाता है। वह पुनः जन्म नहीं लेता है।

५१३ 'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति के चिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ।२४

'(के चित्) कितने ही (आत्मानम्) विश्वात्मा, परमात्मा को (आत्मना) आत्मा के द्वारा [ध्यान से] (आत्मनि ध्यानेन पश्यन्ति) आत्मा में ध्यान द्वारा देखते हैं। (अन्ये) दूसरे (सांख्येन योगेन) सांख्य-योग से, (च अ-परे) और कितने ही (कर्म-योगेन) कर्म-योग से।

विश्वात्मा के निज रूप का दर्शन तो ध्यानयोग से ही होता है। ध्यानयोगी चित्त की वृत्तियों का निरोध करके अपने आत्मा को स्वरूप में अवस्थित करता है। तत्पश्चात्, आत्मसमाहित होकर वह अपने आत्मा में आत्मना ब्रह्म का साक्षात् दर्शन करता है।

पदार्थविद्या अथ वा भौतिक विज्ञान के वेत्ता सांख्ययोगी हैं। वे प्राकृत

विज्ञानों के संख्यान, प्रसंख्यान, परिसंख्यान द्वारा विज्ञान के सुनिश्चित नियमों का पता लगाकर नियन्ता की सत्ता की अनुभूति प्राप्त करते हैं।

परमात्मा की सृष्टि में परमात्मपरायण होकर कर्म करने से भी आत्मा को परमात्मा की अनुभूति होती है, परमात्मा से अनन्य प्रेम स्थापित होता है।

सांख्ययोगी तथा कर्मयोगी जब अनुभूतिपूर्वक ध्यानयोग का आश्रय लेते हैं तब उन्हें सहज ही परमात्मा का साक्षात् दर्शन होता है।

५१४ 'अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
ते ऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः।२५

'(अन्ये तु) दूसरे तो (एवम् अ-जानन्तः) इस प्रकार न जानते हुए (अन्येभ्यः श्रुत्वा) दूसरों से सुनकर (उप-आसते) उपासना करते हैं (च ते श्रुति-पर-अयनाः अपि) और वे श्रवणशील भी (एव) निश्चय ही (मृत्युम् अति-तरन्ति) मृत्यु को पार करते हैं।

जो न ध्यानयोगी हैं, न सांख्ययोगी, न कर्मयोगी, वे इस प्रकार के योगों को न जानते हुए भी योगियों के श्रीमुख से श्रवण करके योगविधि से परमात्मा की उपासना करते हैं और मोक्ष प्राप्त करते हैं।

५१५ 'यावत् सञ्जायते किञ्चित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् तद् विद्धि भरतर्षभ।२६

'(भरत-ऋषभ) भरत-श्रेष्ठ [अर्जुन] ! (यावत् किम् चित् स्थावर-जङ्गमम् सत्त्वम् सम्-जायते) जितना जो कुछ जड़-चेतन सत्त्व उत्पन्न होता है (तत्) उसे (क्षेत्र-क्षेत्र-ज्ञ-सम्-योगात् विद्धि) क्षेत्र और क्षेत्र-ज्ञ के संयोग से जान।

सत्त्व से तात्पर्य सत्तामात्र से है। सत्ता दो प्रकार की है—जड़ और चेतन, भौतिक और आत्म। जहां जो भौतिक है वह क्षेत्र है। जहां जो चेतन है वह क्षेत्रज्ञ है। सृष्टि क्षेत्र है, ब्रह्म क्षेत्रज्ञ है। देह क्षेत्र है, आत्मा क्षेत्रज्ञ है।

५१६ 'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।२७

'(यः) जो (सर्वेषु वि-नश्यत्सु भूतेषु) सब नश्वर भूतों में (अ-वि-नश्यन्तम् परम-ईश्वरम्) अ-वि-नाशी परमेश्वर को (समम् तिष्ठन्तम् पश्यति) समानरूपेण स्थित देखता है (सः पश्यति) वह देखता है।

सचमुच, वह अन्धा है जो नश्वर में व्यापक अविनश्वर को नहीं देखता है। देखना उसी का है जो जड़ में चेतन को और नश्वर में अविनश्वर को देखता है।

५१७ 'समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ।२८

'(सर्वत्र सम्-अव-स्थितम् ईश्वरम्) सर्वत्र सम्यक् स्थित ईश्वर को (समम् पश्यन् हि) समानरूपेण देखता हुआ ही [मानव] (आत्मना आत्मानम् न हिनस्ति) आत्मना आत्मा को नष्ट नहीं करता है, (ततः पराम् गतिम् याति) उससे परा गति को प्राप्त होता है ।

पापप्रवृत्त होना ही आत्मना आत्महनन है । जो परमात्मा को सर्वव्यापक और सर्वज्ञ जानता है वही पापमुक्त रहकर आत्मना आत्मसाधना करता है और परम गति को प्राप्त होता है । परमात्मा को सर्वव्यापक और सर्वज्ञ जानकर पाप से बचना, यही आत्मकल्याण की परम साधना है, इससे बढ़कर अन्य कोई भक्ति अथ वा योगसाधना नहीं है । जो ऐसा नहीं करता है उसकी विद्या, भक्ति, उपासना निरर्थक है ।

५१८ 'प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ।२६

'(च यः) और जो (कर्माणि सर्वशः प्र-कृत्या एव क्रियमाणानि) कर्मों को सब प्रकार प्र-कृति द्वारा ही किए जाते (तथा आत्मानम् अ-कर्तारम् पश्यति) तथा परमात्मा को अ-कर्ता देखता है (सः पश्यति) वह देखता है, वह ज्ञानी है ।

परमात्मा की सर्वज्ञतामय व्याप्तिमात्र से प्रकृति की समस्त क्रियाएं मिषतः होरही हैं । इसी भाव से यहां धाता, विधाता, कर्ता, धर्ता परमात्मा को अकर्ता कहा गया है । इस तथ्य को जो इस प्रकार समझता है वही देखता है, वही तत्त्वदर्शी है ।

५१६ 'यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ।३०

'[मानव] (यदा) जब (भूत-पृथक्-भावम्) भूतों के पृथक् भाव को (एक-स्थम्) एक में स्थित (च) और (ततः एव वि-स्तारम्) उससे ही विस्तार को (अनु-पश्यति) अनुभव के साथ देखता है (तदा ब्रह्म सम्-पद्यते) तब ब्रह्म को सम्यक् प्राप्त करता है ।

प्राकृतिक सृष्टि में जो जितने लोक-लोकान्तर हैं, लोक-लोकान्तर में जो जड़-चेतन पदार्थ और प्राणी हैं वे सब एक ब्रह्म में स्थित हैं और एक ब्रह्म की सत्ता के मिष से ही सृष्टि विस्तार को प्राप्त होती है । इस तत्त्व का जो साक्षात् सन्दर्शन करता है वही ब्रह्म की प्राप्ति की सफल साधना करता है और वही ब्रह्म का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करता है ।

५२० 'अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थो ऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ।३१

'(कौन्तेय) कुन्ती-पुत्र [अर्जुन] ! (अयम् अ-वि-अयः परम-आत्मा) यह अ-वि-नाशी परमात्मा (अन्-आदित्वात् निः-गुणत्वात्) अनादि और निर्गुण होने से (शरीर-स्थः अपि) [सृष्टिरूप] शरीर में स्थित हुआ भी (न करोति, न लिप्यते) न करता, न लिप्त होता है ।

परमात्मा अनादि और अनन्त है और है साथ ही त्रिगुणातीत । अतः वह त्रिगुणप्रेरित कर्म नहीं करता है अपि तु उसकी व्याप्तिमात्र से सृष्टिरूप शरीर की रचना तथा संचालन होता रहता है । परिणामस्वरूप, वह कर्म के लेप से सर्वथा मुक्त रहता है ।

५२१ 'यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते । ३२

'(यथा) जैसे (सर्व-गतम् आ-काशम्) सर्व-व्यापक आ-काश (सौक्ष्म्यात्) सूक्ष्म होने से (न उप-लिप्यते) उप-लिप्त नहीं होता है (तथा देहे सर्वत्र अव-स्थितः आत्मा) वैसे ही [सृष्टि-]देह में सर्वत्र समाया हुआ परमात्मा (न उप-लिप्यते) उप-लिप्त नहीं होता है ।

फलासक्ति से जो कर्मलेप होता है उसी का नाम उपलेप है । आकाश में जो कर्म अथ वा क्रियाएं होती हैं, आकाश की उनमें आसक्ति नहीं होती है । उसी प्रकार ब्रह्म की व्याप्ति में जो कुछ हो रहा है उसमें ब्रह्म को लेप नहीं होता है ।

५२२ 'यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ।३३

'(भारत) भरतवंशी [अर्जुन] ! (यथा एकः रविः) जैसे एक सूर्य (इमम् कृत्स्नम् लोकम्) इस सम्पूर्ण सौर मण्डल को (प्र-काशयति) प्र-काशता है (तथा) वैसे ही (क्षेत्री) [परमात्म] क्षेत्री (कृत्स्नम् क्षेत्रम्) सम्पूर्ण [सृष्टि] क्षेत्र को (प्र-काशयति) प्र-काश रहा है ।

५२३ 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ।३४

'(क्षेत्र-क्षेत्र-ज्ञयोः अन्तरम्) क्षेत्र और क्षेत्र-ज्ञ के अन्तर को (च) और (भूत-प्र-कृति-मोक्षम्) भौतिक प्र-कृति [आवागमन] से मुक्त होने को (ज्ञान-चक्षुषा) ज्ञान-दृष्टि से (ये) जो (एवम् विदुः) इस प्रकार जानते हैं (ते परम् यान्ति) वे पर [ब्रह्म] को प्राप्त होते हैं ।

चौदहवां अध्याय

श्रीभगवानुवाच

५२४ 'परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ।१

कृष्ण बोले, 'मैं (भूयः) पुनः [उस] (ज्ञानानाम् परम्, उत्-तमम् ज्ञानम्) ज्ञानों के पर, उत्तम ज्ञान को (प्र-वक्ष्यामि) कहूंगा (यत् ज्ञात्वा) जिसे जानकर (सर्वे मुनयः) सब मुनि (इतः) इधर, यहां, इस संसार से (पराम् सिद्धिम् गताः) पर सिद्धि [मोक्ष] को प्राप्त हुए हैं ।

मोक्ष ही परम सिद्धि है । इसी सिद्धि की प्राप्ति के लिए सर्व ज्ञान तथा सर्व साधनाएं हैं ।

५२५ 'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ।२

'(इदम् ज्ञानम् उप-आ-श्रित्य) इस ज्ञान को आ-श्रय करके (मम साधर्म्यम् आ-गताः) मेरे साधर्म्य को प्राप्त [जन] (सर्गे न उप-जायन्ते) सर्ग [सृष्टि के आदि] में नहीं जन्मते हैं (च) और (प्र-लये अपि न व्यथन्ति) प्र-लय में भी नहीं व्यथित होते हैं ।

सृष्टि प्रवाह से अनादि है । रचना और प्रलय का चक्र अनवरत घूमता रहता है । सर्ग [सृष्टि के आदि] में अमुक्त आत्मा ही पुनः शरीर धारण करते हैं, मुक्त आत्मा नहीं, क्यों कि वे ब्रह्म के साधर्म्य से युक्त होते हैं । ब्रह्म सदा मुक्त है । मुक्त आत्मा भी मुक्त हैं । मोक्षसाधर्म्य से युक्त होने के कारण मुक्त आत्मा जन्म नहीं लेते हैं । मुक्तावस्था में वे ब्रह्म में विहार तथा विचरण करते हैं । अतः प्रलयावस्था में उन्हें कोई व्यथा नहीं होती है ।

५२६ 'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ।३

'(भारत) भरतवंशी [अर्जुन] ! (महत् ब्रह्म मम योनिः) महत् ब्रह्म मेरी योनि [है] । (तस्मिन् अहम् गर्भम् दधामि) उसमें मैं गर्भ धारण करता हूं । (ततः सर्व-भूतानाम् सम्-भवः भवति) उससे सर्व भूतों का सम्भवन होता है ।

महत् ब्रह्म का प्रयोग यहां प्राकृतिक परमाणुओं के विशाल पिण्ड के लिए हुआ है । प्रकृति में ब्रह्म की प्रचेतना की व्याप्ति ही प्रकृति में गर्भ की स्थापना है । ब्रह्मनुत्त [प्रभुप्रेरित] प्रकृति से पंच भूतों का सम्भवन [प्रादुर्भवन] होता है । पंच भूतों से सकल भौतिक पदार्थ तथा सकल प्राणियों के भौतिक शरीर उत्पन्न होते हैं ।

५,२७ 'सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद् योनिरहं बीजप्रदः पिता ।४

'(कौन्तेय) कुन्ती-पुत्र [अर्जुन] ! (सर्व-योनिषु) सर्व योनियों में, सर्व योनियों के रूप में (याः मूर्तयः) जो मूर्तियां (सम्-भवन्ति) उत्पन्न होती हैं, (महत् ब्रह्म) महत् ब्रह्म (तासाम् योनिः) उनकी योनि [है और] (अहम् बीज-प्र-दः पिता) मैं बीज-प्र-द पिता [हूं] ।

यहां मूर्ति की यथार्थ परिभाषा है । जैन शास्त्रों के अनुसार मानवयोनि-सहित योनियों की कुल संख्या चौरासी लाख है । योनियों की यह गणना अब तीन करोड़ तक पहुंच चुकी है । ये सब योनियां मूर्तियां हैं । सब योनियों की माता यह प्रकृति है और पिता है ब्रह्म ।

५,२८ 'सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ।५

'(महा-बाहो) वीर [अर्जुन] ! (प्र-कृति-सम्-भवाः सत्त्वम्, रजः, तमः गुणाः) प्र-कृति से उत्पन्न सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण (अ-वि-अयम् देहिनम्) अ-वि-नाशी देही [आत्मा] को (देहे) देह में (इति नि-बध्नन्ति) ऐसे बांधते हैं [जैसा आगामी श्लोक में बताया गया है] ।

तीनों ही गुण समान रूप से आत्मा को बांधनेवाले हैं । सत्त्व गुण रेशम अथ वा सूत का रस्सा है । रजोगुण मुञ्ज वा सन का रस्सा है । तमोगुण लोहे की ज़ंजीर है ।

५,२९ 'तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ।६

'(अन्-अघ) निष्पाप [अर्जुन] ! (तत्र) वहां, उन गुणों में (प्र-काशकम् अन्-आ-मयम् सत्त्वम्) प्र-काशक रोग-रहित सत्त्व [गुण] (निः-मलत्वात्) निर्मल होने से (सुख-सङ्गेन च ज्ञान-सङ्गेन) सुखासक्ति और ज्ञानासक्ति द्वारा (बध्नाति) बांधता है ।

सत्त्वगुण सुख-ज्ञानप्रधान है । सात्त्विक जन प्रायः सुख-शान्ति के सम्पादन तथा ज्ञान के अर्जन में आसक्त रहते हैं । दोनों ही सम्पदाएं निर्मलता की देनें हैं ।

५,३० 'रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ।७

'(कौन्तेय) कुन्ती-पुत्र [अर्जुन] ! (रजः राग-आत्मकम् तृष्णा-सङ्ग-सम्-उत्-भवम्) रजो[गुण] को रागात्मक [तथा] तृष्णा और आसक्ति से उत्पन्न (विद्धि) जान । (तत् देहिनम् कर्म-सङ्गेन नि-बध्नाति) वह आत्मा को कर्मों की

आसक्ति से बांधता है।

रजोगुण तृष्णासक्तिप्रधान है।

५३१ 'तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत।८

'(भारत) भरतकुलोत्पन्न [अर्जुन]! (सर्व-देहिनाम् मोहनम् तमः तु) सब आत्माओं के मोहनेवाले तम को तो (अ-ज्ञान-जम् विद्धि) अज्ञान से उत्पन्न हुआ जान। (तत् प्र-माद-आलस्य-निद्राभिः नि-बध्नाति) वह प्रमाद, आलस्य और निद्रा द्वारा बांधता है।

तमोगुण अज्ञान-प्रमादप्रधान है।

५३२ 'सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत।९

'(भारत) भरतवंशी [अर्जुन]! (सत्त्वम् सुखे सञ्जयति, रजः कर्मणि) सत्त्व [गुण] सुख में संयुक्त करता है, रजो [गुण] कर्म में। (उत) और (तमः तु ज्ञानम् आ-वृत्य) तमो [गुण] तो ज्ञान को ढांपकर (प्र-मादे सञ्जयति) प्र-माद में संयुक्त करता है।

५३३ 'रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा।१०

'(भारत) भरतवंशी [अर्जुन]! (रजः च तमः अभि-भूय) रजो [गुण] और तमो [गुण] को दबाकर (सत्त्वम् भवति) सत्त्व [गुण] [प्रभावी] होता है। (रजः च सत्त्वम् तमः) रजो [गुण] और सत्त्व [गुण] को [दबाकर] तमो [गुण] [प्रभावी होता है], (तथा एव तमः सत्त्वम् रजः) वैसे ही तमो [गुण] और सत्त्व [गुण] को [दबाकर] रजो [गुण] [प्रभावी होता है]।

गृहस्थ हो वा विरक्त, भोगी हो अथ वा योगी, सभी में तीनों गुण सदैव समान मात्रा में वर्तमान रहते हैं। साधक जब सर्वांगीण साधना द्वारा अपनी प्रकृति में रजोगुण और तमोगुण को दबाए रखता है तो उसकी प्रकृति सत्त्वगुणप्रधान रहती है। साधना के शिथिल होने पर तमोगुण उभर आता है तो रजोगुण और सत्त्व गुण दब जाते हैं; रजोगुण उभर आता है तो तमोगुण और सत्त्व गुण दब जाते हैं।

५३४ 'सर्वद्वारेषु देहे ऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद् विवृद्धं सत्त्वमित्युत।११

'(यदा) जब (अस्मिन् देहे) इस देह में (सर्व-द्वारेषु) सब द्वारों में (प्र-काशः) प्र-काश (उत) अथ वा (ज्ञानम्) ज्ञान (उप-जायते) उत्पन्न होता है (तदा इति विद्यात्) तब ऐसा जाने कि (सत्त्वम् वि-वृद्धम्) सत्त्व गुण बढ़ा हुआ [है]।

५३५ 'लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ।१२

'(भरत-ऋषभ) भरत-श्रेष्ठ [अर्जुन] ! (रजसि वि-वृद्धे) रजो [गुण] में वृद्धि होने पर (लोभः) लोभ, (प्र-वृत्तिः) कर्तव्यपरायणता, (कर्मणाम् आ-रम्भः) कर्मों का आ-रम्भ, (अ-शमः) अ-शान्ति, (स्पृहा) लगाव—(एतानि जायन्ते) ये उत्पन्न होते हैं।

अनायास प्राप्त अथ वा प्रभुप्रेरित कर्मों की संज्ञा 'अनारम्भ' कर्म है क्यों कि वे कर्ता के स्वार्थ अथ वा अहंकार से नहीं किए जाते हैं। स्वार्थ अथ वा एषणा के वशीभूत होकर जो कर्म किए जाते हैं वे *आरम्भ* कर्म कहलाते हैं।

५३६ 'अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनंन्दन।१३

'(कुरु-नन्दन) कुरु-वंशी [अर्जुन] ! (तमसि वि-वृद्धे) तमो [गुण] में वृद्धि होने पर (अ-प्र-काशः) अ-ज्ञान, (अ-प्र-वृत्तिः) कर्तव्य-हीनता, (च) और (प्र-मादः) असावधानी, (च मोहः) और मोह—(एतानि एव जायन्ते) ये ही उत्पन्न होते हैं।

५३७ 'यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते।१४

'(देह-भृत्) देह-धारी [आत्मा] (यदा तु सत्त्वे प्र-वृद्धे) जब तो सत्त्व [गुण] में प्र-वृद्धि पर (प्र-लयम् याति) मृत्यु को प्राप्त होता है (तदा) तब (उत्-तम-विदाम् अ-मलान् लोकान्) उत्तम-विदों के निर्मल लोकों को (प्रति-पद्यते) प्राप्त होता है।

सात्त्विकताप्रधान व्यक्ति देह त्यागने पर ऐसे लोकों—स्थानों—कुलों में जन्म लेता है जहां निर्मल उत्तमविदों—ब्रह्मज्ञानियों का संग प्राप्त होता है, जहां माता, पिता, गुरु, आदि पवित्रजीवी तथा ब्रह्मज्ञानी होते हैं।

५३८ 'रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते।१५

'(रजसि प्र-लयम् गत्वा) रजो [गुणप्रधान अवस्था] में मृत्यु को प्राप्त होकर [आत्मा] (कर्म-सङ्गिषु जायते) कर्मासक्तिवालों में जन्म लेता है (तथा) और (तमसि प्र-लीनः) तमो [गुणप्रधान अवस्था] में देह त्यागनेवाला (मूढ-योनिषु) मूढ़ योनियों में (जायते) जन्म लेता है।

५३९ 'कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्।१६

'(सु-कृतस्य कर्मणः) शुभ कर्म का (फलम्) फल (सात्त्विकम्, निः-मलम्) सात्त्विक [और] निर्मल (आहुः) कहा गया है, (रजसः तु फलम् दुःखम्) राजस [कर्म] का तो फल दुःख [है,] (तमसः फलम् अ-ज्ञानम्) तामस [कर्म] का फल अ-ज्ञान [है]।

५४० 'सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च।१७

'(सत्त्वात् सम्-जायते ज्ञानम्) सत्त्व [गुण] से उत्पन्न होता है ज्ञान, (च रजसः) लोभः एव) और रजो [गुण] से लोभ ही [पैदा होता है], (तमसः प्र-माद-मोहौ भवतः) तमो [गुण] से प्र-माद और मोह [उत्पन्न] होते हैं (च अ-ज्ञानम् एव) और अ-ज्ञान भी।

५४१ 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः।१८

'(ऊर्ध्वम् गच्छन्ति सत्त्व-स्थाः) उच्च [स्थिति] को प्राप्त होते हैं सत्त्व [गुण] में स्थित, (राजसाः मध्ये तिष्ठन्ति) रजोगुणी मध्य [स्थिति] में स्थित होते हैं, (जघन्य-गुण-वृत्ति-स्थाः) नीच गुण [तमोगुण] में स्थित (तामसाः) तामसी (अधः गच्छन्ति) अधम स्थिति को प्राप्त होते हैं।

५४२ नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति।१९

'(द्रष्टा यदा) आत्मा जब (गुणेभ्यः अन्यम् कर्तारम्) गुणों से भिन्न को कर्ता (न अनु-पश्यति) नहीं देखता है (च) और (गुणेभ्यः परम् वेत्ति) गुणों से [परे, मुक्त] पर [ब्रह्म] को जानता है, (सः मत्-भावम्) वह मेरे भाव को (अधि-गच्छति) प्राप्त करता है।

प्रकृति के तीनों गुण कर्म के प्रेरक हैं। इसी भाव से मानवजीवन में गुणों को *कर्ता* कहा गया है। यथा गुण तथा कर्म। अन्यथा तो कर्मों का कर्ता प्रत्यक्षतः आत्मा ही है। प्रकृति से परे और तीनों गुणों से मुक्त जो पर ब्रह्म है उससे युक्त और उसमें समाहित होकर ही आत्मा ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त होता है।

५४३ गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते।'२०

'(देही) आत्मा (देह-सम्-उत्-भवान् एतान् त्रीन् गुणान् अति-इत्य) देह से उत्पन्न होनेवाले इन तीन गुणों को लांघकर (जन्म-मृत्यु-जरा-दुःखैः) जन्म, मरण और जरा, आदि दुःखों से (वि-मुक्तः) सर्वथा मुक्त हुआ (अ-मृतम् अश्नुते) अ-मृत सेवन, निरामय मोक्षपद प्राप्त करता है।'

प्रकृति के तत्त्वों से बना होने के कारण देह त्रैगुण्य है। ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होने पर आत्मा शरीर में रहता हुआ भी तीनों गुणों के प्रभाव से सर्वथा मुक्त रहता है। इसी का नाम जीवन्मुक्तावस्था है। जिस प्रकार त्रिगुणात्मक प्रकृति में रमा हुआ भी ब्रह्म नितान्त त्रिगुणातीत है उसी प्रकार ब्रह्मसमाहित आत्मा प्रकृतिजन्य शरीर में रहता हुआ भी तीनों गुणों से सर्वथा निर्लेप रहता है। ऐसा योगी देह त्यागने पर मोक्ष प्राप्त करता है।

अर्जुन उवाच

५४४ **'कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।**
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तते।'२१

अर्जुन ने प्रश्न किया, '(प्र-भो) भगवन्! (एतान् त्रीन् गुणान् अति-इतः) इन तीन गुणों को लांघनेवाला (कैः लिङ्गैः भवति) किन लक्षणों से [युक्त] होता है? उसका (किम्-आ-चारः) क्या आ-चार होता है? (च) और [वह] (एतान् त्रीन् गुणान्) इन तीन गुणों को (कथम् अति-वर्तते) कैसे अति-क्रमण करता/लांघता है?'

श्रीभगवानुवाच

५४५ **'प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।**
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांङ्क्षति।२२

कृष्ण ने उत्तर दिया, '(पाण्डव) पाण्डु-पुत्र [अर्जुन]! [त्रिगुणातीत योगी] (प्र-काशम्) ज्ञान को (च प्र-वृत्तिम्) और कर्म को (च मोहम्) और मोह को (एव च) अपि च (सम्-प्र-वृत्तानि) सं-प्रवृत्तों को (न द्वेष्टि) द्वेषता नहीं है, (नि-वृत्तानि न काङ्क्षति) नि-वृत्तों को चाहता नहीं है।

सांसारिकता का ज्ञान और सांसारिक कर्म, दोनों मोहप्रेरित हैं। सभी प्राणी मोहवश सांसारिक ज्ञान और कर्म में प्रवृत्त हैं। कुछ मोहमुक्त और परमार्थरत होते हैं जो सांसारिक ज्ञान और कर्म से निवृत्त रहते हैं। त्रिगुणातीत योगी न प्रवृत्तों से द्वेष करता है, न निवृत्तों से लगाव रखता है।

५४६ **'उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।**
गुणा वर्तन्त इत्येव यो ऽवतिष्ठति नेङ्गते।२३

'(यः) जो (उत्-आसीन-वत् आसीनः) ऊंचे बैठे हुए, ऊपर उठे हुए के समान स्थित [है], (गुणैः न वि-चाल्यते) गुणों द्वारा वि-चलित नहीं किया जाता है, (गुणाः वर्तन्ते) गुण वर्त रहे हैं, त्रिगुणानुसार सब प्रवृत्त होरहे हैं—(इति एव) ऐसा ही [समझकर] (यः अव-तिष्ठति) जो [आत्म-] अव-स्थित रहता है, (न इङ्गते) नहीं डिगता है [वह त्रिगुणातीत है]।

५४७ 'समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ।२४

'जो (स्व-स्थः) आत्म-स्थ [रहता हुआ] (सम-दुःख-सुखः) दुःख और सुख को समान समझनेवाला [है], (सम-लोष्ट-अश्म-काञ्चनः) मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण को समान समझनेवाला [है], (धीरः) धीर [है], (तुल्य-प्रिय-अ-प्रियः) प्रिय-अ-प्रिय को समान समझनेवाला [है], (तुल्य-निन्दा-आत्म-सम्-स्तुतिः) अपनी निन्दा और स्तुति को समान समझनेवाला [है वह त्रिगुणातीत है]।

५४८ 'मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ।२५

'जो (मान-अप-मानयोः तुल्यः) मान और अप-मान में तुल्य [सम] [है], (मित्र-अरि-पक्षयोः तुल्यः) मित्र और शत्रु के पक्ष में तुल्य [समान] [है], (सर्व-आ-रम्भ-परि-त्यागी) सब आ-रम्भों का परि-त्याग करनेवाला [है], [जिसने सब आरम्भों का परित्याग कर दिया है, जो अपने अहंकार से कुछ न करके प्रभुप्रेरित कर्म ही करता है] (सः गुण-अति-इतः उच्यते) वह गुणातीत कहा जाता है।

५४९ 'मां च यो ऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ।२६

'(च यः माम्) और जो मुझे (अ-वि-अभि-चारेण भक्ति-योगेन सेवते) एकनिष्ठ भक्ति-योग के साथ उपासता है (सः एतान् गुणान् सम्-अति-इत्य) वह इन गुणों को सम्यक् लांघकर (ब्रह्म-भूयाय) ब्राह्मी स्थिति प्राप्त्यर्थ (कल्पते) समर्थ होता है।

ब्रह्म त्रिगुणातीत है। उसकी उपासना से योगी त्रिगुणातीत बनता है और ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करता है।

५५० 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च।'२७

'(अ-वि-अयस्य ब्रह्मणः) अ-वि-नाशी ज्ञान की (च अ-मृतस्य) और अ-मृत की (च शाश्वतस्य धर्मस्य) और शाश्वत धर्म की (च ऐकान्तिकस्य सुखस्य) और एकरस सुख की (अहम् हि प्रति-स्था) मैं ही प्रति-ष्ठा [हूं]।'

अविनाशी ज्ञान, अमृत, शाश्वत धर्म, एकरस सुख, ये सब पर ब्रह्म में ही प्रतिष्ठित हैं। ब्रह्म के आश्रय से ही इनकी सिद्धि होती है। सत्य अविनाशी है। सत्य का ज्ञान ही अविनाशी ज्ञान है। मोक्ष ही अमृत है।

मोक्ष की प्राप्ति पर ही मृत्यु से पार उतरा जाता है। अध्यात्म की भित्ति पर आधृत धर्म ही शाश्वत धर्म है। ब्रह्म से प्राप्त आनन्द ही एकरस—

अविच्छिन्न सुख है। इन सबकी उपलब्धि ब्रह्म में समाहित होकर ही सम्भव होती है।

पन्द्रहवां अध्याय

इस अध्याय में प्रकृति और प्रकर्ता, सृष्टि और स्रष्टा के स्वरूप का विवेचन है। परमाणुरूपा प्रकृति स्वसत्ता से अविनाशी है और सृष्टिप्रवाह से भी अनादि और अनन्त होने से अविनाशी है।

श्रीभगवानुवाच

५५१ 'ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्।१

कृष्ण बोले, '(ऊर्ध्व-मूलम्, अधः-शाखम् अश्वत्थम्) ऊपर-जड़वाले [और] नीचे-शाखावाले अश्वत्थ को, (छन्दांसि यस्य पर्णानि) भावनाएं— वासनाएं [हैं] जिसके पत्ते, (अ-वि-अयम् प्र-आहुः) अ-वि-नाशी कहते हैं। (तम् यः वेद) उसे जो जानता है (सः वेद-वित्) वह ज्ञान-वित्—तत्त्ववित्—ज्ञानी [है]।

अश्वत्थ का रूढ़ अर्थ पीपल है। अश्वत्थ = अ + श्व-स्थ = नहीं-कल-स्थित। जो आज जैसा है कल वैसा न होगा, उस प्रकृतिजन्य प्राकृतिक जगत् को यहां अश्वत्थ कहा गया है। यह संसार एकरूप और स्थिर नहीं है, बहुरूप और परिवर्तनशील—अस्थिर है।

ब्रह्म ऊर्ध्व [उच्च] है। प्रकृति अधः है। ब्रह्म की सर्वव्यापिनी ऊर्ध्व सत्ता के मिष से सृष्टि का विस्तार होरहा है। इसी से इसे ऊर्ध्वमूल कहा गया है। निस्सन्देह, इस सृष्टि का आदि और अनादि मूल परमात्मा ही है। सृष्टि प्रवाह से अनादि है और वर्तमान रचना से सादि है। अतः सृष्टिप्रवाह की अनादिता की दृष्टि से ब्रह्म इसका अनादि-मूल है और वर्तमान रचना की दृष्टि से आदि-मूल है। चेतन होने से रचना का वही आदि-मूल है। भावनाएं—वासनाएं इस अश्वत्थ के पत्ते हैं। जो इस रहस्य को जानता है वही ज्ञानवित् है।

५५२ 'अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके।२

'(अधः च ऊर्ध्वम्) नीचे और ऊपर, [सर्वत्र] (प्र-सृताः) फैली हुई [हैं] (तस्य) उसकी (गुण-प्र-वृद्धाः) [तीनों] गुणों से प्र-वृद्ध हुई, (वि-षय-प्र-वालाः) वि-षय-[भोगरूप] कोंपलों वाली (शाखाः) शाखाएं। (मनुष्य-लोके कर्म-अनु-बन्धीनि

मूलानि) मनुष्य लोक में कर्मों के अनुसार बांधनेवाली [उसकी] जड़ें (अधः च) नीचे और [ऊपर] (अनु-सम्-ततानि) व्यापी हुई [हैं]।

मानवयोनि ही कर्मयोनि है। शेष सब योनियां भोगयोनियां हैं। जिस जिस लोक में मानवप्राणी का अस्तित्व है वह वह लोक मनुष्यलोक है। नीचे और ऊपर, प्रत्येक मनुष्यलोक में अश्वत्थ की कर्मानुबन्धिनी जड़ें फैली हुई हैं। अश्वत्थ के ऊपर-नीचे, सर्वत्र, त्रिगुणप्रवृद्ध विषयकोंपला शाखाएं सब ओर फैली हुई हैं।

५५३ 'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ।३
५५४ 'ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ।४

'(इह) यहां (अस्य) इस [अश्वत्थ] का (रूपम्) रूप (तथा न उप-लभ्यते) वैसा नहीं पाया जाता है। (एनम् सु-वि-रूढ-मूलम् अश्वत्थम्) इस सु-दृढ़-मूल अश्वत्थ को (दृढेन अ-सङ्ग-शस्त्रेण) दृढ अनासक्ति [रूप] शस्त्र से (छित्त्वा) काटकर (ततः) तत्पश्चात् (तत् पदम् परि-मार्गितव्यम्) उस पद को खोजना चाहिए (यस्मिन् गताः) जिसमें गए हुए [आत्मा] (भूयः न नि-वर्तन्ति) फिर नहीं आते हैं, [पुनः जन्म नहीं लेते हैं, जन्म-मरण से छूट जाते हैं, मोक्ष प्राप्त करते हैं]। (च) और [मैं स्वयं] (प्र-पद्ये) शरण—अर्पित हूं (तम् आद्यम् पुरुषम् एव) उस आदि पुरुष [परमात्मा] को ही (यतः) जिससे, जिसके मिष से और जिसकी व्याप्ति से [अश्वत्थ की] (पुराणी प्र-वृत्तिः प्र-सृता) सनातन प्र-वृत्ति वि-स्तार को प्राप्त रहती है।

बहुरूप और परिवर्तनशील होने से इसका निश्चित रूप नहीं जाना जा सकता है। आत्मा ही है और परमात्मा ही है जो एकरूप और अपरिवर्तनीय है। अतः आत्मा का ही और परमात्मा का ही रूप निश्चित रूप से जाना जा सकता है। इस अश्वत्थ का (न आदिः) न आदि [है] (च न अन्तः) और न अन्त [है], (न च सम्-प्रति-स्था) न ही प्र-स्थिति [स्थिरता] [है]। इसमें सब कुछ अस्थित—चलायमान—अस्थिर है।

५५५ 'निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ।५

'(तत् अ-वि-अयम् पदम् गच्छन्ति) उस अ-वि-नाशी [मोक्ष] पद को प्राप्त करते हैं (निः-मान-मोहाः) निर्मान-मोह [जन, निराकृत होगया है मान और मोह का भाव जिनका], (जित-सङ्ग-दोषाः) जित-संग-दोष [जन, जीत लिया है आसक्ति-रूप दोष जिन्होंने], (अधि-आत्म-नित्याः) अध्यात्म-नित्य [जन जो नित्य

अध्यात्म में लीन रहते हैं, जो आत्म-परमात्मभाव में सदा निहित रहते हैं], (वि-नि-वृत्त-कामाः) वि-निवृत्त-काम [जन जो कामनाओं से नितान्त निवृत्त हैं, जो कामनारहित हैं], (सुख-दुःख-सम्-ज्ञैः द्वन्द्वैः वि-मुक्ताः) सुख-दुःख-नामी द्वन्द्वों से मुक्त, (अ-मूढाः) ज्ञानी।

मान और मोह से मुक्त, आसक्तिरहित, आत्मलीन, कामनारहित, सुख-दुःख से अप्रभावित तत्त्वज्ञानी ही मोक्ष पद के अधिकारी होते हैं। 'कामना-रहित' से तात्पर्य बन्धनकारिणी कामनाओं से रहित होना है। अन्यथा तो *कामनामयो हि पुरुषः।* मोक्ष की अथ वा ब्रह्मसाक्षात्कार की कामना भी तो कामना ही है।

५५६ 'न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम।६

'(तत्) उस [मोक्ष-पद] को (न सूर्यः भासयते) न सूर्य प्रकाशित करता है, (न शशाङ्कः, न पावकः) न चन्द्रमा, न अग्नि। (यत् गत्वा न नि-वर्तन्ते) जिसे पाकर वापस नहीं आते हैं (तत् मम परमम् धाम) वह मेरा परम धाम [है]।

मोक्षधाम ही ब्रह्म का परम धाम है। उस धाम में प्रविष्ट होकर ही आत्मा जन्म-मरण के चक्र से अवकाश प्राप्त करते हैं।

५५७ 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।७

'(जीव-लोके) देह में (जीव-भूतः) जीव-भूत (मम एव सनातनः अंशः) मेरा ही सनातन अंश [है]। [वही] (प्र-कृति-स्थानि मनःषष्ठानि इन्द्रियाणि) प्र-कृति-स्थ, मनःषष्ठ इन्द्रियों को, [पांच ज्ञानेन्द्रियों और छठे मन को] (कर्षति) आकृष्ट करता है।

देह ही वह जीवलोक है जिसमें जीवात्मा निवास करता है। *अंश* से तात्पर्य यहां विभक्तांश से नहीं है, गुणांश से है। ब्रह्म सत् है। आत्मा भी सत् है। ब्रह्म चित् है। आत्मा भी चित् है। ब्रह्म आनन्द है। आत्मा ब्रह्म-समाहित होकर आनन्द प्राप्त करता है। ब्रह्म सनातन है। आत्मा भी सनातन है। प्रकृति सनातन है। देह सनातन प्रकृति के विभक्तांश हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियां और मन, छहों प्रकृतिजन्य हैं। जीवात्मा ही इन्हें स्व स्व विषय में आकृष्ट करता है।

५५८ 'शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्।८

'(च) और (वायुः) वायु (आ-शयात्) गन्धाशय से (गन्धान्-इव) जैसे गन्धों

को [लेकर जाता है], (ईश्वरः अपि) देह-स्वामी आत्मा भी (यत्) जब [एक शरीर को] (उत्-क्रामति) छोड़ता है [तो] (एतानि) इन [पांच ज्ञानेन्द्रियों और मन] को (गृहीत्वा) ग्रहण करके, लेकर (यत् शरीरम् अव-आप्नोति) जिस शरीर को प्राप्त करता है उसमें (सम्-याति) जाता है।

एक शरीर से दूसरे शरीर को जाते हुए आत्मा प्रत्यक्षतः पांच ज्ञानेन्द्रियों के सूक्ष्म बीजरूपों को लेजाता है, स्थूल इन्द्रियों को नहीं। मन तो है ही अतिसूक्ष्म।

५५९ 'श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ।९

'(अयम्) यह [आत्मा] (श्रोत्रम्, चक्षुः च स्पर्शनम्) कान, आंख और त्वचा को, (रसनम् च घ्राणम्) रसना और घ्राण को, (च मनः) और मन को (अधि-स्थाय एव) आ-श्रय करके ही (वि-षयान् उप-सेवते) वि-षयों को सेवता है।

५६० 'उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ।१०

'(उत्-क्रामन्तम्) शरीर छोड़कर जाते हुए आत्मा को, (वा स्थितम्) वा शरीर में स्थित आत्मा को, (भुञ्जानम्) भोग भोगते हुए आत्मा को, (वा गुण-अनु-इतम्) वा [त्रि] गुणों से लिप्त [आत्मा] को (अपि) भी (वि-मूढाः न अनु-पश्यन्ति) अज्ञानी नहीं देख पाते हैं, (ज्ञान-चक्षुषः पश्यन्ति) ज्ञान-चक्षुवाले देखते हैं।

आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है। आत्मा ही शरीर में स्थित हुआ भोगों को भोगता है। आत्मा ही त्रिगुणात्मक शरीर से युक्त है। इस तथ्य को अज्ञानी नहीं ज्ञानी ही समझते हैं।

५६१ 'यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ।११

'(च) और (योगिनः) योगी (यतन्तः) यत्न—अभ्यास करते हुए (आत्मनि अव-स्थितम्) आत्मा [अपने आप] में अव-स्थित (एनम्) इस [आत्मा] को (पश्यन्ति) देखते हैं। (अ-कृत-आत्मानः) आत्म-अवस्थिति-हीन (अ-चेतसः) अ-विवेकी (यतन्तः अपि) यत्न—अभ्यास करते हुए भी (एनम् न पश्यन्ति) इस [आत्मा] को नहीं देखते हैं।

आत्मज्ञान और आत्मसाक्षात्कार में अन्तर है। आत्मज्ञान की परिणति आत्मदर्शन में तभी होती है जब योगाभ्यासी चित्तवृत्तियों का निरोध करके आत्म-अवस्थित होते हैं। आत्मा आत्म-अवस्थित होकर ही आत्मा को आत्मा में देख पाते हैं। जो योगाभ्यासी विवेक से काम न लेकर विधिहीनता के साथ

यत्न—अभ्यास करते हैं वे आत्म-अवस्थितिशून्य रहते हैं और आत्मा का दर्शन नहीं कर पाते हैं।

५६२ 'यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत् तेजो विद्धि मामकम्।१२

'(यत् तेजः आदित्य-गतम्) जो तेज सूर्य-गत [हुआ] (अ-खिलम् जगत् भासयते) सारे विश्व को प्रकाशित कर रहा है, (यत् चन्द्रमसि) जो [तेज] चन्द्रमा में [है] (च) और (यत् अग्नौ) जो [तेज] अग्नि में [है] (तत् तेजः मामकम् विद्धि) वह तेज मेरा जान।

जिस प्रकार आत्मा देह में प्रकाशता है उसी प्रकार सृष्टि में जहां जो तेज—प्रकाश है वह सब प्रकाशस्वरूप परमात्मा का ही है। जो बल्ब जितनी मात्रा में विद्युत् ग्रहण करता है वह उतना ही प्रकाश करता है। उसी प्रकार प्रकाशलोकों में जहां जितना प्रकाश है वह सब ब्रह्मविद्युत् से ग्रहण किया गया प्रकाश है और वे लोग उतनी ही मात्रा में प्रकाश कर रहे हैं।

५६३ 'गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः।१३

'(च) और (गाम् आ-विश्य) पृथिवी को/में प्र-वेश करके (अहम् ओजसा भूतानि धारयामि) मैं ओज से प्राणियों को धारण करता हूं (च रस-आत्मकः सोमः भूत्वा) और रसात्मक चन्द्रमा बनकर (सर्वाः ओषधीः पुष्णामि) सब ओषधियों को पुष्ट करता हूं।

ब्रह्म के ओज की व्याप्ति से ही पृथिवी में सब प्राणियों को धारण और पोषण करने की क्षमता है। ब्राह्म रस की व्याप्ति से ही चन्द्रमा ओषधियों में रस का संचार करके उन्हें पुष्ट करता है।

५६४ 'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।१४

'(अहम्) मैं (वैश्वानरः भूत्वा) विश्व-नयनकर्ता होकर (प्राणिनाम् देहम् आ-श्रितः) प्राणियों के देह को आ-श्रित—व्यापा हुआ, (प्राण-अपान-सम्-आ-युक्तः) श्वास-प्रश्वास से युक्त [होकर] (चतुः-विधम् अन्नम् पचामि) चार प्रकार के अन्न को पचाता हूं।

ब्रह्म ही विश्व का कर्ता, धर्ता और विधाता है। वह प्राणियों के देह में भी व्यापा हुआ है। उसी की विश्वव्यापिनी व्यवस्था से श्वास-प्रश्वास जठराग्नि को प्रज्वलित करते हुए नेत्राहार, श्रोत्राहार, मुखाहार तथा चित्ताहार, चारों प्रकार के अन्नों को पचाते हैं। दर्शन नेत्र का आहार है, श्रवण श्रोत्र का, खान-पान मुख का। भावना वा वृत्ति चित्त का आहार है। प्राणापान के

आश्रय से ही चारों आहार परिपक्व होते हैं ।

५६५ 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम् ।१५

'(च अहम् सर्वस्य हृदि सम्-नि-विष्टः) और मैं सर्व [सृष्टि] के हृदय [अन्तः] में व्याप्त [हूं] । (मत्तः स्मृतिः, ज्ञानम् च अप-ऊहनम्) मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और संशय-राहित्य [है] । (च सर्वैः वेदैः) और सब वेदों से (अहम् एव वेद्यः) मैं ही ज्ञातव्य [हूं]। (अहम् एव) मैं ही (वेद-अन्त-कृत च वेद-वित्) वेदान्त का कर्ता और वेद-वित् [हूं] ।

ब्रह्म समष्टि सृष्टि के भीतर व्यापा हुआ है । उसी की चेतनामय प्रेरणा से प्रभु का स्मरण, ज्ञान और संशयरहित ईशविश्वास की प्राप्ति होती है । सब वेदों का लक्ष्य ब्रह्मज्ञान और ब्रह्म की प्राप्ति ही है । ब्रह्म की प्राप्ति ही वेद का अन्त[लक्ष्य] है । ईश्वरीय ज्ञान होने से वेदवित् अथ वा वेद का ज्ञाता स्वयं ब्रह्म ही हैं । इसी लिए वेदार्थ के लिए ब्राह्मी स्थिति आवश्यक है ।

५६६ 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थो ऽक्षर उच्यते ।१६

'(द्वौ इमौ पुरुषौ लोके) दो [हैं] ये पुरुष लोक में—(क्षरः च अ-क्षरः एव च) विनाशी भी और अ-विनाशी भी । (क्षरः सर्वाणि भूतानि) 'नश्वर' [हैं] सारे भौतिक रूप । (कूट-स्थः) ध्रुव [आत्मा] (अ-क्षरः उच्यते) 'अ-विनाशी' कहाता है ।

५६७ 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः । १७

'[दोनों से] (अन्यः) भिन्न (पुरुषः तु) सर्वव्यापी [सत्ता] तो (उत्-तमः) 'उत्कृष्टतम' [है], (यः लोक-त्रयम् आ-विश्य) जो तीनों लोकों को व्यापकर (बिभर्ति) धारण करता है। उसे ही (अ-वि-अयः ईश्वरः परम-आत्मा) 'अ-वि-नाशी' ईश्वर, परमात्मा (इति उत्-आ-हृतः) ऐसा कहा गया [है] ।

प्राकृतिक-भौतिक जो कुछ है वह सब उत्—उत्कृष्ट है । आत्मा उत्तर— उत्कृष्टतर है । परमात्मा उत्तम है ।

५६८ 'यस्मात् क्षरमतीतो ऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतो ऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।१८

'(यस्मात्) जिससे, यतः, क्यों कि (अहम् क्षरम् अति-इतः) मैं विनाशी [भौतिक जगत्] को लांघे हुए [हूं] (च अ-क्षरात् अपि उत्-तमः) और अ-विनाशी [आत्मा] से भी उत्तम [हूं], (अतः, लोके च वेदे) अतः, लोक में और वेद में (पुरुष-उत्-तमः प्रथितः अस्मि) 'पुरुष-उत्तम' प्रख्यात हूं ।

जैसा कि कई बार बताया जा चुका है, जहां जहां कृष्ण ब्रह्मवत् बोलते हैं वहां वहां वैसा तात्स्थ्य-स्थिति में अथ वा पात्रपद्धति से कहा गया है। प्रकृति उत् पुरुष है। आत्मा उत्तर पुरुष है। परमात्मा उत्तम पुरुष है।

५६९ 'यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत। १९

'(भारत) भरत-वंशी [अर्जुन]! (यः अ-सम्-मूढः) जो विवेकी (माम् पुरुष-उत्-तमम्) मुझ पुरुषोत्तम को (एवम् जानाति) इस प्रकार जानता है (सः सर्व-वित्) वह पूर्ण रहस्य को जाननेवाला [भक्त] (माम् सर्व-भावेन भजति) मुझे सर्व-भाव से भजता है।

उपर्युक्त श्लोकों में वर्णित प्रकृति, आत्मा और परमात्मा के संज्ञान को जो सम्यक् समझता है वही सर्वभाव से परमात्मा की उपासना करता है।

५७० 'इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान स्यात् कृतकृत्यश्च भारत।' २०

'(अन्-अघ भारत) निष्पाप! भरत-वंशी [अर्जुन]! (मया उक्तम्) मेरे द्वारा कथित (इदम् गुह्य-तमम् शास्त्रम्) यह गोपनीय-तम शास्त्र (इति) ऐसा [है कि] (एतत् बुद्ध्वा) इसे जानकर [मानव] (बुद्धिमान् च कृत-कृत्यः स्यात्) बुद्धिमान् और कृतार्थ होजाए।'

सोलहवां अध्याय

श्रीभगवानुवाच

५७१ 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्। १

५७२ 'अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्। २

५७३ 'तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत। ३

कृष्ण ने कहा, '(अ-भयम्) अ-भय, (सत्त्व-सम्-शुद्धिः) सत्त्व का शुद्ध होना, (ज्ञान-योग-वि-अव-स्थितिः) ज्ञान और योग में विशेषतया अव-स्थित होना, (दानम्) दान (च दमः) और दमन (च यज्ञः) और यज्ञ, (स्व-अधि-आ-अयः)

वेदानुशीलन तथा आत्मनिरीक्षण, (तपः) मनःसंयम, (आर्जवम्) सरलता, अकृत्रिमता।

'(अ-हिंसा) न्याययुक्त प्रियाचरण,(सत्यम्)सत्य, (अ-क्रोधः) क्रोध-राहित्य, (त्यागः) त्याग, (शान्तिः) शान्ति, (अ-पैशुनम्) किसी की निन्दा न करना, किसी को लाञ्छन न लगाना,(भूतेषु दया)सब[प्राणियों]में दया[की भावना], (अ-लोलुप्त्वम्) विषयों में अलगाव, (मार्दवम्) कोमलता, (ह्रीः) [अनार्यजुष्ट कर्म तथा व्यवहार में] लज्जा [अनुभव करना], लोकलाज, (अ-चापलम्) अ-चपलता, स्थिरता, गम्भीरता।

'(तेजः) तेज, (क्षमा) क्षमा' (धृतिः) धैर्य, (शौचम्) पवित्रता, (अ-द्रोहः) अविरोध, (न-अति-मानिता) अति-मानिता-रहित होना, विनम्रता, (भारत) भरत-वंशी [अर्जुन]! [ये छब्बीस लक्षण] (भवन्ति) होते हैं (दैवीम् सम्-पदम् अभि-जातस्य) दैवी सम्पदा को प्राप्त [पुरुष] के।

निर्भयता, न स्वयं भयभीत होना, न किसी को भयभीत करना। शरीर में जो कुछ है वह सब सत्त्व कहलाता है। *आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः*। आहार की शुद्धि में सत्त्व की शुद्धि होती है। हिंसारहित सात्त्विक खान-पान ही शुद्धाहार है। तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए योग के अभ्यास के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। दान अनेक हैं। जो कुछ शुभ-श्रेष्ठ जिनके पास है उसे सर्वहितार्थ देना दान है। अन्नदान, द्रव्यदान, विद्यादान, विचारदान, आदि अनेक दान हैं। इन्द्रियों को दुः और कु से वर्जित करके सु से युक्त रखना ही दम है। *यज्ञ* नाम श्रेष्ठ कर्म का है। सदा शुभ कर्म ही करना यज्ञ की परिभाषा है। शुभ कर्म होने से अग्निहोत्र भी यज्ञ है। न्याय, सत्य और धर्म की रक्षा के लिए स्व सर्वस्व की आहुति देना त्याग है। किसी भी अवस्था और परिस्थिति में उद्विग्न, उत्तेजित और विचलित न होना *शान्ति* है।

५७४ 'दम्भो दर्पो ऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्।४

'(दम्भः) ढोंग, आडम्बर, (दर्पः) गर्व (च अभि-मानः) और अभि-मान, (क्रोधः) क्रोध (च पारुष्यम्) और कठोर वचन (च अ-ज्ञानम्) और अ-ज्ञान [,ये छह आसुरी सम्पदाएं हैं]। (पार्थ) पृथा-पुत्र[अर्जुन]! [ये छह](एव) ही [लक्षण हैं] (आसुरीम् सम्-पदम् अभि-जातस्य) आसुरी सम्पदा को प्राप्त [पुरुष] के।

५७५ 'दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातो ऽसि पाण्डव।५

'(दैवी सम्-पत् वि-मोक्षाय) दैवी सम्पदा मोक्ष के लिए, (आसुरी नि-बन्धाय)

आसुरी [सम्पदा] बन्धन के लिए (मता) मानी गई है। (पाण्डव) पाण्डु-पुत्र [अर्जुन] ! (मा शुचः) मत शोक कर। तू (दैवीम् सम्-पदम् अभि-जातः असि) तू दैवी सम्पदा को प्राप्त है।

५७६ 'द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु।६

'(पार्थ) पृथा-पुत्र [अर्जुन] ! (अस्मिन् लोके) इस लोक में (भूत-सर्गौ द्वौ) प्राणियों के जीवन-प्रवाह दो [प्रकार के हैं], (दैवः च आसुरः एव) दैवी और आसुरी ही। (दैवः वि-स्तरशः प्र-उक्तः) दैवी वि-स्तार से कहा जा चुका [है]। (आसुरम् मे शृणु) आसुरी मुझसे सुन।

५७७ 'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते।७

'(आसुराः जनाः) आसुर जन, आसुरी वृत्ति के लोग (प्र-वृत्तिम् च नि-वृत्तिम् च) प्र-वृत्ति और नि-वृत्ति को (न विदुः) नहीं जानते हैं। (तेषु) उन [के जीवनों] में (न शौचम् विद्यते) न पवित्रता होती है, (न आ-चारः) न आ-चार (च न सत्यम् अपि) और न सत्य ही।

प्र=प्रकृष्ट, शुभ, श्रेष्ठ में संलग्न रहना *प्रवृत्ति* है। नि=निकृष्ट से विलग रहना *निवृत्ति* है। आसुरी प्रवाह में प्रवाहित रहनेवाले लोग शुभाशुभ का विचार न करके इन्द्रियविलासों में निमग्न रहते हैं। जीवन की आन्तर-बाह्य पवित्रता, सदाचार तथा सत्य का भी उन्हें विचार नहीं रहता है।

५७८ 'असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम्।८

'(ते आहुः) वे [असुर] कहते हैं—(जगत्) संसार (अ-सत्यम्) मिथ्या [है], (अ-प्रति-स्थम्) अ-प्रति-ष्ठ [है, है ही नहीं], (अन्-ईश्वरम्) ईश्वर-हीन [है], (अ-परः-पर-सम्-भूतम्) परस्पर अ-सम्भूत [है, न कोई बनानेवाला है न चलानेवाला], (काम-हैतुकम्) काम-भोग के लिए [है], (अन्यत् किम्) और क्या ? [अन्य कोई प्रयोजन नहीं।]

जगत् को मिथ्या बतानेवाले को, जगत् की सत्ता नहीं है पर वह स्वप्नवत् भ्रान्तिवश भासता है, ऐसा कहनेवालों को भी *गीता* ने असुर कहा है।

५७९ 'एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः।९

'[पूर्व दो श्लोकों में वर्णित] (एताम् दृष्टिम्) इस दृष्टि को (अव-स्तभ्य) अव-लम्ब करके (नष्ट-आत्मानः अल्प-बुद्धयः अ-हिताः उग्र-कर्माणः) आत्म-हनन

करनेवाले, अल्प ज्ञानवाले, अ-हित करनेवाले, उग्र कर्म करनेवाले [असुर जन] (जगतः क्षयाय) जगत् के विनाश के लिए (प्र-भवन्ति) प्र-वृत्त रहते हैं।

असुर जन न आत्मा को मानते हैं, न परमात्मा को, न धर्म को, न तत्त्व को, न अध्यात्म को, न लोकहित को। वे तो अणु-आयुधों के निर्माण, आदि उग्र कर्म करते हैं, आत्मकल्याण में प्रवृत्त न होकर आत्महनन करते हैं, अल्प ज्ञानवाले होते हुए भी अपने को सर्वज्ञ समझते हैं। इस प्रकार वे जगत् का नाश करते हैं।

५८० **'काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।**
मोहाद् गृहीत्वासद्ग्राहान् प्रवर्तन्ते ऽशुचिव्रताः।१०

'(दम्भ-मान-मद-अनु-इताः) दम्भ, मान और मद से युक्त, (अ-शुचि-व्रताः) अ-पवित्राचारी [असुर] (दुः-पूरम् कामम् आ-श्रित्य) दुष्पूरणीय काम को आ-श्रय करके (मोहात् अ-सत्-ग्राहान् गृहीत्वा) मोहवश अ-सत्य आग्रहों—मान्यताओं को ग्रहण करके (प्र-वर्तन्ते) प्र-वृत्त रहते हैं।

काम दूष्पूरणीय है। जितना जितना काम का सेवन किया जाता है उतना उतना ही कामाग्नि भड़कता है। विषयजन्य कोई भी कामना सर्वथा अपूरणीय है। असुर कामनाओं की पूर्ति के प्रयास में दम्भ, मान और मद के शिकार होते हैं। परिणामस्वरूप, अनाचारी बनकर वे, मिथ्याज्ञानवश, मिथ्या मान्यताओं में निरत रहते हैं।

५८१ **'चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तमुपाश्रिताः।**
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः।११

५८२ **आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।**
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्।१२

'(प्र-लय-अन्ताम्) मरने तक बनी रहनेवाली (अ-परि-मेयाम् चिन्ताम्) न समाप्त होनेवाली चिन्ता को (उप-आ-श्रिताः) लादे हुए (च) और (काम-उप-भोग-परमाः) काम के भोग में रत, (एतावत् इति निः-चिताः) इतना [ही जीवन का सार है], ऐसा निश्चित मत रखनेवाले (आ-शा-पाश-शतैः बद्धाः) शतशः आ-शा-पाशों में बंधे हुए, (काम-क्रोध-पर-अयनाः) काम और क्रोध में अनुरक्त [असुर] (काम-भोग-अर्थम्) काम-भोग के लिए (अ-न्यायेन अर्थ-सम्-चयान्) अ-न्याय से धनों के संचयों को [सिद्ध करने की] (ईहन्ते) चेष्टा करते हैं।

५८३ **'इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।**
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्।१३

५८४ 'असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरो ऽहमहं भोगी सिद्धो ऽहं बलवान् सुखी ।१४
५८५ 'आढ्यो ऽभिजनवानस्मि को ऽन्यो ऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ।१५
५८६ अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरके ऽशुचौ ।१६

'(इदम्) यह [कामना] (अद्य मया लब्धम्) आज मैंने प्राप्त—सिद्ध करली, अब (इमम् मनः-रथम् प्र-आप्स्ये) इस कामना को प्राप्त—सिद्ध करूंगा । (इदम् अस्ति) यह [धन] है, (पुनः इदम् धनम् अपि) फिर यह धन भी (मे भविष्यति) मेरा होगा ।

'(असौ शत्रुः मया हतः) वह शत्रु मैंने मार दिया, (च अ-परान् अपि हनिष्ये) और अन्यों को भी मारूंगा । (अहम् ईश्वरः, अहम् भोगी, अहम् सिद्धः) मैं स्वामी [हूं], मैं भोक्ता [हूं], मैं सिद्ध [हूं], मैं (बलवान्, सुखी) बलवान् [और] सुखी [हूं] ।

'मैं (आढ्यः, अभि-जनवान् अस्मि) धनाढ्य [और] बड़े परिवारवाला [हूं] । (मया सदृशः अन्यः कः अस्ति) मेरे जैसा अन्य कौन है ? (यक्ष्ये, दास्यामि, मोदिष्ये) मैं यज्ञ करूंगा, दान करूंगा, मौज उड़ाऊंगा ।

'(इति अ-ज्ञान-वि-मोहिताः) ऐसे अ-ज्ञान-ग्रस्त, (अन्-एक-चित्त-वि-भ्रान्ताः) अनेक [एषणाओं] में भ्रमित चित्तवाले, (मोह-जाल-सम् आ-वृताः) मोहरूप जाल में फंसे हुए, (काम-भोगेषु प्र-सक्ताः) काम-भोगों में आ-सक्त [जन] (अ-शुचौ नरके पतन्ति) अ-पावन नरक में पड़ते हैं [,बहुत दुःख पाते हैं] ।

आसुरी जीवनप्रवाह के लोगों की स्थिति का इन श्लोकों में असन्दिग्ध चित्रण है । वे नहीं जान रहे होते हैं कि जीवन का आसुरी प्रवाह आपदाओं के उस महासागर में जा पटकेगा जहां सब कुछ नारकीय है । कोई उन्हें चेताता है तो वे अमुना कर देते हैं ।

५८७ 'आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ।१७

'(आत्म-सम्-भाविताः) अपने को श्रेष्ठ माननेवाले, (स्तब्धाः) दुरभिमानी, (धन-मान-मद-अनु-इताः) धन-मान-मद में चूर (ते) वे [असुर] (दम्भेन) ढोंग से (अ-विधि-पूर्वकम्) विधि-विहीन रीति से (नाम-यज्ञैः) नाममात्र के यज्ञों द्वारा (यजन्ते) अनुष्ठान करते हैं ।

५८८ 'अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तो ऽभ्यसूयकाः ।१८

५८९ 'तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ।१९

'(अहम्-कारम्, बलम्, दर्पम्, कामम् च क्रोधम् सम्-श्रिताः) अहम्मन्यता, बल, घमण्ड, काम और क्रोध को आश्रय किए हुए, (आत्म-पर-देहेषु) अपने-पराए देहों में [व्यापक] (माम् प्र-द्विषन्तः) मुझे द्वेषनेवाले [,मुझसे घोर द्वेष करनेवाले, मुझे न माननेवाले, नास्तिक], (अभि-असूयकाः) अभितः निन्दावृत्तिवाले [जो जन हैं],

'(तान् द्विषतः क्रूरान् नर-अधमान् अ-शुभान्) उन द्वेषी, क्रूर, नराधम, अ-मंगलमूर्तियों को (अहम्) मैं (अ-जस्रम्) निरन्तर (सम्-सारेषु) लोक-लोकान्तर में (आसुरीषु योनिषु एव क्षिपामि) आसुरी योनियों में ही पटकता रहता हूं ।

तातस्थ्य-स्थिति में कृष्ण ब्रह्म के फलप्रदातृत्व का वर्णन कर रहे हैं। रजोगुण वा तमोगुण के वशीभूत रहनेवाले लोगों में प्रबल कामोपभोगवृत्ति तथा अहंकार होता है । वे किसी यज्ञ [सुकर्म] का ढोंग करते हैं तो स्वार्थ के लिए ही । उन्हें न ईश्वर का भय होता है, न आत्मग्लानि होती है । पर कर्म की गति गहन है । ईश्वर की न्यायव्यवस्था से वे आसुरी योनियों में जाकर दुष्कर्मों का दुःखरूप फल भोगते हैं ।

५९० 'आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ।२०

'(कौन्तेय) कुन्ती-पुत्र [अर्जुन] ! वे (मूढ़ाः) अज्ञानी (जन्मनि जन्मनि) जन्म जन्म में (आसुरीम् योनिम् आ-पन्नाः) आसुरी योनि को प्राप्त होते हुए, (माम् अ-प्र-आप्य) मुझे न प्राप्त कर, (ततः अधमाम् गतिम् एव यान्ति) पुनः पुनः नीच गति को ही प्राप्त करते हैं ।

आसुरी वृत्ति के मूढ़ जन ब्रह्मप्राप्ति की साधना न करके आसुरी विलासों में गलते-सड़ते हैं । परिणामस्वरूप, वे अधम से अधमतर योनियों में प्रवेश करते हुए अधम स्थिति में गिरते चले जाते हैं ।

५९१ 'त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ।२१

'(त्रि-विधम् इदम् नरकस्य द्वारम्) त्रि-विध [है] यह नरक का द्वार, (नाशनम् आत्मनः) नाश करनेवाला आत्मा का—(कामः क्रोधः तथा लोभः) काम, क्रोध तथा लोभ । (तस्मात्) उस कारण से (एतत् त्रयम्) इस त्रय [त्रित] को (त्यजेत्) त्याग देवे ।

विकार तो पांच हैं जो आत्महानि करते हैं । यहां तीन का ही उल्लेख क्यों ? काम के शमन से मोह का शमन होजाता है और क्रोध के शमन से

अहंकार का। इसी लिए यहां मोह और अहंकार का उल्लेख नहीं किया गया है।

काम, क्रोध और लोभ, तीनों ही विवेकदीप को बुझाकर मानव को अन्धा कर देते हैं। इसी से इस त्रित को सर्वथा त्याज्य बताया गया है।

५९२ 'एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्।२२

'(कौन्तेय) कुन्ती-पुत्र [अर्जुन] ! (एतैः त्रिभिः तमः-द्वारैः वि-मुक्तः नरः) इन तीन तमः-द्वारों से विमुक्त मानव (आत्मनः श्रेयः आ-चरति) आत्मा के श्रेय को आ-चरता है। वह (ततः पराम् गतिम् याति) उससे पर गति प्राप्त करता है।

काम, क्रोध, लोभ, तीनों तमोद्वार हैं। इन तीनों द्वारों में घोर तम है, निपट अंधेरा है। जो भी इनमें प्रवेश करता है वह पद पद पर ठोकरें खाता है और देह तथा आत्मा, दोनों का सर्वनाश कर लेता है। काम को जीतकर जो निष्काम बनता है, क्रोध को जीतकर जो प्रशान्त, ध्रुव बनता है और लोभ को जीतकर जो अपरिग्रही तथा सन्तोषी बनता है वही श्रेय-आचारी बनकर आत्मकल्याण करता है। श्रेय आचारी ही परम गति [मोक्ष] को प्राप्त होता है।

५९३ 'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।२३

'(यः शास्त्र-विधिम् उत्-सृज्य) जो शास्त्रों की विधि को छोड़कर (काम-कारतः वर्तते) काम-कारतः वर्तता, मन-चाही करता है (सः न सिद्धिम् अव-आप्नोति, न सुखम्, न पराम् गतिम्) वह न सिद्धि प्राप्त कर पाता है, न सुख, न मोक्ष।

५९४ 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।'२४

'(तस्मात्) उस कारण से (कार्य-अ-कार्य-वि-अव-स्थितौ) करणीय-अ-करणीय-व्यवस्था में (इह) यहां, इस संसार में, इस जीवन में (ते) तेरे लिए (शास्त्रम् प्र-मानम्) शास्त्र प्र-माण है, शास्त्र का प्रमाण माननीय है। तू (शास्त्र-विधान-उक्तम् ज्ञात्वा) शास्त्र के विधान के अभिप्राय को जानकर (कर्म कर्तुम् अर्हसि) कर्म करने को योग्य है, तुझे कर्म करना योग्य है।

विधिपूर्वक किया गया कार्य ही अभीष्टप्रापक होता है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु यह न भूलना चाहिए कि मनुकृत [मनुष्यकृत] जितने शास्त्रविधान अथ वा विधानशास्त्र हैं वे सब जिस काल में रचे गए थे सर्वांशतः तो वे उसी काल की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। काल [युग] की आवश्यकता,

देश, जल-वायु, परिस्थिति तथा विज्ञानविकास के अनुसार विधान की अनेक विधियां समयातीत [आउट आव् डेट] होजाती हैं। विधानशास्त्रों के निर्माता सर्वज्ञ और सर्वव्यापी नहीं थे। कोई भी शास्त्रविधान अथ वा विधानशास्त्र व्यवहार वा अभ्यास में आने पर अनेक अंशों में संशोधनीय तथा परिवर्तनीय होजाता है, यह न भूलना चाहिए। अन्यथा शास्त्र जातियों के ह्रास और विनाश के कारण बन जाते हैं। भारत में ऐसा ही हुआ है। किसी शास्त्र की कोई विधि वर्तमान में अयुक्त साबित होती है तो शास्त्राचार्यों का पुनीत कर्तव्य है कि उसमें अविलम्ब यथासमय यथोचित संशोधन करते रहें। आवश्यकता हो तो वे नए विधानशास्त्रों की रचना करने में भी न झिझकें। रूढ़िवाद और हठवाद मूढ़ता और कूपमण्डूकता के लक्षण हैं, प्रौढ़ता और प्राज्ञता के नहीं।

यह ठीक है कि सबको शास्त्रानुसार वर्तना चाहिए। परन्तु यह भी उतना ही सही है कि प्रत्येक विधानशास्त्र अद्यापि [अप् टू डेट] रहना चाहिए। स्वयं कृष्ण यावज्जीवन शास्त्रीय रूढ़िवाद का सतत उल्लंघन करके कर्मरत रहे।

सत्रहवां अध्याय

अर्जुन उवाच

५९५ 'ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः।'१

अर्जुन ने पूछा, '(कृष्ण) कृष्ण ! (ये शास्त्र-विधिम् उत्-सृज्य) जो शास्त्र-विधि को त्यागकर, (श्रत्-धया अनु-इताः) श्रद्धा से युक्त हुए (यजन्ते) यज्ञिय कर्म करते हैं (तेषाम् नि-स्था तु का) उनकी श्रद्धा तो कौन—(सत्त्वम्, रजः आहो तमः) सात्त्विकी, राजसी वा तामसी [है] ?'

श्रीभगवानुवाच

५९६ 'त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु।२

कृष्ण बोले, '(देहिनाम् सा श्रत्-धा स्व-भाव-जा त्रि-विधा भवति) देहियों की वह श्रद्धा स्व-भाव से तीन प्रकार की होती है—(सात्त्विकी राजसी च एव तामसी च) सात्त्विकी, राजसी और च तामसी भी। (इति) ऐसे (ताम्)

उसे, उसके विषय में (शृणु) सुन।

५६७ 'सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयो ऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।३

'(भारत) भरत-वंशी [अर्जुन]! (सर्वस्य श्रत्-धा सत्त्व-अनु-रूपा भवति) सबकी श्रद्धा [अपने अपने] सत्व के अनु-रूप होती है। (अयम् पुरुषः श्रत्-धा-मयः) यह पुरुष श्रद्धा-मय [है]। (यः यत्-श्रत्-धः) जो जैसी श्रद्धावाला [है] (सः एव सः) वह ही वह, वैसा ही वह, वह वैसा ही [है], वैसा ही उसका जीवन [है]।

आहार से सत्त्व का निर्माण होता है। आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः। आहार की शुद्धि में सत्त्व की शुद्धि निहित है। जिसका आहार शुद्ध होता है उसका सत्त्व सात्त्विक होता है और उसकी श्रद्धा सात्त्विकी होती है। जिसका आहार उत्तेजक होता है उसका सत्त्व राजस होता है और उसकी श्रद्धा राजसी होती है। जिसका आहार मलिन होता है उसका सत्त्व तामस होता है और उसकी श्रद्धा तामसी होती है।

जिसका जैसा आहार, वैसा उसका सत्त्व। जैसा जिसका सत्त्व, वैसी उसकी श्रद्धा। जैसी जिसकी श्रद्धा, वैसा उसका जीवन।

५६८ 'यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ।४

'(सात्विकाः देवान् यजन्ते) सात्विक देवों को संगत करते हैं, (राजसाः यक्ष-रक्षांसि) राजस यक्षों और राक्षसों को। (अन्ये तामसाः जनाः प्र-इतान् च भूत-गणान् यजन्ते) अन्य तामस जन प्रेतों तथा भूत-गणों की संगत करते हैं।

सात्त्विकी श्रद्धावाले सात्त्विक जन देवों की संगति से अपने जीवनों में दिव्यताओं का चयन करते हैं। राजसी श्रद्धावाले राजस जन यक्षों [धनकुबेरों] और राक्षसों [विलासियों] की संगति से धन बटोरते और विलासरत रहते हैं। तामसी श्रद्धावाले भूत, प्रेत, काली, भवानी, चण्डी, आदि अस्तित्वहीनों का पूजन करनेवालों की संगति से मिथ्या और मलिन कृत्यों में संलग्न रहते हैं।

५६९ 'अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ।५

६०० 'कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्धयासुरनिश्चयान् ।६

'(दम्भ-अहम्-कार-सम्-युक्ताः) दम्भ और अहंकार से संयुक्त, (काम-राग-बल-अनु-इताः) काम, आसक्ति और बल से उपेत (ये जनाः) जो जन (अ-शास्त्र

वि-हितम्) शास्त्रों द्वारा निषिद्ध (घोरम् तपः तप्यन्ते) घोर तप तपते हैं, (शरीर-स्थम् भूत-ग्रामम्) शरीर-स्थ भूत-ग्राम, शरीर में स्थित भौतिक इन्द्रियसमूह को (च) और (अन्तः-शरीर-स्थम् माम्) अन्तःकरण में स्थित मुझको (कर्षयन्तः) कृश करनेवाले [हैं], (तान् अ-चेतसः) उन भ्रान्तों को (आसुर-निः-चयान् एव विद्धि) आसुरी श्रद्धावाले ही जान।

इस प्रकार के तप से जहां शरीर और इन्द्रियसमूह कृश होजाता है वहां अन्तर्यामीरूप से अन्तःकरण में विराजमान ब्रह्म की उपासना के विषय में अवमान्यतायुक्त धारणाएं पनपती हैं और, परिणामस्वरूप, नास्तिकवाद फैलता है। यही ब्रह्म का कर्षण [कृश होना] है।

६०१ 'आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ।७

'(सर्वस्य आ-हारः अपि) सबका आ-हार भी [, जिससे सत्त्व बनता है,] (त्रि-विधः) तीन प्रकार का [अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार] (प्रियः भवति) प्रिय होता है। (तथा तु) वैसे ही (तेषाम् यज्ञः, तपः, दानम्) उनका यज्ञ, तप [और] दान [तीन तीन प्रकार का होता है]। (इमम् भेदम् शृणु) इस भेद को सुन।

६०२ 'आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ।८

'(आयुः-सत्त्व-बल-आरोग्य-सुख-प्रीति-वि-वर्धनाः) आयु, सत्त्व, बल, स्वास्थ्य, सुख, प्रीति बढ़ानेवाले (रस्याः, स्निग्धाः, स्थिराः, हृद्याः आ-हाराः) रसीले, चिकने, स्थिर, हृदयपोषक आ-हार (सात्त्विक-प्रियाः) सात्त्विकों को प्रिय [होते हैं]।

६०३ 'कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ।९

'(राजस्य इष्टाः) राजस जन के इष्ट [हैं] (कटु-अम्ल-लवण-अति-उष्ण-तीक्ष्ण-रूक्ष-वि-दाहिनः दुःख-शोक-आमय-प्र-दाः आ-हाराः) कड़वे, खट्टे, नमकीन, बहुत गरम, तेज, रूखे, दाहकारक, दुःख-शोक-रोग-उत्पादक आ-हार।

६०४ 'यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ।१०

'(यत् भोजनम्) जो भोजन (यात-यामम्) अध-पका, कच्चा, (गत-रसम्) रस-रहित, सूखा, (पूति) दुर्गन्धियुक्त (च परि-उषितम्) और बासी (उत्-शिष्टम् अपि) जूठा भी (च अमेध्यम्) और अयज्ञिय [अपवित्र] वह (तामस-प्रियम्) तामस जन को प्रिय [होता है]।

६०५ 'अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ।११

'(विधि-दृष्टः यष्टव्यम् एव) विहित अनुष्ठान करणीय ही [है], (इति मनः सम्-आ-धाय) ऐसे मन को निश्चल करके (अ-फल-आ-काङ्क्षिभिः) निष्कामियों द्वारा (यः यज्ञः इज्यते) जो यज्ञ किया जाता है (सः सात्त्विकः) वह सात्त्विक [है]।

६०६ 'अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ।१२

'(तु) किन्तु, (भरत-श्रेष्ठ) भरतवंशि-शिरोमणि [अर्जुन] ! (यत् दम्भ-अर्थम् एव) जो [यज्ञ] दिखावे के लिए ही (च) और (फलम् अपि अभि-सम्-धाय) फल को भी लक्ष्य में रखकर (इज्यते) किया जाता है (तम् यज्ञम् राजसम् विद्धि) उस यज्ञ को राजस जान ।

६०७ 'विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ।१३

'(विधि-हीनम्) विधि-हीन, (अ-सृष्ट-अन्नम्) सिद्ध-अन्न-रहित, (मन्त्र-हीनम्) बिना मन्त्र-विनियोग, (अ-दक्षिणम्) बिना दक्षिणा दिए, (श्रद्धा-वि-रहितम्) श्रद्धा-शून्य (यज्ञम्) यज्ञ को (तामसम् परि-चक्षते) तामस कहते हैं।

६०८ 'देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ।१४

'(देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञ-पूजनम्) दिव्य जनों, विद्वानों, गुरु जनों, धीमानों का सत्कार, (शौचम्) शुद्धता, (आर्जवम्) सरलता, (ब्रह्म-चर्यम्) ब्रह्म-चर्य (च) और (अ-हिंसा) अ-हिंसा (शारीरम् तपः) शारीरिक तप (उच्यते) कहाता है ।

६०९ 'अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ।१५

'(च यत्) और जो (अन्-उत्-वेग-करम् सत्यम् प्रिय-हितम् वाक्यम्) शांति-कर, सत्य, प्रिय-हितकारक वचन (च) और (स्व-अधि-आ-अय-अभ्यसनम्) स्वाध्याय-अध्ययन [है वह], (एव) निश्चय से, (वाक्-मयम् तपः उच्यते) वाङ्-मय तप कहलाता है ।

६१० 'मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते ।१६

'(मनः प्र-सादः) मानसिक प्रसन्नता, (सौम्यत्वम्) सौम्यता, (मौनम्) मौन, (आत्म-वि-नि-ग्रहः) आत्म-विनिग्रह, आत्म-संयम, (भाव-सम्-शुद्धिः) भावना की शुद्धता—(इति एतत् मानसम् तपः उच्यते) ऐसा यह मानसिक तप कहलाता है ।

६११ 'श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते।१७

'(अ-फल-आ-काङ्क्षिभिः, युक्तैः नरैः) निष्काम, योगयुक्त मानवों द्वारा (परया श्रद्धया तप्तम्) परा श्रद्धा से तप्त (तत् त्रि-विधम् तपः) उस तीन [शारीरिक, वाचिक, मानसिक] प्रकार के तप को (सात्त्विकम् परि-चक्षते) सात्त्विक कहते हैं।

६१२ 'सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्।१८

'(च एव) और इसी प्रकार (यत् तपः) जो तप (सत्-कार-मान-पूजा-अर्थम्) सत्कार, मान, पूजा के हेतु (दम्भेन) आडम्बर के साथ (क्रियते) किया जाता है (तत् इह) वह यहां (अ-ध्रुवम्, चलम्, राजसम् प्र-उक्तम्) अ-स्थिर, क्षणिक [वाहवाहीवाला] राजस कहा गया [है]।

६१३ 'मूढग्राहेणात्मनो यत् पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत् तामसमुदाहृतम्।१९

'(यत् तपः) जो तप (मूढ-ग्राहेण) मूर्खतापूर्ण आग्रह से (आत्मनः पीडया) अपनी पीड़ा के साथ, अपने को कष्ट पहुंचाकर (वा) अथ वा (परस्य उत्-सादन-अर्थम्) दूसरे के अहित के लिए (क्रियते) किया जाता है (तत् ताम-सम्-उत्-आ-हृतम्) वह तामस कहा गया [है]।

६१४ 'दातव्यमिति यद् दानं दीयते ऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद् दानं सात्त्विकं स्मृतम्।२०

'(दातव्यम्) दातव्य [है], दिया [ही] जाना चाहिए, (इति) इस भावना से (यत् दानम् देशे च काले च पात्रे) जो दान [ठीक] स्थान में और [ठीक] समय में और [ठीक] पात्र में (अन्-उप-कारिणे) [बदले में] उपकारभावना से रहित होकर (दीयते) दिया जाता है (तत् दानम् सात्त्विकम् स्मृतम्) वह दान सात्त्विक माना गया [है]।

६१५ 'यत् तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद् दानं राजसं स्मृतम्।२१

'(यत् तु) जो तो (प्रति-उप-कार-अर्थम्) बदले में लाभार्थ (वा पुनः) वा फिर (फलम् उत्-दिश्य) फल को दृष्टि में रखकर (च परि-क्लिष्टम्) और क्लेश करके, दुःख मानकर (दीयते) दिया जाता है (तत् दानम् राजसम् स्मृतम्) वह दान राजस माना गया [है]।

६१६ 'अदेशकाले यद् दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत् तामसमुदाहृतम्।२२

'(यत् दानम्) जो दान (अ-देश-काले) अयोग्य स्थान और अयोग्य समय

में (च) और (अ-पात्रेभ्यः) कु-पात्रों के लिए (अ-सत्-कृतम्) बिना सत्कार किए, (अव-ज्ञातम्) निरादर करके (दीयते) दिया जाता है (तत् तामसम् उत्-आ-हृतम्) वह तामस कहा गया [है]।

६१७ 'ओं तत् सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ।२३

'(ओम्, तत्, सत्) ओम् तत्, सत्—(ब्रह्मणः इति त्रि-विधः निः-देशः स्मृतः) ब्रह्म का ऐसा त्रि-विध निर्देश कथन किया गया [है]। (पुरा) सृष्टि के आदि में (तेन) उसी [निर्देश] से (ब्राह्मणाः, वेदाः च यज्ञाः च) ब्राह्मणों को, वेदों और यज्ञों को (वि-हिताः) विहित किया गया [है]।

ओम् तत् सत्=तत् सत् ओम्। (तत्) वह (सत्) सत्ता, जिससे यह सब सत्तावान् है, (ओम्) ओम् है। ओम् की ही सर्वव्यापिनी और सर्वज्ञात्री सत्ता के मिष से सब था, है और होगा। यह सब उसी की रक्षा से रक्षित, उसी की गति [प्रेरणा] से प्रेरित, उसी की कान्ति से सुशोभन, उसी की प्रीति से प्रिय, उसी की तृप्ति से परितृप्त, उसी के अवगम [बोध] से प्रबुद्ध, उसी के प्रवेश [व्याप्ति] से सुस्थिर, उसी के श्रवण से श्रवणीय, उसी के स्वामित्व में स्थित, उसी से सबका अर्थयाचित, उसी के कर्तृत्व से कृत, उसी की इच्छा के अधीन, उसी की दीप्ति से दीप्त, उसी की अवाप्ति से प्राप्त, उसी के आलिंगन से संस्पृष्ट, उसी के हिंसन [दुःखविनाश] से सुखद, उसी की देनों से सम्पन्न, उसी के वितरण से वितरित और उसी की वर्धनशक्ति से संवृद्ध है।

ओम् परमात्मा का त्रिसम्पदा-सम्पन्न नाम है। अ ब्रह्मसम्पदा, उ आत्मसम्पदा, म् मायासम्पदा [भौतिकैश्वर्य]।

१) ओम् प्र तिष्ठ। (यजुर्वेद २.१३)

(ओम् प्र तिष्ठ) ओम् में स्थित रह। अपनी सम्पूर्ण भावना से ओम् में समाहित रह।

२) ओम् क्रतो स्मर। (यजुर्वेद ४०.१५)

(क्रतो) कर्म करनेवाले! कर्तः! (ओम् स्मर) ओम् स्मर। कर्म कर, ओम् स्मर। ओम् स्मरते हुए कर्मरत रह। ओम् स्मरते हुए कर्म करने से तुझे तीनों सम्पदाओं की सम्प्राप्ति होती रहेगी।

३) ओम् खम् ब्रह्म। (यजुर्वेद ४०.१७)

(ओम्) ओम् (खम्) सर्वव्यापक और (ब्रह्म) सर्वज्ञ है। उसे सर्वज्ञ और सर्वव्यापक जानता हुआ निष्पाप और निर्भय रह।

६१८ 'तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ।२४

'(तस्मात्) ततः, अतः (ब्रह्म-वादिनाम्) ब्रह्म-परायणों की (विधान-उक्ताः यज्ञ-दान-तपः-क्रियाः) विधि-विहित यज्ञ-दान-तप-क्रियाएं (ओम् इति उत्-आ-हृत्य) 'ओम्' ऐसा बोलकर (स-ततम् प्र-वर्तन्ते) सदा होती हैं।

ब्रह्मपरायणों की प्रत्येक क्रिया ओम् उच्चारण से आरम्भ की जाती है, जिसका तात्पर्य ओमर्पण होकर कर्म करना है। ऐसा करने से कर्म ब्राह्म कर्म होजाता है और कर्ता कर्म के परिणाम से मुक्त रहता है।

६१९ 'तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः।२५

'(मोक्ष-काङ्क्षिभिः) मोक्ष-कांक्षियों द्वारा (फलम् अन्-अभि-सम्-धाय) फल न चाहकर (वि-विधा· यज्ञ-तपः-क्रियाः) विविध यज्ञ-तप-क्रियाएं (च दान-क्रियाः) और दान-क्रियाएं (तत् इति) 'तत्' ऐसा कहकर (क्रियन्ते) की जाती हैं।

तत् में भावना परोक्ष ब्रह्म की है। ओम् के साथ तत् कहकर जो कर्म किए जाते हैं वे ब्रह्म की साक्षी की भावना से किए जाते हैं, अतः मोक्षप्रद होते हैं।

६२० 'सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते।२६

'(पार्थ) पृथा-पुत्र [अर्जुन]! (सत्-भावे च साधु-भावे) सद्-भाव में और साधु-भाव में (सत् इति एतत् प्र-युज्यते) 'सत्' ऐसा यह प्र-योग किया जाता है। (तथा प्र-शस्ते कर्मणि सत् शब्दः युज्यते) और प्र-शस्त कर्म में भी 'सत्' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

ओम् तत् के साथ सत् शब्द के प्रयोग से कर्मों में सद्भाव, साधुभाव तथा प्रशस्तिभाव का संयोग होता है।

६२१ 'यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते।२७

'(यज्ञे च तपसि च दाने) यज्ञ में और तप में और दान में (स्थितिः एव) स्थिति ही (सत् इति उच्यते) 'सत्' ऐसा कही जाती है। (च तत्-अर्थीयम् कर्म एव) और तत् [परोक्ष ब्रह्म] के लिए किया गया कर्म ही (सत्) सत् [है], (इति अभि-धीयते) ऐसा भी कहा जाता है।

६२२ 'अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत् प्रेत्य नो इह।' २८

'(पार्थ) पृथा-पुत्र [अर्जुन]! (अ-श्रत्-धया) श्रद्धा-बिना (हुतम्) होमा हव्य, (दत्तम्) दिया दान, (तप्तम् तपः) तपा तप (च यत् कृतम्) और जो किया

कृत्य[है वह] (अ-सत् इति उच्यते) 'अ-सत्' ऐसा कहा जाता है। (तत् नो इह च न प्र-इत्य) वह न यहां, न मरने के बाद [कल्याणकर होता है]।'

अठारहवां अध्याय

अर्जुन उवाच

६२३ 'संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक् केशिनिषूदन ।१

अर्जुन बोला, '(महा-बाहो) वीर ! (हृषीक-ईश) जितेन्द्रिय ! (केशि-नि-सूदन) केशि-हन्ता [कृष्ण] ! मैं (सम्-नि-आसस्य च त्यागस्य तत्त्वम्) सं-न्यास के और त्याग के तत्त्व को (पृथक्) अलग [अलग] (वेदितुम् इच्छामि) जानना चाहता हूं।

श्रीभगवानुवाच

६२४ 'काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ।२

कृष्ण ने बताया, '(काम्यानाम् कर्मणाम् नि-आसम्) काम्य कर्मों के त्याग को (कवयः सम्-नि-आसम् विदुः) कवि [जन] 'सं-न्यास' जानते हैं। (सर्व-कर्म-फल-त्यागम्) सब कर्मों के फलों के त्याग को (वि-चक्षणाः त्यागम् प्र-आहुः) वि-चक्षण [जन] 'त्याग' कहते हैं।

कवि का अर्थ है विवेकी, क्रान्तप्रज्ञ, क्रान्तदर्शी, क्रान्तकर्मा। कवियों की दृष्टि में काम्य कर्मों के, सब कर्मों के नहीं, काम्य कर्मों के त्याग का नाम *संन्यास* है। जो गहराई के साथ सोचता वा चिन्तन करता है और गहरी दृष्टि से देखता है वह कवि है। इसी लिए कवि अतिशय विवेकी होता है। वह बिना चखे ही विवेकनेत्र से देखकर मायाजन्य व्यासंगों और मज़ों से नितान्त विलग रहता है।

विचक्षण = वि = विविध + चक्षण = चखना। जिसने विविध स्वादों—मज़ों को चख-चखकर छोड़ दिया है उस तत्त्वज्ञ की संज्ञा *विचक्षण* है। 'एक वार चख और सदा के लिए छोड़' के सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए जिन्होंने दुनिया के हर मज़े का सेवन किया है और अनुभव प्राप्त करके उसे सदा के लिए त्याग दिया है वे नर वा नारी विचक्षण हैं।

कवियों की दृष्टि में काम्य कर्मों के त्याग का नाम संन्यास है। विचक्षणों

का कहना है कि कर्मों के फलों के त्याग का नाम त्याग है। संन्यासाश्रम में दीक्षित होकर भी जिन्होंने काम्य कर्मों का त्याग नहीं किया है वे संन्यास-वेषधारी-मात्र हैं, संन्यासी नहीं। और, सब कुछ त्यागकर भी जिन्होंने कर्मों के फलों को नहीं त्यागा वे *त्यागी* जी कहलाने पर भी त्यागी नहीं हैं।

जिस कर्म के करने में कर्ता की अपने लिए तनिक भी कोई कामना है वह *काम्य कर्म* है। अपने लिए तनिक भी कोई लगाव न रखते हुए केवल कर्तव्य की भावना से जो कर्म किया जाता है वह 'अकाम्य' कर्म है। काम्य कर्मों के करने से कर्ता में आसक्ति घर कर जाती है और वाञ्छित परिणाम न होने पर उसे विषाद होता है। त्याग कर्मों का नहीं, काम्यता का करना है। आप जहां भी हैं वहीं आपके लिए तद्वत् कर्म भी हैं। यदि आप सर्वत्र उन्हें प्राणवत् निस्स्वार्थ-भाव से, विशुद्ध कर्तव्यनिष्ठा के साथ करते हैं तो वह निस्सन्देह आपका आदर्श संन्यास है और आप एक आदर्श संन्यासी हैं। बदले में अपने लिए कुछ भी न चाहकर यदि आप परिवार, समाज, राष्ट्र और संसार के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं, उनकी सुसेवा करते हैं, उनका हित सम्पादन करते हैं तो यह आपका सच्चा संन्यास-योग है। इसी संन्यास की निर्विघ्न और निर्बाध साधना के लिए संन्यासाश्रम की दीक्षा ली जाती है। कवियों का ऐसा निश्चित मत है। संशयरहित होकर अकाम्यता का पालन कीजिए; आप शुद्ध, बुद्ध और जीवन्मुक्त विदेह बन जायेंगे, शरीर त्यागने पर आप ब्राह्म मोक्ष प्राप्त करेंगे। काम्यता का त्याग ही मोक्ष का मूल है।

त्याग के विषय में विचक्षणों के अनुभवों का लाभ उठाइए। उन्होंने मायावृक्ष के सभी फलों को चखा है और सभी को खट्टा पाया है। कर्म का फल अवश्यम्भावी है। अन्य किसी वृक्ष पर फल लगें वा न लगें किन्तु कर्मवृक्ष पर फल अवश्य लगेंगे। फल जब सामने आएं तो इदं *प्रजाभ्य*, इदं न मम, यह प्रजा के लिए सुहुत हो, यह मेरा नहीं, यह कहकर फलों को सामने से हटा दीजिए। यही सच्चा त्याग है। इस त्याग में ही विश्वकल्याण तथा आत्मकल्याण निहित है। यही त्याग प्राणिमात्र को स्वस्तियुक्त करता है। यही त्याग त्यागी को आत्मप्रतिष्ठ और ब्रह्मनिष्ठ बनाता है। सब कुछ त्यागकर भी जो त्याग के प्रतिफल का त्याग नहीं करते वे कदापि त्यागी नहीं हैं।

इस सबसे बढ़कर यह है कि *देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः* (अथर्ववेद ६.२३.३), मानव कर्म करें देव सविता के सव में। सव का अर्थ है समुत्पन्न संसार [कारखाना] और प्रेरणा। यह संसार ब्रह्मनिर्मित, ब्रह्म

[भगवान्] का कारख़ाना है। भगवान् के कारख़ाने में मानव भगवान् की प्रेरणा से भगवान् का ही काम करें। जिस मालिक का यह कारख़ाना है उसमें उसी का काम करो और उसकी अन्तःप्रेरणा से प्रेरित होकर ही प्रत्येक कर्म करो। ऐसा करने से संन्यास और त्याग का झमेला भी समाप्त हो जाएगा। मालिक के कारख़ाने में मालिक के आदेशानुसार मालिक का काम करो। न अपना कारख़ाना न अपना काम, न अपनी हानि न अपना लाभ, न अपनी जय न अपनी पराजय, न कोई बन्धन न कोई राग, न कोई आसक्ति न कोई लेप, न कोई चिन्ता न कोई ग़म, न आह न वाह।

मैं की जगह है तू और मेरा की जगह तेरा।
संन्यास, त्याग का भी सब मिट गया बखेड़ा।१
हर सुबह शाम है यहां हर शाम है सवेरा।
तेरा ही नाम लेकर करता हूं काम तेरा।२

६२५ 'त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे।३

'(कर्म दोष-वत् त्याज्यम्) कर्म दोष-वत् त्याज्य [है], (एके मनीषिणः इति प्र-आहुः) कोई मननशील ऐसा कहते हैं। (च अ-परे इति) और दूसरे [मनीषी] ऐसा [कहते हैं कि] (यज्ञ-दान-तपः-कर्म न त्याज्यम्) यज्ञ-दान-तपोरूप कर्म त्याज्य नहीं।

६२६ 'निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः।४

'(भरत-सत्तम) भरत सत्तम! (पुरुष-व्याघ्र) वीर [अर्जुन]! (तत्र त्यागे मे निः-चयम् शृणु) वहां त्याग के विषय में मेरा निश्चय सुन। (त्यागः हि त्रि-विधः सम्-प्र-कीर्तितः) त्याग निश्चय से त्रिविध कहा गया [है]।

६२७ 'यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।५

'(यज्ञ-दान-तपः-कर्म न त्याज्यम्) यज्ञ-दान-तपोरूप कर्म त्याज्य नहीं, (तत् कार्यम् एव) वह करणीय ही [है]। (यज्ञः दानम् च तपः एव) यज्ञ, दान और तप ही (मनीषिणाम् पावनानि) मनीषियों के शोधक [हैं]।

६२८ 'एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्।६

'(पार्थ) पृथा-पुत्र [अर्जुन]! (एतानि कर्माणि अपि तु) ये कर्म भी तो (स-ङ्गम् च फलानि त्यक्त्वा कर्तव्यानि) आसक्ति और फलों को त्यागकर करणीय [हैं], (इति मे निःचितम् उत्-तमम् मतम्) ऐसा मेरा निश्चित उत्तम मत [है]।

६२९ 'नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात् तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ।७

'(नि-यतस्य कर्मणः सम्-नि-आसः तु न उप-पद्यते) नि-यत कर्म का त्याग तो योग्य नहीं है । (मोहात् तस्य परि-त्यागः) नासमझी से उसका परि-त्याग (तामसः परि-कीर्तितः) तामस कहा गया [है] ।

६३० 'दुःखमित्येव यत् कर्म कायक्लेशभयात् त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ।८

'(दुःखम् इति एव यत् कर्म) दुःखप्रद, ऐसा ही जो कर्म (काय-क्लेश-भयात्) शरीर-कष्ट के भय से [जो मनुष्य] (त्यजेत्) त्यागे (सः) वह [मानव] (राजसम् त्यागम् कृत्वा एव) राजस त्याग को करके ही (त्याग-फलम् न लभेत्) त्याग के फल को प्राप्त न करे ।

शरीरकष्ट के भय से दुःखद कर्म का परित्याग कर्मफल का परित्याग नहीं है । वह तो भीरुता है ।

६३१ 'कार्यमित्येव यत् कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ।९

'(अर्जुन) अर्जुन ! (कार्यम् एव) करणीय ही [है], (इति) ऐसा [समझकर] (यत् नि-यतम् कर्म सङ्गम् च फलम् त्यक्त्वा) जो नि-यत कर्म आसक्ति और फल को त्यागकर (क्रियते) किया जाता है (सः एव सात्त्विकः त्यागः मतः) वह ही सात्त्विक त्याग माना गया [है] ।

६३२ 'न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ।१०

'वह (मेधावी) ज्ञानी (त्यागी) त्यागी [है] जो (अ-कुश-लम् कर्म न द्वेष्टि) अ-कुश-ल कर्म के प्रति द्वेष नहीं करता है, जो (कुश-ले न अनु-सज्जते) कुश-ल [कर्म] में आसक्ति नहीं रखता है, जो (सत्त्व-सम्-आ-विष्टः छिन्न-सम्-शयः) सत्त्वगुण में समाहित हुआ सं-शय-रहित [है] ।

ज्ञानी ही त्याग के मर्म को समझता है । त्यागी सत्त्वगुणसम्पन्न होता है और अपने कुशलक्षेम के विषय में वह संशयरहित होता है । इसी लिए वह किसी भी कर्तव्य कर्म में कुशल-अकुशल की चिन्ता नहीं करता है । दुःख-सुख में सम रहता हुआ वह निर्द्वन्द्वता के साथ कर्तव्यरत रहता है ।

६३३ 'न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ।११

'(देह-भृता) देह-धारी द्वारा (कर्माणि अ-शेषतः त्यक्तुम्) कर्मों को पूर्णतया त्यागना (शक्यम् हि न) सम्भव ही नहीं । [अतः] (यः तु कर्म-फल-त्यागी) जो

तो कर्मों के फलों का त्यागनेवाला [है] (सः त्यागी इति अभि-धीयते) वह त्यागी [है], ऐसा कहा जाता है।

६३४ 'अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्व चित्।१२

'(अन्-इष्टम् इष्टम् च मिश्रम्) अनिष्ट, इष्ट और मिश्रित—(अ-त्यागिनाम् कर्मणः त्रि-विधम् फलम्) अ-त्यागियों के कर्म का त्रि-विध फल (प्र-इत्य भवति) मरकर होता है (तु) किन्तु (सम्-नि-आसिनाम्) सं-न्यासियों के [कर्म का फल] (क्व चित् न) कहीं—कभी, तनिक भी नहीं।

अत्यागी जीते-जी भी और मरणानन्तर भी तीनों प्रकार के कर्मफल भोगता है। त्यागी जीते-जी भी और देहत्यागानन्तर भी तीनों प्रकार के कर्मफल से मुक्त रहता है।

६३५ 'पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्।१३

'(महा-बाहो) वीर [अर्जुन]! (मे नि-बोध) मुझसे जान [कि] (सर्व-कर्मणाम् सिद्धये) सब कर्मों की सिद्धि के लिए (सांख्ये कृत-अन्ते) सांख्य के सिद्धान्त में (एतानि पञ्च कारणानि प्र-उक्तानि) ये पांच कारण कहे गए [हैं]।

६३६ 'अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्।१४

'(अत्र) यहां, इस विषय में (अधि-स्थानम्) आ-धार (तथा कर्ता) और करनेवाला (च पृथक्-विधम् करणम्) और पृथक् पृथक् साधन (च वि-विधाः पृथक् चेष्टाः) और वि-विध पृथक् पृथक् चेष्टाएं (च पञ्चमम् दैवम् एव) और पांचवा दैव ही है।

अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और दैव—कर्मों के किए जाने में ये पांच कारण हैं।

शरीर कर्म का *अधिष्ठान* है। आत्मा कर्म करनेवाला है। प्रकृति कर्म का साधन है। शुभाशुभ कर्म करने की प्रवृत्ति का नाम चेष्टा है। दैव से तात्पर्य यहां जन्म-जन्मान्तर के संस्कारोदय तथा कर्मफलोदय से है। कभी कभी श्रेष्ठ जन जो निकृष्ट कर्म कर बैठते हैं उसका कारण दैव ही होता है। दैव को टालना नितान्त अशक्य है। केवल ब्रह्मलीन योगियों पर दैव का प्रभाव नहीं होता है।

६३७ 'शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः।१५

'(नरः शरीर-वाक्-मनः-भिः) मानव [illegible] मन से (यत् न्याय्यम् वा

वि-परि-इतम् वा कर्म) जो न्याय्य वा विपरीत कर्म (प्र-आ-रभते) प्रारम्भ करता है (तस्य एते पञ्च हेतवः) उसके ये पांच कारण [हैं]।

६३८ 'तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः।१६

'(एवम् सति) ऐसा होने पर [भी] (यः तु) जो तो (अ-कृत-बुद्धित्वात्) अ-संस्कृत बुद्धि से (तत्र) वहां [कर्म के विषय में] (केवलम् आत्मानम् कर्तारम् पश्यति) केवल आत्मा को कर्ता देखता है (सः दुः-मतिः न पश्यति) वह दुर्मति नहीं देखता है।

आत्मा कर्म के हेतुओं में से केवल एक हेतु है। शेष चार हेतुओं के अभाव में आत्मा कर्म करने में सर्वथा असमर्थ रहता है।

६३९ 'यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।१७

'(न यस्य भावः अहम्-कृतः) नहीं [है] जिसका भाव मैं-करनेवाला [मैं ही सब कुछ करनेवाला हूं, जिसकी यह भावना नहीं है], (यस्य बुद्धिः न लिप्यते) जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती है [जिसकी बुद्धि में कर्म का लेप नहीं है] (सः इमान् लोकान् हत्वा अपि) वह इन लोगों को मार कर भी (न हन्ति, न नि-बध्यते) न मारता है, न पापबद्ध होता है।

अहंकाररहित होकर न्याय की रक्षा तथा समाजव्यवस्था के लिए कर्तव्य-बुद्धि से युद्ध तथा शत्रुहनन करना हिंसा नहीं, अहिंसा है।

६४० 'ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः। १८

'(ज्ञानम्) ज्ञान [चेतना], (ज्ञेयम्) ज्ञेय [ब्रह्म, प्रकृति], (परि-ज्ञाता) जाननेवाला [आत्मा]—यह (त्रि-विधा कर्म-चोदना) त्रि-विध कर्म-प्रेरणा [है]। (कर्ता करणम् कर्म) कर्ता [आत्मा], करण [प्रकृति] और कर्म (इति त्रि-विधः कर्म-सम्-ग्रहः) ऐसा त्रि-विध कर्म-सं-ग्रह [है]।

इस त्रित के संयोग से कर्म का सम्पादन होता है।

६४१ 'ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि।१९

'(ज्ञानम् च कर्म च कर्ता) ज्ञान [चेतना] और कर्म [गति, चेष्टा] और कर्ता [आत्मा]—(गुण-भेदतः) गुणों के भेद से (गुण-सम् ख्याने) गुण-गणना में, गुणों की गणना करनेवाले सांख्य-शास्त्र में (त्रि-धा एव प्र-उच्यते) तीन-तीन प्रकार से ही कथन किए गए हैं। (तानि अपि) उन्हें भी (यथा-वत् शृणु) यथा-वत् सुन।

६४२ 'सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ।२०

'(येन) जिस [तत्वज्ञान] के द्वारा [मानव] (वि-भक्तेषु सर्व-भूतेषु) वि-भक्त सब भूतों [पदार्थों और प्राणियों] में (एकम् अ-वि-भक्तम् अ-वि-अयम् भावम् ईक्षते) एक अ-वि-भक्त अ-वि-नाशी सत्ता [ब्रह्म] को देखता है (तत् ज्ञानम् सात्त्विकम् विद्धि) उस ज्ञान को सात्त्विक जान ।

सब पदार्थों और प्राणियों में सर्वव्यापक परमात्मा व्यापक है, यह सब ब्रह्ममय है, इस अनुभूति से युक्त जो ज्ञान है वह सात्त्विक है ।

६४३ 'पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ।२१

'(तु यत् ज्ञानम्) किन्तु जो ज्ञान (सर्वेषु भूतेषु) सब भूतों [प्राणियों और पदार्थों] में (पृथक्-विधान् नाना-भावान् पृथक्त्वेन वेत्ति) पृथक्-विध विभिन्न सत्ताओं को पृथक्त्व के साथ जानता है (तत् ज्ञानम् राजसम् विद्धि) उस ज्ञान को राजस जान ।

यह भावना कि ब्रह्म की सत्ता, सबमें व्यापक न होकर, लोकविशेष में है, राजस ज्ञान का परिणाम है । यह ज्ञान यह तो मानता है कि परमात्मा है पर उसे सबसे पृथक् विशेषदेशीय मानता है । यह ज्ञान विश्व को ब्रह्ममय नहीं मानता है ।

६४४ 'यत् तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत् तामसमुदाहृतम् ।२२

'(यत् तु) जो तो (एकस्मिन् कार्ये) एक कार्य में, एकमात्र सांसारिक कर्म-कलाप में (कृत्स्न-वत्) सम्पूर्ण-वत् (सक्तम्) आसक्त [है] (च) और (अ-हैतुकम्, अ-तत्त्व-अर्थ-वत्, अल्पम्) युक्ति-हीन तत्त्वार्थ-रहित-वत्, अल्प [है] (तत् तामसम् उत्-आ-हृतम्) वह तामस कहा गया है ।

जिस ज्ञान की गति सम्पूर्णतया सांसारिक काम-धन्धों तक ही सीमित है, जिसमें कोई तुक और सार नहीं है, वह ज्ञान तो ज्ञान है ही नहीं । और है भी तो वह अल्प, क्षुद्र तामसी ज्ञान है ।

६४५ 'नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत् तत् सात्त्विकमुच्यते ।२३

'(अ-फल-प्र-ईप्सुना) फलेच्छा से मुक्त [पुरुष] द्वारा (यत् नि-यतम्, सङ्ग-रहितम् कर्म) जो नि-यत [और] अनासक्त कर्म (अ-राग-द्वेषतः) आसक्ति और द्वेष से मुक्त होकर (कृतम्) किया गया [होता है] (तत् सात्त्विकम् उच्यते) वह सात्त्विक कहाता है ।

६४६ 'यत् तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद् राजसमुदाहृतम् ।२४

'(यत् तु बहुल-आ-यासम् कर्म) जो तो बहु-परिश्रमसाध्य कर्म, (पुनः) फिर (काम-ईप्सुना वा स-अहम्-कारेण क्रियते) फल की इच्छा करनेवाले वा अहं-कार करनेवाले के द्वारा किया जाता है (तत् राजसम् उत्-आ-हृतम्) वह राजस कहा गया [है]।

६४७ 'अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत् तत् तामसमुच्यते ।२५

'(यत् कर्म) जो कर्म (अनु-बन्धम्, क्षयम्, हिंसाम् च पौरुषम्) परिणाम, क्षति, हिंसा और बल को (अन्-अव-ईक्ष्य) बिना विचारे (मोहात् आ-रभ्यते) मोहवश आ-रम्भ किया जाता है (तत् तामसम् उच्यते) वह तामस कहाता है।

६४८ 'मुक्तसङ्गो ऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ।२६

'(मुक्त-सङ्गः) आसक्ति-रहित, (अन्-अहम्-वादी) अहंकारयुक्त वचन न बोलनेवाला, (धृति-उत्-साह-सम्-अनु-इतः) धैर्य और उत्साह से युक्त, (सिद्धि-अ-सिद्ध्योः निः-वि-कारः) सिद्धि-अ-सिद्धि में निर्लेप (कर्ता) कर्ता (सात्त्विकः उच्यते) सात्त्विक कहाता है।

६४९ 'रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मको ऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ।२७

'(रागी) आसक्त, (कर्म-फल प्र-ईप्सुः) कर्मों के फलों का इच्छुक, (लुब्धः) लोभी, (हिंसा-आत्मकः) हिंसालु, (अ-शुचिः) मलिन, (हर्ष-शोक-अनु-इतः) हर्ष-शोक से लिप्त (कर्ता) कर्ता (राजसः परि-कीर्तितः) राजस कहा गया है।

६५० 'अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिको ऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ।२८

'(अ-युक्तः) चंचल, (प्राकृतः) गंवार, (स्तब्धः) हठी, (शठः) धूर्त, (नैष्कृतिकः) दूसरों की आजीविका नष्ट करनेवाला, (अलसः) आलसी, (वि-सादी) शोक-स्वभाव (च) और (दीर्घ-सूत्री) कार्य का अनावश्यक फैलाव करनेवाला, धीमा, सुस्त (कर्ता) कर्ता (तामसः उच्यते) तामस कहाता है।

६५१ 'बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ।२९

'(धनम्-जय) संग्राम-जय [अर्जुन]! (गुणतः) गुणों के कारण [होनेवाले] (बुद्धेः च धृतेः त्रि-विधम् प्र-उच्यमानम् भेदम् एव) बुद्धि और धारणा के

तीन प्रकार के, कहे जारहे भेद को भी (पृथक्त्वेन) विभागपूर्वक, क्रमशः (अ-शेषेण) पूर्णता के साथ (शृणु) सुन।

६५२ 'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी।३०

'(पार्थ) पृथा-पुत्र [अर्जुन] ! (या बुद्धिः) जो बुद्धि (प्र-वृत्तिम् च नि-वृत्तिम् च) प्र-वृत्ति और नि-वृत्ति को, (कार्य-अ-कार्ये) कर्तव्य-अ-कर्तव्य को, (भय-अ-भये) भय-अ-भय को, (बन्धम् च मोक्षम्) बन्ध और मोक्ष को (वेत्ति) जानती है (सा सात्त्विकी) वह सात्त्विकी [है]।

६५३ 'यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी।३१

'(पार्थ) पृथा-पुत्र [अर्जुन] ! (यया) जिस [बुद्धि] से [कर्ता] (धर्मम् च अ-धर्मम्) धर्म और अ-धर्म को (च) तथा (कार्यम् च अ-कार्यम् एव) कर्तव्य को और अ-कर्तव्य को भी (अ-यथा-वत्) अ-यथार्थ-तया [ग़लत] (प्र-जानाति) समझता है (सा बुद्धिः राजसी) वह बुद्धि राजसी [है]।

६५४ 'अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी।३२

'(पार्थ) पृथा-पुत्र [अर्जुन] ! (तमसा आ-वृता या) तमोगुण से आच्छन्न जो [बुद्धि] (अ-धर्मम् धर्मम्, च सर्व-अर्थान् वि-परि-इतान्) अ-धर्म को धर्म, और सब प्रयोजनों को उलटा (मन्यते) मानती है (सा बुद्धिः तामसी) वह बुद्धि तामसी [है], (इति) ऐसा [जान]।

६५५ 'धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी।३३

'(पार्थ) पृथा-पुत्र [अर्जुन] ! [मानव] (योगेन) योग के द्वारा (यया अ-वि-अभि-चारिण्या धृत्या) जिस नैष्ठिकी धारणा से (मनः-प्राण-इन्द्रिय-क्रियाः) मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को (धारयते) धारण करता है (सा धृतिः सात्त्विकी) वह धारणा सात्त्विकी [है]।

६५६ 'यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी।३४

'(अर्जुन) अर्जुन ! (पार्थ) पृथा के पुत्र ! (फल-आ-काङ्क्षी) फल की कामना करनेवाला [मानव] (प्र-सङ्गेन) आसक्ति के साथ (यया धृत्या तु) जिस धारणा—भावना से तो (धर्म-काम-अर्थान्) धर्म, काम और अर्थों को (धारयते) धारण करता है (सा धृतिः राजसी) वह धारणा राजसी [है]

६५७ 'यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ।३५

'(पार्थ) पृथा-पुत्र [अर्जुन] ! (दुः-मेधाः) कु-मति से युक्त [मानव] (यया) जिस [धारणा] के द्वारा (स्वप्नम्, भयम्, शोकम्, वि-सादम् च मदम्) स्वप्न [आलस्य], भय, शोक, वि-षाद और मद को (न एव वि-मुञ्चति) नहीं ही त्याग पाता है (सा धृतिः तामसी) वह धारणा तामसी [है] ।

६५८ 'सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद् रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ।३६

'(भरत-ऋषभ) भरत-श्रेष्ठ [अर्जुन] ! (इदानीम् मे शृणु) अब मुझसे सुन कि (सुखम् तु त्रि-विधम्) सुख तो तीन प्रकार का [है], [मानव] (यत्र) जहां, जिसमें (अभ्यासात्) स्वभाव से (रमते) रमता है (च) और (दुःख-अन्तम्) दुःखों के अन्त को (नि-गच्छति) प्राप्त [करने का यत्न] करता है ।

६५९ 'यत् तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत् सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ।३७

'(तत्) वह (यत्) जो (अग्रे विषम्-इव) पहले विष के समान और (परि-नामे) परि-णाम में (अ-मृत-उप-मम्, आत्म-बुद्धि-प्र-साद-जम्) अ-मृत के समान [रुचिकर] तथा आत्म-विवेक के प्र-साद से उत्पन्न [हो] (तत् सुखम् सात्त्विकम् प्र-उक्तम्) वह सुख सात्त्विक कहा गया [है] ।

६६० 'विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत् तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत् सुखं राजसं स्मृतम् ।३८

'(तत्) वह (यत्) जो (वि-षय-इन्द्रिय-सम्-योगात्) वि-षय और इन्द्रियों के सं-योग से (अग्रे अ-मृत-उप-मम्) पहले अ-मृत के समान [रुचिकर] [और] (परि-नामे विषम्-इव) परि-णाम में विष के समान [घातक] हो (तत् सुखम् राजसम् स्मृतम्) वह सुख राजस कहा गया [है] ।

६६१ 'यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत् तामसमुदाहृतम् ।३९

'(यत्) जो (अग्रे च अनु-बन्धे च) आदि में और परिणाम में (आत्मनः मोहनम्) आत्मा को मोहनेवाला [तथा] (निद्रा आलस्य-प्र-माद-उत्थम्) निद्रा, आलस्य और प्र-माद से उत्पन्न [है] (तत् सुखम् तामसम् उत्-आ-हृतम्) वह सुख तामस कहा गया [है] ।

६६२ 'न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः ।४०

'(पुनः) फिर (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (वा दिवि) वा आकाश में (वा देवेषु)

वा [प्राकृत] देवों में (तत् सत्त्वम् न अस्ति) वह सत्त्व नहीं है (यत्) जो (एभिः प्र-कृति-जैः त्रिभिः गुणैः) इन प्र-कृति-जन्य तीन गुणों से (मुक्तम्) मुक्त (स्यात्) हो।

६६३ 'ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ।४१

'(परम्-तप) परम तपस्वी [अर्जुन]! (ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशाम् च शूद्राणाम् कर्माणि) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के कर्म (स्व-भाव-प्र-भवैः गुणैः) स्व-भाव से उत्पन्न गुणों से (प्र-वि-भक्तानि) वि-भक्त किए गए [हैं]।

६६४ 'शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ।४२

'(शमः) शमन, (दमः) दमन, (तपः) तप, (शौचम्) पवित्रता, (क्षान्तिः) क्षमा, (आर्जवम्) सरलता, (ज्ञानम्) ज्ञान, (वि-ज्ञानम्) वि-ज्ञान (च आस्तिक्यम्) और आस्तिकता (एव) ही (ब्रह्म-कर्म स्व-भाव-जम्) ब्राह्मण का स्व-भाव-जन्य कर्म [है]।

६६५ 'शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ।४३

'(शौर्यम्) वीरता, (तेजः) तेज, (धृतिः) धैर्य, (दाक्ष्यम्) दक्षता (अपि च युद्धे अ-पलायनम्) अपि च युद्ध में अ-पलायन, (दानम्) दान, (च ईश्वर-भावः) और ईश्वर-भाव [स्वामित्व की भावना] (क्षात्रम् स्व-भाव-जम् कर्म) क्षत्रिय का स्व-भाव-जन्य कर्म [है]।

६६६ 'कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ।४४

'(कृषि-गौ-रक्ष्य-वाणिज्यम्) खेती, गो-पालन और वाणिज्य (स्व-भाव-जम् वैश्य-कर्म) स्व-भाव-जन्य वैश्यकर्म [है]। (शूद्रस्य अपि) शूद्र का भी (स्व-भाव-जम् कर्म) स्व-भाव-जन्य कर्म (परि-चर्या-आत्मकम्) सेवात्मक [है]।

६६७ 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ।४५

'(स्वे स्वे कर्मणि अभि-रतः नरः) अपने अपने कर्म में नि-रत मानव (सम्-सिद्धिम् लभते) सं-सिद्धि प्राप्त करता है। (स्व-कर्म-नि-रतः यथा सिद्धिम् विन्दति) स्व-कर्म में नि-रत [मानव] जिस प्रकार सिद्धि प्राप्त करता है (तत् शृणु) वह सुन।

६६८ 'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।४६

'(यतः भूतानाम् प्र-वृत्तिः) जिस[के न्याय-नियम]से [पंच]भूतों की प्र-वृत्ति [रचना, स्थिति, प्रलय] [होती है], (येन इदम् सर्वम् ततम्) जिससे यह सब विस्तृत [है] (तम्) उस[परमेश्वर]को (स्व-कर्मणा अभि-अर्च्य) अपने कर्म से अर्च [पूज] कर (मानवः सिद्धिम् विन्दति) मानव सिद्धि प्राप्त करता है।

कर्म भी उपासना है, यदि वह निष्ठापूर्वक किया जाए और प्रभु की सेवा जानकर किया जाए।

६६९ श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ।४७

'(सु-अनु-स्थितात् पर-धर्मात्) सु-अनु-ष्ठित अन्य के कर्म से (वि-गुणः स्व-धर्मः) गुण-रहित अपना कर्म (श्रेयान्) कहीं अच्छा [है]। (स्व-भाव-नि-यतम् कर्म कुर्वन्) स्व-भाव से नि-यत कर्म करता हुआ [मानव] (किल्बिषम् न आप्नोति) अपराध को प्राप्त नहीं होता, अपराधी नहीं बनता है।

६७० 'सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ।४८

'(कौन्तेय) कुन्ती-पुत्र [अर्जुन] ! (स-दोषम् अपि) दोषयुक्त [होने पर] भी [मनुष्य] (सह-जम् कर्म न त्यजेत्) स्वभाव-जन्य कर्म न त्यागे। (धूमेन अग्निः-इव) धुएं से अग्नि के समान (सर्व-आ-रम्भाः हि) सब ही कर्म (दोषेण आ-वृताः) दोष से आ-वृत [हैं]।

६७१ 'असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ।४९

'(सर्वत्र) सब जगह, सब प्रसंगों में (अ-सक्त-बुद्धिः) अनासक्त मति रखनेवाला [और] (वि-गत-स्पृहः) राग-रहित (जित-आत्मा) आत्मसंयमी [व्यक्ति] (सम्-नि-आसेन) सम्यक् त्यागवृत्ति [के आश्रय] से (परमाम् नैष्कर्म्य-सिद्धिम् अधि-गच्छति) परमा निष्कामता-सिद्धि को प्राप्त होता है।

पूर्व-श्लोकानुसार चारों वर्णों के सभी कार्य दोष से आवृत हैं किन्तु किसी भी वर्ण का कोई भी व्यक्ति यदि अपने कर्तव्यों का निर्वहन आत्मजित् रहता हुआ, अनासक्तमति और रागरहित होकर करता है, तो उसे निष्कामता की सिद्धि प्राप्त होती है।

६७२ 'सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ।५०

'(कौन्तेय) कुन्ती-पुत्र [अर्जुन] ! [निष्कामता की] (सिद्धिम् प्र-आप्तः) सिद्धि को प्राप्त [पुरुष] (ब्रह्म) ब्रह्म को (तथा) और (या ज्ञानस्य परा नि-स्था) जो ज्ञान की परा निष्ठा [है] [उसे] (यथा आप्नोति) जिस प्रकार प्राप्त करता

है वह (एव) भी (सम्-आसेन) सं-क्षेप से (मे नि-बोध) मुझसे समझ।

६७३ 'बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ।५१

६७४ 'विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ।५२

६७५ 'अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ।५३

'(वि-शुद्धया बुद्ध्या युक्तः) वि-शुद्ध बुद्धि से युक्त, (वि-विक्त-सेवी) एकान्त-सेवी, (लघु-आशी) अल्पाहारी, (यत-वाक्-काय-मानसः) वाणी-शरीर-मन पर संयम रखनेवाला, (वैराग्यम् सम्-उप-आ-श्रितः) वैराग्य को सम्यक् [पूरी तरह] उपाश्रित, (नित्यम् ध्यान-योग-परः) नित्य ध्यान-योग-परायण, (निः-समः) ममता-रहित, (शान्तः) शान्त [योगी] (धृत्या) धारणा के द्वारा १) (आत्मा-नम् नि-यम्य) आत्मा को नि-यन्त्रित [वश में] करके, २) (च शब्द-आदीन् वि-षयान् त्यक्त्वा) और शब्दादि वि-षयों को त्यागकर, शाब्दिक मायाजालों को छोड़कर, ३) (च राग-द्वेषौ वि-उद्-अस्य) और राग-द्वेष को नष्ट करके, ४) (अहम्-कारम्) अहं-कार, (बलम्) उग्रता, (दर्पम्) अभिमान, (कामम्) काम, (क्रोधम्) क्रोध, (परि-ग्रहम्) सं-ग्रह को (वि-मुच्य) त्यागकर, (ब्रह्म-भूयाय) ब्रह्म-भूयार्थ, ब्राह्मीस्थिति-प्राप्त्यर्थ, कैवल्यार्थ (कल्पते) समर्थ होता है।

६७६ 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ।५४

'(ब्रह्म-भूतः प्र-सन्न-आत्मा) ब्रह्म[लीन] हुआ प्र-सन्न-आत्मा, प्रसन्न रहनेवाला [योगी] १) (न शोचति, न काङ्क्षति) न शोक करता है, न आकांक्षा करता है, २) [और वह] (सर्वेषु भूतेषु समः) सब भूतों में सम [भाव को प्राप्त] रहता हुआ (पराम् मत्-भक्तिम्) मेरी परा भक्ति को (लभते) लाभ करता है।

सर्वेषु भूतेषु शब्दों का प्रयोग यहां सब भौतिक वस्तुओं तथा सब प्राणियों के लिए हुआ है।

सुखद प्रसंगों में तो योगी-अयोगी, सभी प्रसन्न रहते हैं। किन्तु ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा योगी दुःखद प्रसंगों में भी उतना ही प्रसन्न रहता है जितना सुखदों में।

ब्रह्मभूत योगी की अपने लिए कोई कुछ भी आकांक्षा नहीं होती। अभौतिक में लीन होकर वह भौतिक से उदासीन [उत्-आसीन] हो जाता है।
जब जान लिया उसको, पहचान लिया उसको।
फिर किस पै यह ... और किसकी जिज्ञासा चाहे।

सभी भूतों में ब्रह्ममयता की प्रतीति से ब्रह्मभूत योगी सभी भौतिक वस्तुओं और प्राणियों में समभाव को प्राप्त रहता है। हर वस्तु में उसे ब्रह्म का कमाल और हर रूप में उसे ब्रह्म का सौन्दर्य दिखाई पड़ता है।

ऐसा ही योगी ब्रह्म की परा भक्ति से युक्त रहता है। केवल ब्रह्म से अनुराग होना परा भक्ति है। मायालीन रहते हुए प्रभुभक्ति करना अपरा भक्ति है।

६७७ **'भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।**
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।५५

'[योगी] (भक्त्या) [परा] भक्ति के द्वारा (माम्) मुझे (तत्त्वतः) तत्त्वतः (अभि-जानाति) जान लेता है, (यावान् च यः अस्मि) जितना और जो हूं। (ततः) उस [परा भक्ति] से (माम् तत्त्वतः ज्ञात्वा) मुझे तत्त्वतः जानकर (तत्-अन्-अन्तरम्) तदनन्तर [मुझमें] (विशते) प्रवेश करता, लीन रहता है।

ब्रह्म अनन्त, असीम, अपार और निर्विकार है। भक्त उसको वैसा ही जानता है। ब्रह्म को तत्त्वतः जान लेने पर भक्त सदा ही सर्वात्मना ब्रह्म में लीन रहता है।

६७८ **'सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।**
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।५६

'(सर्व-कर्माणि सदा कुर्वाणः अपि) सब कर्मों को सदा करता हुआ भी (मत् वि-अप-आ-श्रयः) मत्परायण [योगी] (मत्-प्र-सादात्) मेरे प्र-साद से (शाश्वतम् अ-वि-अयम् पदम्) सनातन अ-वि-नाशी पद को (अव-आप्नोति) प्राप्त करता है।

ब्रह्मपरायण योगी सदैव कर्तव्य कर्मों का निर्वहन करता हुआ भी अविनाशी ब्राह्मी स्थिति को सतत प्राप्त रहता है।

६७९ **'चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।**
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ।५७

'[अर्जुन!] तू (चेतसा) विवेक से (सर्व-कर्माणि मयि सम्-नि-अस्य) सब कर्मों को मुझमें अर्पण करके (मत्-परः) मत्परायण हुआ तू (बुद्धि-योगम् उप-आ-श्रित्य) [समत्व] बुद्धि-योग को आश्रय करके (स-ततम् मत्-चित्तः भव) निरन्तर मत्-चित्त रह।

पराभक्तिसिद्ध योगी सब कर्मों को ब्रह्मादेश मानकर करता है और स्वकृत समस्त कर्मों को ब्रह्मार्पण कर देता है। ब्रह्मपरायण रहता हुआ वह समत्व की भावना से भावित रहता है और अपने चित्त को सतत ब्रह्मनिरत रखता है। 'अर्जुन! तू इसी भावना से ब्रह्मपरायण होकर क्षात्र धर्म का पालन कर।'

६८० 'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि ।
अथ चेत् त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ।५८

'[अर्जुन] ! तू (मत्-चित्तः) मत्-चित्त, ब्रह्मलीन रहता हुआ (मत्-प्र-सादात्) मेरे प्र-साद से, ब्रह्म की कृपा से (सर्व-दुर्गाणि) सब कठिनाइयों को (तरिष्यसि) तरेगा, पार करेगा। (अथ चेत्) अब यदि (त्वम् अहम्-कारात् न श्रोष्यसि) तू अहं-कार से न सुनेगा [मेरी बात न मानेगा तो तू] (वि-नङ्क्ष्यसि) विनष्ट, भ्रष्ट होजाएगा।

६८१ 'यदहङ्कारमाश्रित्य 'न योत्स्य' इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ।५९

'('न योत्स्ये) युद्ध नहीं करूंगा', तू (अहम्-कारम् आ-श्रित्य यत् इति मन्यसे) अहं-कार को आश्रय करके जो ऐसा मानता है (एषः ते मिथ्या वि अव-सायः) यह तेरा मिथ्या निर्णय [है]। [तेरी] (प्र-कृतिः) प्र-कृति (त्वाम् नि-योक्ष्यति) तुझे नि-युक्त करेगी, [तेरी अपनी प्रकृति ही अन्ततः] तुझे युद्धप्रवृत्त करेगी।

६८२ 'स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ।६०

'(कौन्तेय) कुन्ती-पुत्र [अर्जुन] ! (यत्) जिस [युद्ध] को तू (मोहात् कर्तुम् न इच्छसि) मोह से करना नहीं चाहता है (तत् अपि) उसे ही तू (स्वेन स्व-भाव-जेन कर्मणा नि-बद्धः) अपने स्व-भाव-जन्य कर्म से बंधा हुआ (अ-वशः) वि-वश, मजबूर [होकर] (करिष्यसि) करेगा।

६८३ 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।६१

६८४ 'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।६२

'(ईश्-वरः) परमात्मा (यन्त्र-आ-रूढानि सर्व-भूतानि) यन्त्रारूढ़ सब प्राणियों को (मायया) नियामकता से (भ्रामयन्) घुमाता हुआ (सर्व-भूतानाम् हृद्-देशे तिष्ठति) सब प्राणियों के हृदयाकाश में स्थित है। (भारत) भरतवंशी [अर्जुन] ! (सर्व-भावेन) सर्वात्मना (तम् एव शरणम् गच्छ) उसको/की ही शरण को प्राप्त हो/रह। (तत्-प्र-सादात्) उसके प्र-साद से तू (पराम् शान्तिम्) परा शान्ति को [तथा] (शाश्वतम् स्थानम्) शाश्वत धाम को (प्र-आप्स्यसि) प्राप्त करेगा।

६८५ 'इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ।६३

'(इति) इतना ऐसा [यह] (गुह्यात् गुह्य-तरम् ज्ञानम्) गोपनीय से

गोपनीय-तर ज्ञान (मया ते आ-ख्यातम्) मेरे द्वारा तेरे प्रति कहा गया। (एतत्) इसे (अ-शेषेण वि-मृश्य) पूर्णतया विचार कर तू (यथा इच्छसि तथा कुरु) जैसा चाहता है वैसा कर।

६८६ 'सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टो ऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।६४

'(मे सर्व गुह्य-तमम्, परमम् वचः) मेरे सर्वातिशय गोपनीय, परम वचन को (भूयः शृणु) फिर सुन। तू (मे दृढम् इष्टः असि) मेरा घनिष्ट चहेता—प्रिय है। (ततः इति हितम् ते वक्ष्यामि) उस कारण ऐसा हितकर [वचन] तेरे प्रति कहूंगा।

६८७ 'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियो ऽसि मे।६५

'तू (भव) हो (मत्-मना) मुझसे मन लगानेवाला, (मत्-भक्तः) मुझसे भक्तियुक्त, (मत्-याजी) मुझसे संगत। (माम् नमः कुरु) मुझे नमन कर। ऐसा करने से तू (माम् एव एष्यसि) मुझे ही प्राप्त होगा, मेरी जैसी ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त होगा। [यह] मैं (ते सत्यम् प्रति-जाने) तेरे प्रति सत्य प्रति-ज्ञा करता हूं [क्यों कि] तू (मे प्रियः असि) मेरा प्रिय है।

यहां कृष्ण ब्राह्मी स्थिति में ब्रह्मवत् बोल रहे हैं और अर्जुन को विश्वास दिला रहे हैं कि ब्रह्मार्पित होकर धर्म की रक्षार्थ युद्ध करने से उसका अवश्य योगक्षेम होगा।

६८८ 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।६६

'(सर्व-धर्मान् परि-त्यज्य) सब कर्माश्रयों को त्यागकर (माम् एकम् शरणम् व्रज) मुझ एक को/की शरण को प्राप्त हो। (अहम् त्वाम् सर्व-पापेभ्यः मोक्षयिष्यामि) मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूंगा। तू (मा शुचः) शोक न कर।

सब आश्रयों को त्यागकर जब मानव एक ब्रह्म की शरण को अंगीकार करके धर्मयुद्ध करता है तो वह निष्पाप ही रहता है।

६८९ 'इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदा चन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां यो ऽभ्यसूयति।६७

'(ते) तेरे प्रति कहे गए (इदम्) इस [रहस्यमय गीतोपदेश] को (कदा चन न वाच्यम् अ-तपः-काय) कदापि न कहना चाहिए अ-तपस्वी के प्रति (च न अ-भक्ताय) और न अ-भक्त—नास्तिक के प्रति (च न अ-शुश्रूषवे) और न सुनने की इच्छा न रखने वाले के प्रति, (न) उसके प्रति (यः माम् अभि-

असूयति) जो मुझे सर्वतः निन्दता है[; क्यों कि ऐसे जन उस रहस्यमय गीतोपदेश के योग्य पात्र नहीं हैं]।

६६० 'य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः।६८

'(यः मयि पराम् भक्तिम् कृत्वा) जो मुझमें परम भक्ति [सम्पादन] करके (इमम् परमम् गुह्यम्) इस परम रहस्यमय [*गीतोपदेश*] को (मत्-भक्तेषु) मेरे प्रेमियों में (अभि-धास्यति) उपदेशेगा [वह,] (अ-सम्-शयः) निस्सन्देह, (माम् एव एष्यति) मुझे ही प्राप्त होगा, मेरी जैसी ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त होगा।

६६१ 'न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि।६९

'(च) और (तस्मात्) उस [पूर्व-श्लोकानुसार *गीतोपदेष्टा*] से बढ़कर (मे प्रिय-कृत्-तमः) मेरा अतिशय प्रिय [कर्म] करनेवाला (मनुष्येषु) मनुष्यों में (कः चित् न) कोई भी नहीं [है]। (च न) और न (तस्मात्) उससे बढ़कर (मे प्रिय-तरः) मेरा प्रिय-तर (भुवि अन्यः भविता) भूमि पर दूसरा होगा।

६६२ 'अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः।७०

'(च) और (यः) जो (आवयोः इमम् धर्म्यम् सम-वादम्) हम दोनों के इस धार्मिक सं-वाद को (अधि एष्यते) अध्ययन करेगा (तेन अहम् ज्ञान-यज्ञेन इष्टः स्याम्) उसके द्वारा मैं ज्ञान-यज्ञ से पूजित—समादृत हूंगा, (इति मे मतिः) ऐसी मेरी मान्यता [है]।

ज्ञानी के ज्ञान का अध्ययन ही ज्ञानी का वास्तविक पूजन है।

६६३ 'श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सो ऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम्।७१

'(यः नरः श्रत्-धावान् च अन्-असूयः) जो मानव श्रद्धोपेत और निन्दा-रहित [होकर] (शृणुयात् अपि) सुने भी, श्रवणमात्र भी करे [तो] (सः अपि मुक्तः) वह भी [माया से] मुक्त [होकर] (पुण्य-कर्मणाम् शुभान् लोकान्) पुण्य-कर्माओं के शुभ लोकों को (प्र-आप्नुयात्) प्राप्त करे।

श्रद्धापूर्वक सुनने से ही मनुष्य तदनुसार आचरण तथा अभ्यास करता है और, परिणामस्वरूप, पुण्य का भागी होता है।

६६४ 'कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय।७२

'(पार्थ) पृथा-पुत्र [अर्जुन] ! (कत् चित् त्वया एतत् एक-अग्रेण चेतसा श्रुतम्) क्या तेरे द्वारा यह [गीतोपदेश] एकाग्र चित्त से सुना गया [है] ? (धनम्-जय) धन-जयी ! (कत् चित् ते अ-ज्ञान-सम्-मोहः) क्या तेरा अ-ज्ञान से उत्पन्न सम्मोह (प्र-नष्टः) नष्ट हो गया ?'

अर्जुन उवाच

६९५ 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ।' ७३

अर्जुन बोला, '(अ-च्युत) अ-कम्प [कृष्ण] ! (त्वत्-प्र-सादात्) तेरे प्र-साद से (मोहः नष्टः) मोह नष्ट हो गया, (मया) मेरे द्वारा (स्मृतिः लब्धा) [आत्म-] स्मृति-लाभ हुआ । मैं [अब] (गत-सम्-देहः) सं-शय-रहित [होकर] (स्थितः अस्मि) [आत्म-अव]स्थित हूं । (तव वचनम् करिष्ये) तेरा वचन पूरा करूंगा ।'

सञ्जय उवाच

६९६ 'इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् । ७४

संजय ने [धृतराष्ट्र से] कहा, '(वासुदेवस्य च महा-आत्मनः पार्थस्य) कृष्ण और महात्मा अर्जुन के (इमम् अद्भुतम् रोम-हर्षणम् सम्-वादम्) इस अद्भुत, रोमाञ्चकारी सं-वाद को (इति अहम् अश्रौषम्) इस प्रकार मैंने सुना ।

६९७ 'व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात् कथयतः स्वयम् ।७५

'(वि-आस-प्र-सादात्) व्यास के प्र-साद से, व्यास [द्वारा प्रदत्त दिव्य-श्रुति] की विभूति [के आश्रय] से (अहम्) मैंने (एतत् परम् गुह्यम् योगम्) इस पर, गोपनीय योग को (स्वयम् योग-ईश्वरात् कृष्णात्) स्वयं योगेश्वर कृष्ण से (साक्षात् कथयतः श्रुतवान्) साक्षात् कहते हुए सुना [है] ।

६९८ 'राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ।७६

'(राजन्) राजन् ! (केशव-अर्जुनयोः) कृष्ण और अर्जुन के (इमम् अद्भुतम् च पुण्यम् सम्-वादम्) इस अद्भुत और शुभ सं-वाद को (सम्-स्मृत्य सम्-स्मृत्य) बार बार याद करके (मुहुः मुहुः हृष्यामि) बार बार हर्षित होता हूं ।

६९९ 'तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतम् हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ।७७

'(च) और (राजन्) राजन् ! (हरेः) हरि के (तत् अति-अद्भुतम् रूपम्) उस अति-आश्चर्यकर रूप को (सम्-स्मृत्य सम्-स्मृत्य) बार बार स्मरण करके

(मे महान् वि-स्मयः) मुझे बड़ा आश्चर्य [हो रहा है] (च) और [मैं] (पुनः पुनः हृष्यामि) पुनः पुनः हर्षित होता हूं।

७०० 'यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।'७८

'(यत्र योग-ईश्वरः कृष्णः) जहां योगेश्वर कृष्ण [है], (यत्र धनुः-धरः पार्थः) जहां धनुषधारी अर्जुन [है] (तत्र) वहां (श्रीः, विजयः, भूतिः, ध्रुवा नीतिः) श्री, विजय, विभूति, ध्रुव नीति [है], ऐसी (मम मतिः) मेरी मान्यता है।'

जहां कृष्ण जैसा उपदेष्टा और अर्जुन जैसा श्रोता होगा वहीं श्री, विजय, विभूति और ध्रुव नीति होगी। *गीता* की कथा करनेवाला हो कृष्ण के समान पूर्ण पुरुष और श्रोता हो अर्जुन के समान अदम्य वीर, वहीं पूर्ण विजय सम्पादित होती है।

पाठक से

वेद-संस्थान इस पुस्तक की विषयवस्तु, लेखनशैली और आकार-प्रकार के बारे में आपके विचारों के लिए आभारी होगा। अन्य कोई सुझाव आप देना चाहें तो उन्हें जानकर भी हमें प्रसन्नता होगी। हमारा पता है: वावू मोहल्ला, व्यावर रोड, अजमेर, भारत

श्रीमद्भगवद्गीता के पद्यों की अकारादि-सूची

वेद-संस्थान का मासिक

सविता

प्रकाशन के ३१ वें वर्ष में

- मस्तिष्क और हृदय की उदारता का प्रतिपादक पत्र, जो विश्वमानव को विश्वधर्म—वेद का शाश्वत संदेश देता है।
- प्रत्येक अंक पुस्तक के समान, स्थायी मूल्य की सामग्री से ठसाठस भरा हुआ, जिसमें एक शब्द भी भरती का नहीं होता।
- वेदों को सर्वसाधारण की पहुंच में लानेवाला एकमात्र पत्र, जिसकी विशेषता है वेदमन्त्रों की सरल, जीवनोपयोगी, रोचक व्याख्याएं।
- वेद के विद्वानों के लिए गवेषणात्मक लेखों से, तथा जनसामान्य के लिए वेदपरिचायक एवं वेदव्याख्यापरक, सुबोध लेखों से युक्त।
- विविध सांस्कृतिक विषयों पर विद्वानों के अभिनव लेख।
- अथर्ववेद का अध्ययन, इस्लाम की प्रतिष्ठा, ऋग्वेद का अध्ययन, परम पुरुष का संदर्शन, योग-विज्ञान, शिशु-शिक्षा आदि स्थायी स्तम्भों से समलंकृत।

एक-एक शब्द पठनीय, मननीय, आचरणीय
एक-एक तरंग मानव को ऊंचा उठानेवाली
एक-एक प्रेरणा जीवन को आगे ले जाने वाली
एक-एक चेतावनी मानव के मानस को चेतानेवाली

पृष्ठ सं. २० × ३०/८ = २०। अतिशुद्ध, कलात्मक मुद्रण।
वार्षिक मूल्य : ६ रु; एक प्रति : ५० पैसे। नमूना निःशुल्क।
मान्यता : डॉयरेक्टर ऑव् एजूकेशन, हिमाचल प्रदेश (शिमला-१) द्वारा हिमाचल प्रदेश के हाई/हायर सैकंडरी स्कूलों के लिये स्वीकृत [सं० ६-१/७१-एजू (डब्ल्यू) २० दिसम्बर, १९७१ के अनुसार]।